बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी में इतिहास विषय
की पी० एच० डी० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

भारतीय कला में लौकिक रूपाकृतियां
(वैदिक काल से गुप्तकाल, ६५० ए० डी०, तक)

शोध निदेशक :
डा० आई० एस० सक्सैना
व्याख्याता (अवकाश प्राप्त)
दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उरई

शोध छात्रा :
ऋतु सिंह
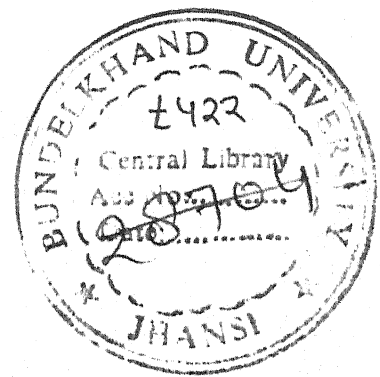
सन्- १९९६

Prof. I. S. Saxena
(Retd.)
Reader History Dept.
D.V. (Post Graduate) College
ORAI

Code : 0516
Phone : PP/2774
733, RAM NAGAR
(Opp. Congress Office
to wards Sanatan Inter College)
O R A I (285 001)
Distt. Jalaun (U. P.)
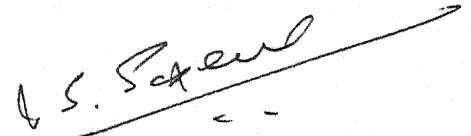
Date ....

This is to certify that Ritu Singh, a candidate for the Ph.D. Degree in History of the Bundelkhand University, Jhansi, has carried out the Research work at Dayanand Vedic (Post Graguate) College, Orai under my guidance & supervision on "Secular Portraiture in Indian Art (from Vedic age to Gupta age i.e. 650 A.D.)" It embodies the original work of the candidate herself.

The candidate has put in the required period of attendence while working for her Ph.D. degree.

Dated: 16.6.96.

I. S. Saxena

(I.S. SAXENA)
Supervisor

भूमिका

ऐरावत समारूढ़, नानामणि विभूषितम्
चतुः षष्टिकलाविद्या निपुणं वदनोज्जवलं
भुजद्वये सुगर्भा च अपरे मानधारकम्
बंदे विष्णुमहातेजो विश्वकर्मन नमोस्तुते ।

कला मानव संस्कृति की उपज है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुयी और उसके द्वारा वह आत्म चैतन्य और आत्मगौरव प्राप्त करता है। कला का उद्गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से हुआ है। सौन्दर्य की अभिरूचि मनुष्य की अनुकरण प्रवृत्ति द्वारा प्रमाणित होती है। मानव की सर्वोपरि चेतना प्रकृति के अनुकरण में निहित है। भारतीय कला में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष तथा सत्य की अपेक्षा कल्पना को ही अधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि कल्पना के द्वारा मनुष्य में नवचैतन्य का जन्म होता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की भावनाओं व विचारों का प्रत्यक्षीकरण कला के द्वारा हो जाता है। प्रत्येक प्रकार की कलात्मक प्रक्रिया का ध्येय है- सौन्दर्य तथा आनन्द की अभिव्यक्ति।

किसी देश की कला एक व्यक्ति विशेष के उत्साह का फल नहीं है, बल्कि कलाकारों की शताब्दियों की मनोरम कल्पना का परिणाम है तथा आन्तरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है। कलाकृतियाँ समानरूप से समाज के सभी अंगों को प्रभावित करती है। भारतीय कला दर्शन पर विचार करने के पश्चात् शिल्प को "मूल-काव्य" कहना सर्वथा उचित होगा।

भारतीय कला का विस्तार ऋग्वेद के समय से ही हुआ, अतएव शिल्पियों की परम्परा वैदिक युग से मानते हैं। इसमें अधिकांश मात्रा में कला धर्म से सम्बन्धित है। यदि कलात्मक उदाहरणों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाये, तो कला की लोक मंगल कामना और उसके स्थायी भाव का गुण सर्वत्र प्रतिध्वनित होता है। इस कारण समाज में शिल्पशिक्षा के निमित श्रेणियाँ कार्य करती रही। तात्पर्य यह है कि मानव जीवन में कला का महत्वपूर्ण स्थान रहा तथा शिल्पी कल्पना के सहारे समाज को अपरिमित सुख पहुँचाते रहे।

प्राचीन भारतीय साहित्य और कला में विविध प्रकार के रूप–विधान मिलते हैं। वैदिक युग से लेकर प्राचीन काल के अन्त तक साहित्य, पुरालेखों, मुद्राओं तथा मूर्तिकला और चित्रकला में रूप–विधान प्रचुर संख्या में उपलब्ध है। भारतीय कला के विकास का मूल हेतु यही था कि इसका स्रोत और प्रेरणा धार्मिक एवं भद्रात्मक है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म की शक्ति के रूप में अनेक देवता और भौतिक जगत के पदार्थों का अनेक प्रकार से उल्लेख आता है। वे लोक और मानव के लिये मंगलात्मक है और जो उसके विपरीत है वे अभद्र या अमंगलकाय है। वैदिक काल में इस प्रकार के अनेक भद्र रूपों की कल्पना की गई जिनसे द्वारा पृथ्वी का अन्तराल भरा हुआ है। यह कार्य बहुत ही समन्वयात्मक वातावरण में संसिध्द हुआ जैसा विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। कुषाण और गुप्त युग उस द्वार देहली के समान है जिस पर खड़े होकर हम आगे और पीछे के कला रूपों का अध्ययन कर सकते हैं। प्रत्येक प्रतीक के पूर्व और अग्रिम इतिहास को जाने बिना भारतीय कला का मर्म और अर्थ समझना कठिन है। ये प्रतीक उस युग की कला में भरे हुए हैं। विभिन्न कला रूपों को समन्वित करने के लिये यह एक महान प्रयोग था जो संस्कृत युग में या पुराण काल में किया गया। यह एक ऐसा महापात्र था जिसमें सभी लोगों ने आहुति हृदय की पूरी उमंग से अर्पित की।

वैदिक साहित्य में विभिन्न शक्तियों के रूप में देवों की कल्पना की गयी और उनके रूप–विधान निश्चित हुए। चन्द्र, सूर्य, रुद्र, वरूण, विष्णु आदि देवताओं के रोचक वर्णन ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में मिलते हैं। इन रूप–विधानों के आधार पर ऐतिहासिक युग में विभिन्न देवताओं और उनकी शक्ति रूपी नारियों की कल्पना की गयी। वैदिक देव शास्त्र को अनेक पुराणों तथा लौकिक शास्त्रीय ग्रन्थों में सम्बर्द्धित किया गया। जैन और बौद्ध साहित्य में देवों की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया गया। बौद्ध धर्म में बुद्ध और बोधिसत्व के अलावा अनेक देवी देवताओं का विकास होता गया। महायान और वज्रयान में यह विकास मिलता है। जैन धर्म में 24 तीर्थ संकरों, अनेक यक्ष–यक्षियों तथा विद्या देवियों आदि के रूप में निश्चित किये गये।

साहित्य और कला में मूर्तिशास्त्र के उसके पक्ष का प्रतिनिधित्व लौकिक

आकृतियाँ करती है। ये प्रतिमायें शासक वर्ग समाज के सम्भ्रान्त वर्ग, आचार्यो, कृषकों तथा निम्न वर्ग के लोगों की है। राजाओं और रानियों के चित्रण शुंग सात वाहन कला में पर्याप्त रूप में मिले हैं। इसके पश्चात् उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हुई सिक्कों के प्रचलन के साथ–साथ शासकों की छवियाँ मुद्राओं पर उकेरी गयी। समसामयिक होने के कारण उन छवियों का विशेष महत्व के कुषाणों क्षत्रपों तथा गुप्त शासकों की मुद्राओं पर राज वर्ग के अतिरिक्त देवों तथा समाज के कुछ अन्य वर्गों के भी चित्रण उपलब्ध हैं, उनसे तत्कालीन समाज की सामाजिक आर्थिक दशा पर प्रकाश पड़ता है।

गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने एक प्रकार की स्वर्णमुद्रा चलाई जो कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट है। सिक्के पर सम्राट की जो छवि उत्कीर्ण हैं उसके लिए "रूपाकृति" नामक युक्ति संगत शब्द का व्यवहार हुआ है। इस शब्द से यह भी ध्वनित है कि चन्द्र गुप्त की आकृति शोभनीय थी। मूर्तिकला में ऐसी बहुसंख्यक छवियाँ मिली हैं जो समाज के उच्च वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक की है। इनके अध्ययन से विभिन्न वर्ग के स्त्री–पुरूषों की आकृतियों का ज्ञान होता है। साथ ही उनकी वेश–भूषा, आमोद–प्रमोद आदि प्रवृत्तियों की जानकारी भी मिलती है। मूर्तिकला तथा सिक्कों के अलावा प्राचीन चित्रकला में भी लौकिक छवियों का अंकन है। नर्मदा, चम्बल, बेतवा आदि नदियों के तटों पर बहुसंख्यक जन, शिलागृहों में रहते थे। अनेक गुफाओं में उनमें निवास करने वाले लोगों द्वारा निर्मित चित्र सैकड़ों की संख्या में मिले हैं। उन चित्रों से आदिम जनों की आकृतियों का तथा उनके परिवेश और वेश–भूषा का पता चलता है। ऐतिहासिक युग में अजंता, बौद्ध, सित्तनवासल आदि स्थलों में चित्रकला का विकास हुआ। इन चित्रों में देवी–देवताओं के अलावा समाज के विविध वर्गों के लोगों के चित्रण विशेष महत्व के हैं। उनमें शिकारियों, सेवकों तथा अन्य वर्ग के लोगों को दिखलाया गया है।

यूनानियों के बाद शक–कुषाण राजाओं ने भारत के एक भाग पर पर्याप्त समय तक शासन किया। शकों तथा कुषाण राजाओं की विशालकाय मूर्तियाँ मथुरा में भाट नामक स्थान से

तथा अफगानिस्तान में सुर्ख वोतल से मिली है। कुछ समय पहले मध्य एशिया के अनेक स्थलों से भी शक–कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ मिलने से यह प्रमाणित हुआ है कि इन राजाओं ने "देव–पुत्र" की कल्पना को चरितार्थ किया। अनेक कुषाण राजाओं ने देवकुलों की स्थापना कराई, उनमें शिव आदि देवताओं के स्थान पर शासकों की मूर्तियाँ स्थापित होती थीं और उन्हें देवों के समान प्रतिष्ठित किया जाता था। मथुरा से शकराज राजकुल की पत्नी कम्बोजिका की स्लेटी पत्थर की मूर्ति मिली है। इस प्रकार की शासक वर्ग की आकृतियां प्राचीन मुहरों पर भी प्राप्त हुयी है। ये मुहरें अनेक प्रकार के पाषाणों में उत्कीर्ण की गई। इन पाषाणों में गोमेध तथा स्फटिक विशेष उल्लेखनीय है। कतिपय शासकों तथा समाज के अन्य वर्ग के लोगों की आकृतियां धातु, हाथी दाँत तथा मिट्टी की बनी हुइ मुहरों पर भी मिली हैं।

प्रस्तुत विषय भारतीय इतिहास और संस्कृति को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अभी तक इस विषय का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। कुछ विद्वानों ने स्फुट लेखें में विषय के कुछ पक्षों पर लिखा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विषय के महत्व का सम्यक् प्रतिपादन किया जायेगा। साहित्य और कला में लोकाकृतियों का वर्णन तथा अंकन अत्यन्त प्रचुर है। उसका विवेचन समीक्षात्मक ढंग से किया जायेगा। विषय से सम्बन्धित चित्रों को मूर्तिकला, चित्रकला, मुद्रा शास्त्र तथा अन्य कलाओं से चुनकर प्रस्तुत किया जायेगा। इस कार्य से प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के एक विशेष पक्ष पर समुचित प्रकाश पड़ेगा।

भारतीय कला में भारतीय कलाकारों के मस्तिष्क और हस्तकौशल का सर्वोत्तम प्रमाण पाया जाता है। भारतीय कला की सामग्री वैसी ही समृद्ध है, जैसी भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन की। हम भारतीय शिल्प मूर्तियों व चित्रों को देखकर उनमें छिपी हुई मानसिक कल्पना व प्रतिभा का अन्दाजा लगा सकते हैं।

हालांकि भारतीय कला अपना उचित स्थान कुछ देर से प्राप्त कर पाई, लेकिन

उसका सौन्दर्य व अर्थ विद्वानों के मन में पूर्णतया बस गया। भारतीय कला और वास्तु में सम्बन्ध में कई इतिहास ग्रन्थ पहले ही लिखे जा चुके हैं। किन्तु अधिकांश वर्णनात्मक है और उनमें स्थापत्य और वास्तुशिल्प का विचार अलग-अलग किया गया है। भारतीय कला को ऐसे नये इतिहास की आवश्यकता है, जिसमें स्थापत्य व वास्तु दोनों का साथ-साथ अध्ययन किया जाये तथा अवशेषों के भी भीतरी अर्थ पर विचार किया जाय।

प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक युग से सम्बन्धित विशेष कलाओं की ओर ध्यान दिलाया जाय, इसका उद्‌देश्य था कि भारतीय कला के विकास क्रम को समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जा सके।

प्रत्येक युग की विशेषताओं और समस्याओं में भारतीय दृष्टिकोण को प्रधानता दी गई है।

भारतीय इतिहास मूर्धन्य विद्वान, परमश्रद्धेय स्वर्गीय श्री के0डी0 बाजपेयी जी से जब मैंने अपने शोध विषय के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्हें अपने मन्तव्य से अवगत कराया कि मैं भारतीय इतिहास के किसी शीर्षक पर शोधकार्य करना चाहती हूँ, तो उन्होंने मेरी रुचि को ध्यान में रखते हुए आपने मुझे उक्त विषय पर कार्य करने हेतु उत्साहित किया।

शोध समिति ने मेरे विषय व रूपरेखा को संशोधित कर भारतीय कला में रूपाकृतियाँ (वैदिक काल से 650 ए0डी0 गुप्तकाल) पर कार्य करने हेतु आदेशित किया। आदेश पाते ही मैंने श्री सत्य प्रकाश श्रीवास्तव जी के सत परामर्शानुसार श्री आई0एस0 सक्सेना जी के निर्देशन में शोध कार्य प्रारम्भ किया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में नौ अध्यायों का आयोजन है।

सर्वप्रथम पहले अध्याय में शोध ग्रन्थ का आरम्भिक अवलोकन है। इसमें कला की संक्षिप्त चर्चा की गयी है तथा कला को धर्म व दर्शन का ही एक अंग बताया गया है। इस विषय

के महत्व को भी स्पष्ट किया गया है। सुन्दर वस्तुओं का बाह्य रूप व आन्तरिक अर्थ के बिना कला सम्पूर्ण नहीं होती है। इस बात को ध्यान में रखकर भारतीय साहित्य व कला में छवि अंकन पर विचार किया है। प्राचीन भारतीय कलात्मक रूपाकृतियाँ जोकि दैव प्रतिमायें एवं लौकिक आकृतियाँ है, के कला में महत्व को चित्रित किया है। इन मूर्तियों में डाले गये विषयों की विभिन्नता को भी दर्शाया गया है।

द्वितीय अध्याय में वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में वर्णित रूपाकृतियों पर विचार किया गया है। प्राचीन भारतीय मांगलिक एवं देवी देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षणों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस अध्याय की अधिकांश सामग्री वेदों से ली गयी है।

तृतीय अध्याय में बौद्ध तथा जैन साहित्य में वर्णित रूपाकृतियों पर विचार किया गया है। जैन तथा बौद्ध धर्म का उदय, धर्मो का भारतीय कला में योगदान तथा इनके दार्शनिक व व्यवहारिक पक्ष को चित्रित किया है।

चतुर्थ अध्याय में भारतीय कला में रूपाकतियों के उद्‌भव व विकास की चर्चा है। भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला का क्रमिक विकास, उनकी विविध शैलियाँ एवं प्रकार का विश्लेषण किया गया है। मृणमयी मूर्तियों पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

पंचम अध्याय में मौर्य तथा शुंग काल की कला के उदय, शैली, लोककला, स्तूप का वास्तु विन्यास, वेदिका तथा स्तूप की विशेषताओं का अध्ययन किया गया है।

षष्ठम् अध्याय में विभिन्न अध्यायों के युग, कुषाण तथा सातवाहन युग का अध्ययन किया गया है। विभिन्न शिल्पों के विषयों की विवेचना की गयी है। इस युग की मूर्तियों की चर्चा की गयी है। गान्धार शैली तथा इस युग की मुद्राओं का भी अध्ययन है।

सप्तम् अध्याय में भारतीय कला के स्वर्ण युग गुप्तकाल की कलाओं का वर्णन है। इस काल की कला के लक्षण तथा टेराकोटा चित्रकला एवं मुद्राओं की समीक्षा है।

अध्याय अष्टम् में भारतीय कला में वर्णित प्रतीकों का अध्ययन किया है।

अध्याय नवम् में प्राचीन काल से गुप्तकाल तक की लोकाकृतियों के अध्ययन के ऐतिहासिक व सामाजिक महत्व पर प्रकाश डाला है।

सर्वप्रथम मैं परमश्रद्धेया मम्मी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्तव्य समझती हूँ जिन्होंने इस विषय पर सर्वदा अपने निर्देशों एवं सत्परामर्श आदि से मुझे उपकृत किया। वे ज्ञानार्जन एवं उसका मुक्त हृदय से वितरण उनका परम लक्ष्य है।

मैं अपने निर्देशक परमश्रद्धेय श्री आई0एस0 सक्सेना, पूर्व व्याख्याता इतिहास, डी0वी0 महाविद्यालय, उरई की मैं हृदय से ऋणी हूँ जिन्होंने अपने ज्ञान के उदार भण्डार से मेरे शोध प्रबन्ध लेखन में कुशल निर्देशन किया एवं स्नेहाशीष प्रदान किया। उनके सहयोग और सहायता के बिना शोध कार्य करना मेरे लिये दुष्कर था। अत्यन्त व्यस्त एवं अस्वस्थ रहने पर भी आपने इस प्रबन्ध को देखा और महत्वपूर्ण परामर्श दिये। निरन्तर प्रेरणा का ही परिणाम है कि मैं शोध प्रबन्ध पूर्ण कर सकी हूँ। उनके इस महान अनुग्रह से मैं कभी उऋण होना नहीं चाहूँगी।

आदरणीया डा0 कृष्णा रावत (मौसी जी) की मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मेरी हर सम्भव सहायता की। मेरे मौसा जी श्री बलवीर सिंह जी की मैं हृदय से आभारी हूँ, उनके उत्साहवर्द्धन व सहयोग के लिये आभार व्यक्त करना औपचारिकता होगी। उनके प्रति मेरे मन में अपार आदरभाव है।

अपने भाई गौरव एवं सौरभ की भी आभारी हूँ, जिन्होंने सदैव मेरे कार्य के लिये भागदौड़ की।

मैं अपने पिता, छोटी बहिन शालिनी, अपने छोटे भाई सुधांशु एवं अपने पति इं0 सतेन्द्र सिंह की हृदय से आभारी हूँ। अतः इन सभी को भी धन्यवाद देना अपना पुनीत कर्तव्य

समझती हूँ। मेरे परिवारजनों ने पूरी तल्लीनता से इस कार्य में सदैव मुझे पूर्ण सहयोग प्रदान किया तथा समय–समय पर मेरा उत्साहवर्धन भी किया। यदि मुझे यह सहयोग न प्राप्त होता तो मैं अपना शोधकार्य शायद ही पूर्ण कर पाती यह मैं कभी नहीं भूल सकती हूँ।

मैं उन विद्वानों एवं इतिहासकारों की भी आभारी हूँ जिनकी कृतियों का मैंने इस ग्रन्थ के लेखन में सहयोग लिया है।

मैं आभारी हूँ पुस्तकालयाध्यक्ष, शोध एवं संदर्भ पुस्तकालय, राजकीय संग्रहालय मथुरा, पुस्तकालयाध्यक्ष मौलाना आजाद पुस्तकालय अलीगढ़, पुस्ताकालयाध्यक्ष पं0 मदनमोहन मालवीय पुस्तकालय इलाहाबाद, पुस्तकालयाध्यक्ष राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय भोपाल, पुस्तकालयाध्यक्ष विश्वविद्यालय पुस्तकालय, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन, पुस्तकालयाध्यक्ष जिला पुस्तकालय कानपुर, जिला पुस्तकालय, झांसी, विश्वविद्यालय पुस्तकालय, कानपुर तथा डी0वी0 कालेज, उरई पुस्तकालय गान्धी महाविद्यालय, उरई, नी0 पु0बा0 इण्टर कालेज, कोंच, शा0रा0पा0 इण्टर कालेज, कोंच के प्रधानाचार्यों की जिनका सहयोग मुझे सदैव प्राप्त हुआ। इन पुस्तकालयों से मुझे प्रकाशित ग्रन्थ प्राप्त हुये, जो कि मेरे शोध कार्य में सहायक सिद्ध हुए।

इसके अतिरिकत मैं निदेशक, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, निदेशक, प्रयाग संग्रहालय इलाहाबाद तथा निदेशक, लखनऊ संग्रहालय की आभारी हूँ जिन्होंने मुझे गोदामें में प्रवेश की अनुमति प्रदान की। इसी सहायता से मैं अपना विशेष अध्ययन पूर्ण कर सकी।

श्री पंकज कुमार गुप्त (पूर्वी इलेक्ट्रो टाइपिंग सेन्टर, उरई) की भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे शोध ग्रन्थ का टंकण कार्य किया है।

सम्भवतः भारतीय लौकिक रूपाकृतियों पर लिखा यह सर्वप्रथम शोध प्रबन्ध है, अतः त्रुटि की भी सम्भावना भी हो सकती है, यद्यपि इस शोध ग्रन्थ को त्रुटि रहित

रखने का मैने पूर्ण प्रयत्न किया है तथापि टंकण सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ अवश्य ही रह गई हैं, इसकी उचित मीमांसा विद्वतजन ही कर सकते हैं। मेरा यह प्रयास जिज्ञासु पाठकों को किंचित भाव भी लाभ पहुँचा सके तो मैं अपना यह तुच्छ प्रयास सार्थक समझूँगी।

****

अनुक्रमणिका

****

अध्याय - १

भारतीय साहित्य व कला में छवि अंकन

भारतीय साहित्य और कला में छवि अंकन

कलात्मक रूपाकृतियों पर विचार :-

कला का उदय मानव को सौन्दर्य भावना का परिचायक है। इस भावना की तृप्ति के लिए एवं मानसिक विकास के लिये अनेक प्रकार की कलाओं का उदय हमारे देश भारतवर्ष में हुआ। भारतीय एवं विदेशी दोनों विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। हमारी देश की संस्कृति भाषा के साहित्य में ज्ञान का वर्णन दो रूपों में देखने को मिलता है – विद्या और उपविद्या। प्रथम के अन्तर्गत काव्य को स्थान दिया गया है तथा विभिन्न कलाओं को उपविद्या के अन्तर्गत। भर्तुहरि ने काव्य तथा कला को अलग–अलग रूपों में माना है। उनके ही शब्दों में– "साहित्य संगीत कला विहीन: साक्षात् पशुपुच्छ विषाण हीन:" अर्थात् साहित्य, संगीत तथा कला के ज्ञान से रहित मनुष्य पशु ही है। अत: साहित्य तथा कला दोनों का अपने–अपने क्षेत्र में महत्व स्वयं सिद्ध है।[1]

भारतीय कला में यहाँ के मस्तिष्क और हस्तकौशल का सर्वोत्तम प्रमाण पाया जाता है। भारतीय कला की सामग्री वैसी ही समृद्ध है, जैसी भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन की। भारतीय कला के वातायन द्वारा हम यहाँ के शिल्प, मूर्तियों, चित्रों और खिलौनों का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और उनमें छिपी हुई मानसिक कल्पना एवं प्रतिभा से भी परिचित हो सकते हैं।[2]

यद्यपि भारतीय कला विश्व कला के मंच पर अपना पद प्राप्त काफी देर से कर पाई, किन्तु अब उसका सौन्दर्य और अर्थ विद्वानों और रसिकों के मन में पूरी तरह बस गया है। भारतीय कला और वास्तु के सम्बन्ध में कई इतिहास ग्रन्थ पहले लिखे जा चुके हैं किन्तु अधिकांश वर्णनात्मक है और

---

[1] कादरी प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 27

[2] राय कृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला, पृ0 52

उनमें कला के अर्थो पर विचार प्रायः नहीं है। उनमें स्थापत्य और वास्तुशिल्प का विचार अलग–अलग किया गया है। अवशेषों का केवल बाह्य वर्णन पर्याप्त नहीं है। उसके साथ उनके भीतरी अर्थ पर विचार करना आवश्यक है, जिससे वस्तुतः वे कलाकृतियाँ अस्तित्व में आयी थी। भारतीय कला के इस नये इतिहास में इन दोनों दृष्टियों का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय जनता की सांस्कृतिक चेतना में भारतीय कला के जो अर्थ किसी समय निहित थे और बहुत से उदाहरणों में जिनकी परम्परा लोक में चली आई है, उन्हें कला और साहित्य के अन्योन्याश्रित सहयोग से अधिक स्पष्टता से पहचाना जा सका। इस प्रणाली का नगद लाभ यह हुआ कि प्राचीन साहित्य के सैकड़ों परिभाषिक शब्द कला के इस इतिहास के लिए प्रयुक्त किये जा सके। यूनानी और रोमन कला के अध्ययन में इस परिपाटी से बहुत लाभ उठाया जा चुका है और वहाँ कोई देवमूर्ति, अलंकरण या मिट्टी के वर्तन–भाड़े ऐसे नहीं है कि जिनके मूल शब्दों की छानबीन न की गई हो। भारतीय कला के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयत्न का आरम्भ श्री आनन्द कुमार स्वामी ने किया था और इससे उनके लेखों में नई चमक और रुचि भर गई। शुंग, आन्ध्र और कुषाण युग के लेखों से अनेक परिभाषिक शब्द प्राप्त होते हैं जो उन युगों में प्रयुक्त होते थे, जब उन–उन कलाकृतियों का निर्माण हुआ। साहित्य तथा लेखों से गृहीत कुछ शब्द उदाहरण के लिये ये हैं– घर मुखः चेत्य का मुहारः, पानिय पोढ़ि :जल द्रोणिः, व्दिगर्भः दो कोठों की गुफाः, चतुष्पद पंक्ति, सिंह स्तम्भ, दर्पणाः आदर्श में मुख देखकर प्रसाधन करती हुई स्त्री मूर्तिः, पद्मवर वेदिकाः कमल के फुल्लों से सजी हुयी वेष्टिनीः, परिचका सूची आदि। साहित्य और कला की परिभाषाएं तथ्यात्मक हैं।

भरहुत, बोधगया और मथुरा के वेदिका स्तम्भों पर उत्कीर्ण शालभंजिका मूर्तियों से लेकर कोणार्क के सूर्य मन्दिर के जंघा भाग की नाटकीय मुद्राओं में उत्कीर्ण स्त्री–मूर्तियाँ देश और काल में एक दूसरे से बहुत दूर हटी हुई हैं, किन्तु उनकी परम्परा में एक सूत्र पिरोया हुआ है। उन्हें देवांगना, मांगलिक, कन्या, अलसा, सुर–सुन्दरी, शालभंजिका, प्रेक्षणिका, नाटक स्त्री, मदनिका आदि नामों से

अभिहित किया जाता था। इनके मूल में उद्यान क्रीड़ा और सलिल क्रीड़ा की बहुरूपी मुद्राओं की प्रेरणा थी। इनकी साहित्यिक पृष्ठभूमि पाणिनि और जातकों से लेकर हेमचन्द्र तक पाई जाती है।[1]

<u>भूमिका</u> :-

स्थापत्य एवं कलाकृतियों के निर्देशन पूर्व ऐतिहासिक काल के भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। सिन्धु घाटी की अति पुरातन सभ्यता को विद्वानों ने पूर्व ऐतिहासिक संज्ञा प्रदान की है। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के प्राचीन सांस्कृतिक भग्नावशेषों की खुदाई में जिन विभिन्न पुरातत्वान्वेषण प्रेरक पदार्थो की प्राप्ति हुई है, उनमें सचित्र मुद्रायें (मनुष्य एवं पशु प्रतिमायें, जिन पर चित्रित है) विविध खिलौने (जो तत्कालीन मृत्तिका कला वैभव के परिचायक है) बरतन, भाण्ड आदि नाना चित्रों से चित्रित एवं रागरंजित कलाकृतियों के साथ-साथ पाषाण प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय हैं। लिंगाकृति प्रतीक पदार्थो के बहुत निर्देशनों से एवं वैदिक वाड्गमय में सूचित शिश्नदेवों अर्थात् लिंग प्रतिमा पूजक – इस देश के मूल निवासियों के संकेत से विद्वानों का यह आकूत नितान्त समीचीन एवं संगत ही है कि ये प्रतीक तत्कालीन पूजा परम्परा (लिंगोपासना) के परिचायक है। हिन्दू, बौद्ध, जैन – सभी प्रतिमाओं में मुद्राओं का योग प्रतिमा विज्ञान का एक अनिवार्य अंग है।[2]

प्रतिमा मुद्राओं में वरद व्याख्यान एवं ज्ञान मुद्राओं के समान ही योग मुद्रा, एक महत्वपूर्ण मुद्रा है। इस योग मुद्रा में आसीन योगी प्रतिमाएं विशेष निदर्शनीय है। त्रि-शीर्ष, सश्रृंग एवं नाना पशु समाकीर्ण तथा योगासन (कूर्मासन) पर आसीन योगी प्रतिमा की प्राप्ति से विद्वानों ने उसे शिव पशुपति की पूर्वज माना है। इसी प्रकार की अन्य बहुत सी प्रतिमायें एवं मुद्रायें उपलब्ध हुई है। इन चित्रों में

---

[1] भगवत शरण उपाध्याय – भारतीय कला, पृ0 59.

[2] आर0पी0 चन्द्रा – भारतीय कला व संस्कृति, पृ0 57

प्रायः सभी मुद्राओं के अविकल दर्शन होते हैं। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि हड़प्पा और मोहन जोदड़ों की खुदाई ने यह पूर्ण प्रामाण्य प्रदान किया है कि योग मुद्राओं में मानव एवं देव प्रतिमाओं की (आसन एवं स्थानक दोनों रूपों में) उस सुदूर अतीत युग में पूजा विद्यमान थी।[1]

पूर्व ऐतिहासिक काल में प्रतीकोपासना, जिसमें लिंग पूजा, पशुपति शिव पूजा आदि पूजा परम्पराओं के पूर्ण आभाष प्राप्त होते हैं। इस विषय पर प्रगल्भ और पांण्डित्यपूर्ण विवेचन भी प्राप्त होता है। इन गवेषणाओं का सारांश यही है कि उस अतीत में भी यह परम्परा अपने बहुमुखी विकास में विद्यमान थी।

भारतीय कला के दोनों पक्ष इष्ट हैं अर्थात् सुन्दर वस्तुओं का बाह्य रूप एवं उनका आन्तरिक अर्थ। अर्थ के बिना कला रिक्त, तुच्छ या छूंछी है। शुक्रगीतिकार ने केवल प्रतिकृति को अस्वर्ग्य माना है। कालिदास ने इस बात को वाक् और अर्थ का संयुक्त या मिला हुआ रूप कहा है। इसमें वाक्य कला और काव्य का बाह्य रूप है। अर्थ इसकी भीतरी व्याख्या है। शिव और पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप की भांति पाक् और अर्थ भी अभयनिष्ठ है। इन दोनों पक्षों को हम बहिर्वेदि और अन्तर्वेदि भी कह सकते हैं। शिल्पी और क्विक्षण को प्रयत्न करना चाहिए कि इन दोनों पक्षों में रुचि लें। कलाकार शिल्पी अपने चित्त या ध्यान की शक्ति से कला रूपों का विचार करता है। रसिक, सहृदय या विलक्षण आध्यात्म सुख के लिए रूपों के अर्थ की जानकारी प्राप्त करता है।[2]

भारतीय कला में मूर्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी सामग्री बहुत है और प्राचीन भी है और मूर्तियों में ढाले गये विषय भी विविध प्रकार के हैं। सिन्धु सभ्यता से लेकर अद्यावधि पार्थिव

---

[1] द्विजेन्द्र नाथ – भारतीय स्थापत्य, पृ0 28

[2] कादरी एन्शिएन्ट इण्डियन आर्ट, पृ0 42

मूर्तियों का प्रचलन रहा है। कहना चाहिए कि खिलौनों की कला शिलामयी मूर्तियों से भी अधिक काल तक जीवित रही। अनेकों स्थानों पर अलंकृत ईटों के कितने ही मन्दिर बने, जिनमें मिट्टी के फलक और मूर्तियाँ लगी हैं जबकि पत्थर की मूर्तियों या पाषाण प्रतिमाओं की रचना शेष हो चुकी है।[1]

मुहरों पर खुदी हुई जानवरों की तस्वीरें उस समय की महान कला का परिचय देती हैं। हड़प्पा की कुछ मूर्तियों की कला यूनान की कला की भाँति उत्कृष्ट है।

विभिन्न स्थानों से 500 से अधिक मुहरें उपलब्ध हुई है। वे आकार में छोटी और एक प्रकार की मिट्टी की बनी है। ये मुहरें समय–समय पर रावी नदी के पुराने आधार से प्राप्त होती रही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से परिचित कराने में इनका सर्वप्रथम स्थान है।[2] सिन्धु घाटी की मुहरों पर अंकित लेखों से ही तत्कालीन भाषा एवं लिपि का पता लगाया जा सकता है। पत्थरों मिट्टी के बर्तनों और तावीजों से ही सिन्धु घाटी की धार्मिक प्रवृत्तियों को जानने में सहायता मिलती है।[3] इन मुहरों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुहर वह है, जिस पर सींगधारी तीन मुख वाले देवता का नग्न चित्र है।ꔠ यह देवता एक मेज पर धार्मिक भाव से बैठा है और इसके चारों ओर भारी संख्या में जानवर खड़े हैं। इस देवता ने बाँहों में कंगन या चूड़ियाँ पहन रखी है। इसके अतिरिक्त उसने सिर पर भी कुछ धारण कर रखा है। यह मूर्ति शिव की है इस प्रकार की तीन मुहरें और भी मिली है, दो मुहरों में तो यह देवता मेज पर बैठा है किन्तु तीसरी में यह पृथ्वी पर विराजमान है। देवता बिल्कुल नग्न है और वह बाँहों में कड़े या चूड़ियाँ धारण किये हुए हैं। किन्तु जहाँ तक सींगों का प्रश्न है, सभी देवताओं के सींग है। यह चित्र

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की मूर्तिकला, पृ0 35

[2] डी0आर0 भण्डारकर – सम आसपेक्टस ऑफ एन्शिएन्ट इण्डियन कलचर, 1940, पृ0 34

[3] ई0जे0एच0 मैके – द इण्डस सिविलिजेशन, 1935, पृ0 27

ꔠ चित्र सं॰ – 1

किसी कुँआरी देवी या किसी देवता की पत्नि का समझा जाता है।[1]

एक अन्य मुहर में अल्जीर के पेड़ के नीचे एक देवता बैठा है और उसके आगे एक दूसरा देवता झुक रहा है। पुजारी और पूज्य दोनों ने पट्टेदार बाल और कंगन धारण किये हुए है। पुजारी के पीछे एक बकरी खड़ी है जिसका सिर मानव का है। (चित्र सं - 2)

मोहन जोदड़ो की एक मोहर यह बतलाती है कि शेर को देवी का प्रतिरूप माना जाता था। बकरी के सींग पर चीते के शरीर, पिछली टाँगों और दुम वाले एक देवता की आकृति दीख पड़ती है। मैके का विचार है कि पुराने जमाने में इस शेर रूपी देवी को शिव की पत्नी माना जाता था। दो मुहरों पर शेर की शक्लें हैं और इनके सिर पर सींग है, ये सींग बैल के है। सम्भव है कि बैल को शिव की सवारी के रूप में स्वीकार किया गया हो।[2] (चित्र सं - 3)

एक अन्य मुहर में एक भैसे का चित्र है जो लोगों के समूह को हराकर शान से सिर को ऊपर ताने हुए यों खड़ा है जैसे अपने दुश्मन को हराकर उनके बीच कोई योद्धा खड़ा होता है। सम्भव है अपने शत्रुओं को परास्त करने वाले किसी देवता का चित्र हो। (चित्र सं - 4)

एक अन्य मुहर पर मानव के शरीर की आकृति है किन्तु चेहरा और पूंछ बैल के हैं। सम्भवतः यह गन्धर्वो या यज्ञों की ओर संकेत करती है, इसे सींगधारी शेर से संघर्ष करते हुए दिखाया गया है। यह किसी राक्षस का प्रतीक प्रतीत होता है, जो किसी देवता के विरूद्ध लगातार लड़ता रहा था।[&]

इन मुहरों जानवरों के चित्रण से पता चलता है कि किसी एक ही शरीर को लेकर

---

[1] सर जॉन मार्शल – मोहन जोदड़ो एण्ड द इण्डस सिविलियेशन–तीन भागों में, 1931, पृ0 97

[2] जी0आर0 हन्टर – द स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एण्ड मोहन जोदड़ो, 1934, पृ0 77

& चित्र सं - 5

उसमें कई–कई सिरों को जोड़ दिया गया है। इन चित्रों में हिरणों और बैलों के छोटे बड़े सींगों को अत्यधिक जोड़ा गया है। इन मुहरों की अधिकतर मूर्तियाँ बिना कपड़ों के है। अतः बताना कठिन है कि उस समय के लोग कैसी पोशाक पहनते थे।

मोहरों से सिन्धु घाटी के लोगों की कला का पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों नगरों के लोग इनका बराबर व्यवहार करते थे। मोहरों पर जानवरों के बारे में कुछ नहीं लिखा है, केवल नाम और उपाधियाँ दी गई है।[1]

प्राचीन काल में इस प्रकार की मोहरों का प्रयोग अन्य प्राचीन देश किया करते थे। उनसे पता चलता है कि इस प्रकार की मोहरों का प्रयोग प्लास्टिक, मिट्टी आदि पर मोहरें लगाकर उसे प्रामाणिक बनाने के लिये किया जाता था। मर्तबानों के ढक्कनों और बन्द दरवाजे पर भी इन मुहरों को लगाया जाता था। मिट्टी के भुर जाने के कारण इन मुहरों के निशानों के अधिक उदाहरण नहीं मिल सके हैं किन्तु एक जगह ऐसा देखने में आया है कि मोहन जोदड़ो में मिट्टी के एक ढेले के एक ओर तो सींग वाले घोड़े की बड़ी मुद्रा का निशान है और दूसरी ओर धागे से बंधे हुए घास के गट्ठे का निशान है, जिससे प्रतीत होता है कि यह मुद्रा या तो किसी घास की बनी हुई पेटी या संदूक से लगी हुई थी या उसी चीज के बने हुए किसी दरवाजे से बंधी हुई थी।[2] टैराकोटा की मुहरें किसी विशेष अभिप्राय से बनाई गई जान पड़ती है क्योंकि वे ऐतिहासिक काल में दस्तावेजों के साथ नहीं लगाई गई। जान पड़ता है कि मोहन जोदड़ो के निवासी इन मोहरों को अत्यन्त आवश्यक समझते थे और शायद वहाँ का प्रत्येक निवासी अपने साथ एक मुहर रखता था। ऐसा भी देखने में आया है कि घोड़े के ऊपर वाले पहले निशान

---

[1] डा0 ई0जे0एच0 मैके – अर्ली इण्डस सिविलियेशन, 1948, पृ0 107

[2] रीता शर्मा – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 23–24
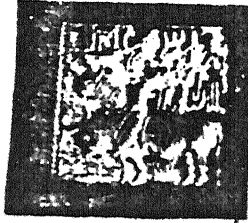
चित्र सं. - 1
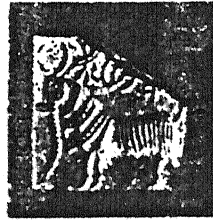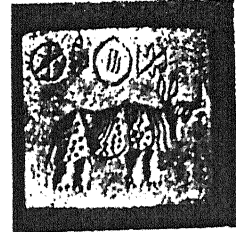
चित्र सं-

चित्र सं.

चित्र सं. - 4

चित्र सं-3
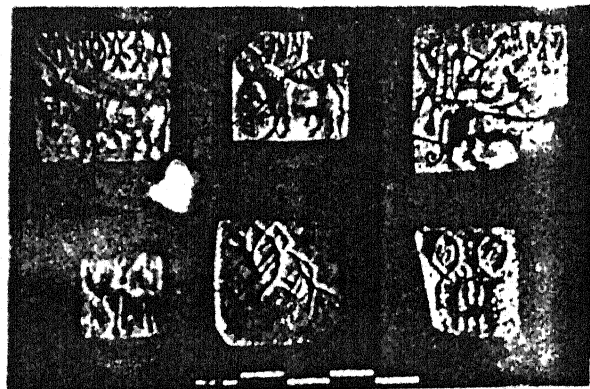
चित्र सं. -

को काटकर और उसके स्थान पर दूसरे निशान को जोड़ने का यत्न किया गया है। हो सकता है कि एक आदमी के मर जाने के बाद दूसरा उसका प्रयोग करता रहा हो और इसी लिये दूसरे आदमी ने पहले आदमी के निशान को मोहर पर से हटा दिया हो।[1] चित्र सं. - 6

वैदिक साहित्य में विभिन्न शक्तियों के रूप में देवों की कल्पना की गयी और उनके रूप विधान निश्चित हुए। इन्द्र, सूर्य, रूद्र, वरूण, विष्णु आदि देवताओं के रोचक वर्णन ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में मिलते हैं। इन रूप विधानों के आधार पर ऐतिहासिक युग में विभिन्न देवताओं और उनकी शक्ति रूपी नारियों की कल्पना की गई। वैदिक देव शास्त्र को अनेक पुराणों तथा लौकिक शास्त्रीय ग्रन्थों में सम्बद्धित किया गया। जैन और बौद्ध साहित्य में भी देवों की कल्पना को मूर्तरूप प्रदान किया गया। बौद्ध धर्म में बुद्ध और बोधिसत्व के अलावा अनेक देवी देवताओं का विकास होता गया। महायान और वज्रयान में यह विकास मिलता है। जैन धर्म में 24 तीर्थ संकरों, अनेक यक्ष–यक्षियों तथा विद्या देवियों आदि के रूप में निश्चित किये गये।[2]

उत्तरी भारत के कई ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई में मनुष्य और पशुओं की आकृति के बहुत से खिलौने और बड़ी मूर्तियाँ भी मिली है। उस सामग्री के आधार पर मूर्तियों की वर्गीकृत सूची बनाई जा सकती है।

महाभारत और उत्तरकालीन साहित्य में मृण्मयी मूर्तियों के उल्लेख पाये जाते हैं।[3] द्रोण के शिष्य एकलव्य ने अपने गुरु की मिट्‌टी मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की थी। मद्र देश का राजकुमार

---

[1] राधा कुमुद मुकर्जी – प्राचीन भारत, पृ0 13

[2] एल0पी0 शर्मा – ए हिस्ट्री ऑफ एशिएन्ट इण्डिया, पृ0 39–40

[3] विल डूरन्ड – अवर ओरिएन्टल हेरीटेज, पृ0 54

अश्वपति बचपन में मिट्टी के घोड़े बनाकर उनसे खेलता था। भद्दसाल जातक में लिखा है कि राजकुमार को ननिहाल की ओर से हाथी घोड़ें और अन्य खिलौने खेलने को दिये जाते थे। मृच्छकटिक नाटक का तो नाम ही मिट्टी की गाड़ी के आधार पर रखा गया है।[1] नागार्जुनकोण्डा के शिलापट्ट पर पहिएदार छोटी गाड़ी के चित्र हैं जिसे एक बच्चा धांगे से बांधकर खींच रहा है जो मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की मृणमयी या मिट्टी की मूर्ति का उल्लेख है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम में एक चित्रित मयूर का उल्लेख किया है।[2]

सुख और वैभव का जीवन कला के विकास के लिये उपयुक्त होता है अतः हम मौर्य काल में दोनों क्षेत्रों में अद्भुत उन्नति पाते हैं। कुछ दृष्टियों से तो यह भी कहा जा सकता है कि इस काल में भारत कला के क्षेत्र में अपनी चरण सीमा तक पहुँचा गया था। एक अधिकारी विद्वान का कहना है कि भारतीय कला का इतिहास उसके ह्रास काल का इतिहास है और अशोक का काल उसके विकास का अन्तिम चरण था। सिन्धु घाटी की सभ्यता और अशाक के बीच के दीर्घ काल की भारतीय कला के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते वस्तुतः इस काल के अवशेष बचे ही नहीं हैं परन्तु यह समझना भी अनुचित है कि अशोक से पूर्व भारतीयों को कला का तनिक भी ज्ञान न था अथवा अल्प ज्ञान था। बहुत दिनों तक कुछ यूरोपीय विद्वानो ने ऐसी अनर्गल कल्पना कर रखी थी किन्तु उनको ढहा देने के लिये भारतीय साहित्य में पर्याप्त प्रमाण हैं। अशोक कालीन कला में जो पूर्णता है उसको देखते हुए शायद ही किसी को संदेह हो कि वह दीर्घकाल से चली आने वाली और क्रमशः विकसित होती हुई कला का परिणाम नहीं है, यद्यपि आज उस कला का कोई नमूना प्राप्त नहीं है।

---

[1] आर0सी0 मजूमदार – द हिस्ट्री एण्ड द कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपुल, वोल–1 वैदिक पृष्ठ–78

[2] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0– 149

मौर्यकाल में वास्तुकला ने बड़ी उन्नति की। सम्राट अशोक ने वास्तुकला की उन्नति पर ध्यान दिया।

सम्राट अशोक 40 वर्ष तक सिंहासन पर रहे। इस अविध में उन्होंने स्वयं विभिन्न तीर्थों में घूमकर उपदेशक भेजकर शिलालेख गाढ़कर अनेक प्रकार से लोक में सद्भावना एवं धर्म प्रचार का प्रयत्न किया। तीन वर्ष के अल्प काल में चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराना प्रियदर्शी सम्राट का ही कार्य था। गया के समीप उन्होंने गुफाओं का स्थाविर आवास निर्मित कराया। सैकड़ों विहार उन्होंने स्थापित किये हुये थे। अपने शिला लेखों में उन्होंने माता–पिता की एवं प्राणियों की सेवा, सभी सम्प्रदायों की परस्पर सद्भावना, परलोक सुधार तथा सत्य, त्याग, तप आदि सार्व भौम धर्मों पर ही बल दिया है सम्राट सचमुच देव प्रिय थे। उन्होंने लोगों को देव पथ में ले जाने का पूरा प्रयत्न किया वे प्रियदर्शी थे। जनता में जनता से शिक्षा ग्रहण एवं विचार विनियम की भावना से जाना उन्हीं जैसे महत्तम का कार्य था।[1]

चार सिंहों के ऊपर स्थापित धर्म चक्र अशोक के साम्राज्य का प्रतीक अब भारत का राष्ट्रीय प्रतीक है। चतुर्दिक व्यापारी पराक्रम पर धर्म चक्र की स्थापना अशोक ने की, यह सब जानते हैं उनका राज्य सम्पूर्ण भारत में था।

<u>अशोक कालीन कला</u> :–

अशोक के कलात्मक कार्य को निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है– (1) स्तूप (2) स्तम्भ (3) गुफाऐं (4) निवास भवन ।

---

[1] एम0एस0 कादरी– प्राचीन भारतीय कलायें पृ0 38

स्तूप :-

स्तूप ईट अथवा पत्थर के बने ठोस गुम्बद होते थे। इन्हें बौद्ध और जैन किसी पवित्र स्थान या घटना के स्मारक स्वरूप अथवा बुद्ध महावीर या किसी अन्य धार्मिक सन्त के किसी अवशेष को सुरक्षित रखने के निमित्त बनाते थे। स्तूप आकार प्रकार में फुट भर के पूजा वाले छोटे प्रतीक स्तूपों से लेकर उनसे सौ गुना तक बड़े होते थे। अशोक बड़े-बड़े स्तूपों का महान निर्माता था और एक परम्परा है कि उसने 84 हजार स्तूप बनवाये थे। 900 वर्षो पश्चात् चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उनमें से सैकड़ों भारत और अफगानिस्तान में देखे थे किन्तु खेद है कि आज उनमें से इने-गिने ही बच रहे हैं। साची के महान स्तूप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अशोक का बनाया हुआ है, उसका निम्नलिखित वृतान्त अशोक के स्तूपों के नमूने का परिचय देने के लिये पर्याप्त होगा-

"यह महान स्तूप प्रायः गोल गुम्बद सरीखा है जो ऊपर सुराहीदार हो गया है। उसके पुश्तों के चारों ओर ऊँचा वरजा है जो प्राचीन काल में प्रदक्षिणा पथ का काम देता था। वहाँ तक जाने के लिये इसके दक्षिण की ओर दोहरी सीढ़ियाँ बनी थी। इसको घेरे हुए भूमि पर एक दूसरा प्रदक्षिणा पथ है जो पत्थर के विशाल घेरे से घिरा हुआ है। यह घेरा एकदम सादा और अलंकरण हीन है। चारों भागों में यह चारों कोनों पर यह तोरणों (प्रवेश द्वारों) द्वारा बँटा हुआ है। प्रत्येक तोरण भीतर और बाहर से आभरणों द्वारा पूर्णरूपेण अलंकृत है।"[1] वर्तमान तोरण अशोक के स्तूप के बाद में लगाये गये हैं। सम्भवतः स्तूप में भी समय-समय पर परिवर्तन हुए है।

स्तम्भ :-

अशोक कालीन कला के जो थोड़े से नमूने बचे हैं उसमें सबसे सुन्दर एवं सर्वथा उल्लेखनीय नमूने प्रस्तर स्तम्भों के रूप में पाये जाते हैं। अशोक की आज्ञा से कितने स्तम्भ खड़े किये

---

1 मार्शल- गाइड टू सांची, पृ0 48

गये थे, उनकी संख्या बताना सम्भव नहीं है किन्तु अधिक नहीं तो वे तीस चालीस अवश्य रहे होंगे। इनमें से प्रत्येक स्तम्भ में मुख्यतः दो भाग– स्थूण और शीर्ष के है। स्थूण एकाश्मक है अर्थात् पत्थर के एक ही टुकड़े के बने हुए है और उन पर ऐसी सुन्दर ओप है कि आज भी लोगों को उसके धातु के बने होने का भ्रम होता है। लौरिया नन्दगढ़ का स्तम्भ सर्वोत्तम नमूनों में से है और इसका उल्लेख वीसेण्ड स्मिथ ने किया है– "इसका स्थूण ओपदार बलुए पत्थर का 32 फुट 9" है, इसके सबसे नीचे का व्यास 35" है जो धीरे–धीरे घटता हुआ सिरे पर जाकर केवल 22" रह गया है। इन अनुपात के कारण अशोक के स्तम्भों में यह सबसे भव्य लगता है।"[1] स्मिथ ने ही अशोक के स्तम्भों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से लिखा है कि "इन विशालकाय एकाश्मक स्तम्भों का (जिनमें से सबसे भारी का बजन 50 टन होगा) बनाना, ढोकर ले जाना और खड़ा करना, इस बात का प्रमाण है कि अशोक के काल के इंजीनियर और संगतराश किसी काल और किसी देश के कारीगरों से कला कुशलता साधन सम्पन्नता में कम न थे।"[2]

इन स्तम्भों के ऊपर के शीर्ष भी एकाश्मक ही होते थे जिनके ऊपर के अन्तिम गोल के बीच पशु आकृतियों की विशेषतायें हैं। ये आकृतियाँ बहुत ही भव्य है। रामपुरवा का सिंह शीर्ष और संकोसा का हरित शीर्ष उनके सुन्दर उदाहरण किन्तु सबसे भव्य शीर्ष सारनाथ के स्तम्भ का है। "अब तक भारत में मिली मूर्तिकला का वह सर्वोत्तम नमूना है।" यह शीर्ष सात फुट ऊँचा है। इसके ऊपर चार (4) भव्य सिंह पीठ से पीठ सटाये खड़े हैं और उनके बीच में एक बड़ा पत्थर का चक्र धर्मचक्र का प्रतीक था। उसमें सम्भवतः 32 तीलियाँ थी। सिंहों के नीचे चार छोटे– छोटे चक्र हैं, केवल 24 तीलियाँ ही है। ये सिंह एक गोल चबूतरे पर खड़े हैं, जिन पर सिंह, हस्ति, वृष और अश्व चार चक्रों के बीच खीचित है, शीर्ष की बैठकी सुन्दर

---

[1] स्मिथ– फाइन आर्ट, पेज– 20–2

[2] स्मिथ– फाइन आर्ट, पेज– 20–22

रूप से बनी हुई पर्सिपोली के ढंग की घंटाकार है। सिंह और अन्य पशुआकृतियाँ अद्‌भुत रूप से सजीव लगती है और उनका गठन हर तरह से पूर्ण है।"[1]

सम्पूर्ण शीर्ष पत्थर के एक ही टुकड़े के बने हुए है। उनकी कला कुशलता की सभी कलाविदों ने भूरि–भूरि प्रशंसा की है। स्मिथ ने लिखा है – "किसी देश में इस सुन्दर कलाकृति से बढ़कर अथवा उसके समान प्राचीन पशु मूर्ति का नमूना खोज निकालना कठिन है। इसमें वास्तविक बनावट के साथ–साथ आदर्श प्रतिष्ठा है और वह बनावट में प्रत्येक दृष्टि से शुद्ध और पूर्णतया सुरूप है।"[2] सर जॉन मार्शल की दृष्टि में– "ये कलाकृतियाँ सुन्दर नक्काशी और शैली की दृष्टि से भारत में तैयार किये हुए अत्युत्तम कर्म है और प्राचीन संसार की कोई भी वस्तु उनसे बढ़कर नहीं बनाई गई।"[3]

<u>गुफायें</u> :–

अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने भिक्षुओं के रहने के लिये गुफाओं के रूप में विहार बनवाये थे। इन सुन्दर गुफाओं का समूह गया से 16 मील उत्तर बरावर की पहाड़ी में है। सुदामा गुफा को अशोक ने अपने राज्यकाल के बारहवें वर्ष में आजीवकों के रहने के निमित्त बनवाया था। इसमें दो कमरे हैं। बाहरी कमरा 32 फुट 9 इंच और 19 फुट चौड़ा है, इसके पीछे 19 फुट 11 इंच × 19 फुट का प्रायः एक गोल कमरा है।[4]

उनके राज्य के उन्नीसवें वर्ष में खुदवाई हुई कर्ण चौपाल गुफा 33 फुट लम्बी और 14 फुट चौड़ी आयताकार हाल है। उसकी छत तपारदार दीवार से 4 फुट 8 इंच पर बनी हुई है।[5]

---

[1] पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, 1904–5, पृ0 69
[2] वी0ए0 स्मिथ – फाइन आर्ट, पृ0 60
[3] पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, 1904–5, पृ0 36
[4] फार्गुसन– हिस्ट्री ऑफ आर्चीटेक्ट– वोल्यूम– 1, पृ0 140–141
[5] फार्गुसन– हिस्ट्री ऑफ आर्चीटेक्ट, पेज– 130

ये कमरे कड़े तेलिया पत्थर के बने हुए हैं और उनकी भीतरी दीवारें शीशे की तरह चमकती है।

मौर्यकाल के भवन :-

चन्द्र गुप्त के दरबार में मेगस्थनीज रहता था। इसके लेखों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त का महल एशिया के सब भवनों से अधिक सुन्दर था। इस विषय में भारतीय तथा यूरोप के इतिहास के विद्वानों में मतभेद है। डा० स्मिथ का यह कहना कि चन्द्रगुप्त का महल लकड़ी का बना हुआ था जिस पर नक्काशी बहुत ही सुन्दर ढंग से की गयी थी, मेगस्थनीज के लेखें से उसकी यह बात सत्य नहीं होती है।

निवास गृह :-

खेद है मौर्यकालीन निवास गृहों का आज कोई नमूना उपलब्ध नहीं है किन्तु ये भव्य थे। यह बात न केवल पहले उद्‌धृत मेगस्थनीज के पाटलीपुत्र के भवनों सम्बन्धी कथन से स्पष्ट होती है, वरन् फाह्यान के आश्चर्य मिश्रित कथन में भी झलकती है। अशोक के महलों की चर्चा करते हुए चीनी यात्री ने लिखा है- "नगर के बीच में स्थित राज प्रासाद, जो अब खण्डहरों के रूप में है, अशोक ने देवों से बनवाया था। उन्होंने पत्थरों को इकट्‌ठा किया दीवारों और तोरणों को चुना और उनमें अद्‌भुत नक्काशी की व मूर्तियाँ बिठायी। यह सब कार्य ऐसा है जो इस संसार के मनुष्यों के बूते के बाहर है।"[1]

इस प्रकार मौर्य काल में भारतीय कला ने सौन्दर्य का जो उच्च स्तर प्राप्त किया वह बाद के काल में भी बना रहा और कुछ बातों में तो उसका विकास भी हुआ। मुख्य रूप से यह बात गुफाओं के निर्माण के बारे में कही जा सकती है। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद के 4-5 सौ वर्षो में

---

1 लेगेकूत : फाह्यान, पृ0 77

ये गुफायें भारत के विभिन्न भागों में बनायी गई। ये न केवल बिहार है वरन् चैत्य भी है। अशोक की गुफाओं में उच्चकोटि की कला कुशलता तो अवश्य झलकती है तथापि वे न तो बड़ी थी न ही अति अलंकृत। दूसरा उदाहरण स्तूपों के साथ निर्मित बहु अलंकृत तोरणों में पाया जाता है जिनके सर्वोत्तम नमूने साँची स्तूप के 4 तोरण है। ये तोरण बुद्ध के जीवन, जनता के घरेलू और बाहरी ग्रामीण जीवन, जुलूसों, घेरों लड़ाइयों और साधारण तथा असाधारण पशुओं की मूर्तियों से अलंकृत है।[1] इन अलंकरणों के मूल्यांकन के लिये तो किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता होगी। भरहुत स्तूपों के तोरण और उसकी वेदिकायें और अमरावती की वेदिकायें तथा स्वयं स्तूप भी अनेक सुन्दर मूर्तियों से अलंकृत थे। अपनी विषय बहुलता और ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से समस्त कला के इतिहास में ये मूर्तियाँ अद्वितीय है।

अशोकोत्तर काल में मूर्तिकला की विभिन्न शैलियाँ थी जिनमें मुख्य गान्धार, मथुरा, सारनाथ और अमरावती नामक शैलियाँ है। इन तथा अन्य स्थानों से कला और शैली की दृष्टि से विशिष्ट अनेक मूर्तियों के नमूने प्राप्त हुए है। भारतीय कला सम्बन्धी पुस्तकों में इनका विवेचन खासतौर पर मिलता है।

शुङ. एवं कण्व वंश :-

शुङ. काल कला में एक नया युग लेकर आया। शुङ. काल में बौद्ध स्तूपों के लकड़ी के जंगलों ने शुङ. काल को अमर बना दिया। फाउचर कहते हैं– "विदिशा के हाथी दाँत के कारीगरों ने ही अपनी निकटवर्ती सीमा में साँची के अमर स्मारक द्वारों को बनाया।" शुङ. काल के अमर काल के स्मारकों में है – पूना के निकट भज स्थित एक विहार भज में पुराने विहार के निकट एक बड़ा चैत्य और चट्टान में से कटे स्तूप, अजन्ता में चैत्य कक्ष नं0 9, अमरावती में एक स्तूप, भारहुत में

---

[1] स्मिथ : फाइन आर्ट, पृ0 170

वृक्षा देवता, बेसनगर में गरूण स्तम्भ, चक्राम या विहार को घेरे हुए बौद्ध गया का जंगला नासिक का चैत्य कक्ष इत्यादि।

भिलासा के समीप साँची का महान स्तूप और इसका कटघरा शुंग काल के हैं। आन्ध्रों के काल में चार खुदे हुए द्वार बनाये गये थे। इन द्वारों से महान स्तूप की शोभा में चार चांद लग गये हैं। ये साँची के समस्त खण्डहरों के महत्व को बढ़ाते हैं। प्राचीन भारत के पलस्तर की कला के इतिहास में उनका स्थान अद्वितीय है, उनका सा सौन्दर्य चित्रण तथा मूर्तिकथांकन अन्य किसी स्थान पर नहीं मिलता। स्तूप के साठे और गोलार्द्ध ढाँचे तथा कटघरों के भारी खम्भों की सादी स्थलता की तुलना में ये द्वार अत्यधिक प्रभावी व आकर्षक लगते हैं। प्रत्येक द्वार में दो सीधे स्तम्भ है उनका कुछ भाग वर्गाकार है। खम्भों के ऊपर मस्तक है। उनके ऊपर तीन समानान्तर चौरस और चौकोर पत्थर टिके हुए हैं। उन पत्थरों पर लहरिया चित्र बने हैं उन तीनों पत्थरों के बीच दो वर्गाकार ठप्पे हैं जिनमें से गुजरती हुई तीन छोटी–छोटी पंक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। द्वारों के विभिन्न अंगों की प्राप्य एवं प्रत्यक्ष स्थान पर सुन्दर खुदाई की गई है और शेष स्थान पर कथांकन किया गया है। उनके स्तम्भें के मस्तकों को खड़े पशुओं से सजाया गया है। उनमें यक्ष एक पेड़ के नीचे भाव्य आकृति में खड़ा है। खम्भों के नीचे ऊपर लगाने के चौरस और चौकोर पत्थरों के बीच के स्थान पर भी परियों की तस्वीर हैं, जिनके साथ राजसी हाथी या गरजते शेर है। अन्य रिक्त स्थानों में घुड़सवार या हाथी सवार, शेरों तथा पशुओं की मूर्तियाँ हैं। केन्द्र में सबसे ऊपर धर्मचक्र यक्षों के साथ कलात्मक रूप से हाथियों या शेरों पर टिका है।

स्तम्भों और उन पर लगाने के चौरस चौकोर पत्थरों पर कथांकन किया गया है। बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध सभी महत्वपूर्ण कथाओं, कहानियों और उसकी शिक्षाओं को बड़े ही कलात्मक ढंग से उपस्थित किया गया है। वहाँ पर अनेक कहानियों ओर दृश्यों को दिखाया गया हे, वे बुद्ध के जीवन की प्रमुख 4 घटनाओं अर्थात् जन्म, ज्ञान प्राप्ति, प्रथम उपदेश और मृत्यु से सम्बद्ध है। जातकों की

कथायें भी वहाँ अंकित की गई है। पुराने मूर्तिकारों ने इन दृश्यों को पत्थर में इस प्रकार उभारा है कि वे साकार हो उठे हैं। आज का प्रत्येक दर्शक उनकी प्रशंसा करता नहीं थकता। सभी द्वार यद्यपि पत्थर के हैं तथापि ऐसे मालूम होते हैं जैसे उनके सभी अंग लकड़ी के हैं। वह कला उस काल से सम्बद्ध है, जब कारीगर पहले लकड़ी पर खुदाई करते थे और उन्होंने पत्थर पर खुदाई करना प्रारम्भ किया।

कुछ मुद्रायें मिली है जिन पर भूमि मित्र खुदा है, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे कण्व नरेश भूमि मित्र के समय की है किन्तु मुद्रा शास्त्री इस मत से सहमत नहीं है। कुछ लोगों ने सुशर्मा को कण्व वंश का अन्तिम सम्राट मानने की चेष्टा की है। सुशर्मा परिव्राजक वंश का संस्थापक था परन्तु यह मत माननीय नहीं है।

गुप्त युग और उसके काल के कुछ बड़े मन्दिर जो अलंकृत ईटों मृण्मयी मूर्तियों और फलकों से बने हैं।[1] अभी तक इस कला के महत्वपूर्ण पद की सूचना देते हैं। कानपुर के पास भीतर गाँव का मन्दिर, सीरपुर का लक्ष्मण मन्दिर, सारनाथ का छोटा मृण्मय स्तूप, पहाड़पुर का बड़ा स्तूप, जिसकी सजावट में हजारों मिट्टी की मूर्तियाँ लगी थी और महा स्थान के अवशेष इस बात के साक्षी है कि इस कला में इतनी उन्नति की थी। अहिच्छत्राके त्रिमेधि एड्व या शिव मन्दिर में लगे हुए मिट्टी के बड़े फलक बहुत ही सुन्दर कला के परिचायक है। मीरपुर खास में प्राप्त बौद्ध स्तूप के अवशेष मूर्तियों और अलंकृत दृष्टिकाओं की रचना में नये सौष्ठव का परिचय देते हैं। बाण ने कादम्बरी में लिखते हुए चतुर्विधि कलाओं का उल्लेख किया है जैसे– वास्तु कला में स्तम्भ प्रदान होते थे, शिल्प कला जिसमें उत्कीर्णन क्रिया मुख्य होती थी चित्रकलां जिसमें आलेखन प्रधान होता था और पुस्तकर्म जिसमें मिट्टी की मूर्तियाँ और गचकारी का काम मुख्य होता था। उन्होंने अपने युग में इन दृश्यों की ओर हाथ उठाते हुए

---

[1] ई0सी0 हैवेल – इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिग्स, पृ0 73

कहा है कि दिशाएं इन चार कलाओं से भर गयी थी।[1]

गुप्त कला में व्याप्त धार्मिक और आध्यात्मिक संवेदना है। अजन्ता की गुफाओं में देवताओं, ऋषियों, राजाओं, रानियों और उनके अनुचरों के चित्रों से अच्छाई और बुराई का पता चलता है।[2]

गुप्त कला से शैली की सरलता और अभिव्यक्ति की सुगमता का पता चलता है। महान विचारों को प्राकृतिक और सरल ढंग से स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया। बाह्याकार और आन्तरिक अर्थ को उसी प्रकार मिला दिया गया जैसे शरीर और आत्मा मिले हुए हैं।[3]

विद्वानों के विचार में गुप्ता कला प्राचीन भारतीय कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है। इसे केवल भारत में ही विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं हुआ बल्कि बृहतर भारत में भी इसे ले जाया गया। इसने भारत में तथा विदेशों में आश्चर्यपूर्ण सफलताएँ प्राप्त कीं। विशेष कर गुफाओं की दीवारों पर चित्रण कला को मध्य एशिया और चीन में पहुंचाया गया।

मूर्तिकला :-

"गुप्त कला को मूर्तिकला के कारण सम्मान प्राप्त है। कुशल कलाकार की छेनी ने पत्थर को स्थाई सौन्दर्य और लालित्य प्रदान किया। गुप्त मूर्तिकला की सफलता कुषाण मूर्तियों की कामुकता और प्रारम्भिक मध्ययुगीन कला की प्रतीकात्मकता कल्पना के सन्तुलित सम्मिश्रण में है।[4]

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल – गुप्ता आर्ट, 1947, पृ0– 231

[2] रॉलिन्सन– इण्डियन आर्ट, पृ0– 148

[3] महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0– 517

[4] बासुदेव शरण अग्रवाल– गुप्तकालीन कला, पृ0– 37

नग्नता गुप्त कला से पूरी तरह लुप्त हो गई। शारीरिक आकर्षण को छिपाने के लिये गुप्त कलाकार ने वस्त्रों का प्रयोग किया। गुप्त काल की बुद्ध मूर्तियों से स्पष्ट दिखाई देता है। सारनाथ में बेठे हुए बुद्ध की मूर्ति, मथुरा अजायबघर में खड़े हुए बुद्ध की मूर्ति और सुल्तानगंज में बुद्ध की ताँबे की मूर्ति इस कला के नमूने हैं। उनमें केवल बुद्ध की मुस्कान ही नहीं उनकी शान्त चिन्तन मुद्रा भी दिखाई देती है। गुप्त काल की बौद्ध मूर्तियों के सुन्दर घुंघराले बाल हैं। बुद्ध मूर्ति के दीप्ति चक्र में विभिन्न प्रकार के ललित अलंकार प्रयोग किये गये। गुप्त कलाकारों ने पारदर्शक वस्त्र प्रयोग किये। किन्तु मूर्तियों में कला की नवीनता तथा संजीवता दिखाई देती है।[1]

अत्यन्त सुन्दर शिवमूर्तियों में है कुछ गुप्तकाल में ही बनाई गई। यह सत्य है कि लिंग के रूप में शिव की पूजा कुषाण युग में होती थी, लेकिन "एकमुखी" और "चतुर्मुखी" शिवलिंग गुप्त कलाकारों की ही देन है। गुप्त कलाकारों ने शिव के "अर्धनारीश्वर" रूप की रचना भी की जिसमें देवता को आधा पुरूष और आधा नारी दिखाया गया हे।[2]

गुप्त मूर्तियों से ज्ञात होता है कि विष्णु और उसके विभिन्न अवतारों की पूजा उस समय बहुत लोकप्रिय थी। मथुरा से प्राप्त विष्णु की मूर्ति गुप्त नम्य कला का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें संतोष और शान्त आत्म चिन्तन दिखाई देता है। विष्णु की मूर्ति में मानव सिर के साथ वाराह और सिंह के सिर दिखायें हैं। गढ़वाल और मथुरा की विष्णु मूर्तियों में एक केन्द्रीय मानव आकृति के चारों ओर दीप्तिमान सिर दिखायें गये हैं। उदयगिरि की विशाल वाराह मूर्ति (लगभग 400ई0) को गुप्त मूर्तिकारों की कुशलता का स्मारक माना गया है। इसका आकार और सशक्त परिष्कृति इसकी पृष्ठभूमि की छोटे आकार के दृश्यों के सम्मुख सुन्दर विषमता के रूप में प्रस्तुत होती है। दो पार्शिवक दृश्य भी असाधारण

---

[1] वी0ए0 स्मिथ– ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया, पृ0– 178

[2] आर0सी0 मजूमदार– ए हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपुल– वोल्यूम–3, द क्लासिकल एज, पृ0– 33–34

महत्व लिए हुये हैं, जिनमें गंगा, यमुना के जन्म, प्रयाग में उनके संगम और सागर में उनके विलीन होने के दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। सम्पूर्ण दृश्य में कविता की संवेदना है और सम्भवतः इसमें मध्य प्रदेश को आदर्श रूप में दिखाया गया है जो विशाल साम्राज्य का केन्द्र था। इसके चिन्ह थे– गंगा और यमुना देवियां, जो अपने–अपने वाहन मगर और कछुए पर खड़ी हैं।[1]

गुप्त कलाकारों नें विष्णु और शिव के विभिन्न अवतारों की कथाओं को कुशलता पूर्वक व्यक्त किया है। देवगढ़ मन्दिर में राम और कृष्ण की काव्य कथाओं के दृश्यों को चित्रित किया गया है। कृष्ण से संबंधित किवंदन्तियां भी दिखाई गयी हैं जैसे– कृष्ण का गोकुल जाना, दूध की गाड़ी को ठोकर मारना, कंस को बालों से पकड़ना आदि। एक दृश्य में कृष्ण, रूकमणी और सुदामा को इकट्ठे दिखाया गया है। "रामायण" के कुछ दृश्य भी प्रस्तुत किये गये हैं, जैसे– राम–लक्ष्मण और सीता का वन प्रस्थान, अगस्त्य ऋषि से उनकी भेंट, लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा की नाक काटना आदि। "गजेन्द्र मोक्ष अंनन्त पर लेटा हुआ विष्णु और हिमालय में नर तथा नारायण, जिन्हें देवगढ़ के मन्दिर में चित्रित किया गया है, हिन्दू मूर्तिकला की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में है।"[2]

भवन निर्माण कला :–

जबलपुर जिले में टिगवा स्थित विष्णु मंदिर, भूतपूर्व नागोड़ राज्य में भूमरा स्थित शिव मंदिर भूतपूर्व अजयगढ़ राज्य में नचना कुठार स्थित पार्वती मन्दिर, सांची तथा बोधगया के बौद्ध मन्दिर, देवगढ़ में दशावतार मन्दिर, असम के दागर जिले में ब्रह्मपुत्र के तट पर स्थित दाह पार्वतिया का मन्दिर और भूतपूर्व नागोड़ राज्य में खोह स्थित शिव मन्दिर, गुप्त काल के अवशिष्ट मन्दिर हैं।[3] इस मन्दिर

---

[1] वासुदेव शरण– गुप्तकालीन कला, पृ0 67

[2] के0एम0 शेमबवनेकर– द ग्लेमर अवाउट गुप्ताज, बम्बई– 1953, पृ0– 58

[3] पर्सी ब्राउन– इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस एण्ड हिन्दु) पृ0–115

से प्राप्त उत्तम "एकमुखी" लिंग तथा "गणों" को चित्रित करने वाली बहुत सी मूर्तियां अब इलाहाबाद अजायबघर में रखी हुयीं हैं, इनके अतिरिक्त गुप्तकाल के ईटों के बने हुये मन्दिर कानपुर जिले के भीतर गांव बंगाल में पहाड़पुर तथा मध्यप्रदेश में सीरपुर में भी स्थित है। भीतर गांव के मन्दिर की छत शुण्डाकार है। इसकी दीवारों को टैराकोटा की पट्टियों से सजाया गया है। उनमें हिन्दू पौराणिक कथायें प्रस्तुत की गयी हैं। डा0 अग्रवाल ने लिखा है कि इस मन्दिर का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें भारत की पूर्वतम् वास्तविक मेहराव पायी गयीं हैं।[1]

पत्थरों के बने हुये मन्दिर छोटे–छोटे और सामान्य है। उन्हें केवल मूर्तियों के लिए बनाया गया है और उपासकों के लिए उनमें कोई स्थान न था, उनकी छत प्रायः चपटी है। पत्थर तरासी बहुत अच्छी की गयी है, उनमें किसी प्रकार का गारा चूना नहीं लगाया गया है, उनमें ऊँचे "शिखर" या बड़े–बड़े "मण्डप" नहीं हैं। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर का शिखर शुरू में 40 फुट ऊँचा था। पर्सी ब्राउन के अनुसार पूर्णावस्था में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर इसके विभिन्न भागों के क्रम की दृष्टि से असाधारण था। कहा गया है कि बहुत कम स्मारकों में देवगढ़ के मन्दिर की सी कारीगरी दिखाई गयी है। इस मन्दिर की मूर्तिकला में परिपक्वता और परिष्कृति दिखायी देती है।[2] यह उल्लेखनीय है कि मूर्ति स्थान का प्रवेश द्वारा ही गुप्तकालीन मन्दिरों के मुख्य आकर्षण का केन्द्र था।

जौलियां, चासंगा और पुष्कलवती के पास प्राचीन स्थानों में पाये गये बौद्ध स्तूप पूजा स्थान तथा विहार उल्लेखनीय हैं। मुहरा मराडू में एक सभा सदन, जलपान गृह, रसोई भण्डारागार तथा शौचालय मिले हैं। सारनाथ में की गयी खुदाई से एक बुद्ध मन्दिर तथा बहुत विहार निकले हैं।[3]

---

[1] सी0कार0– क्लासीकल इण्डियन स्कल्पचर, पृ0 146

[2] वी0 उपाध्याय– गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ0 118

[3] पर्सी ब्राउन– इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिष्ट एण्ड हिन्दु) पृ0– 119

राजगीर में जरासंध–की–बैठक में पाया गया स्तूप तथा सारनाथ में धामेख स्तूप भी गुप्तकाल के हैं। सारनाथ का स्तूप 128 फुट ऊँचा है। इसके चारों कोणों पर बुद्ध की मूर्तियों के चार गवाक्ष बने हुए हैं। नरसिंह गुप्त बालादित्य ने नालन्दा में ईटों का एक बौद्ध मन्दिर बनवाया। यह 300 फुट ऊँचा था।[1]

गुप्तकाल की मुख्य गुफायें अजन्ता और आन्ध्रदेश की हैं। गुप्तकाल में अजन्ता में चैत्य तथा विहार गुफाएँ खोदी गयी। विहार गुफायें 13 और 17 नं0 तथा चैत्य गुफा 19 नं0 अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ये गुफायें गुप्तकाल की सर्वोत्कृष्ट कलाकृतियां हैं। प्रत्येक गुफा में बहुत से स्तम्भ है उनकी सुन्दरता तथा भिन्नता विशिष्ट हैं। मुगलराजपुरम्, उण्डवल्ली तथा अक्कान्नामदन्ना की गुफायें भी गुप्तकालीन हैं। उनके शिल्पकला सरल हैं। उनके स्तम्भ सादे किन्तु भारी हैं। भोपाल के निकट उदयगिरि के गुफा मन्दिर का कुछ भाग तो चट्टान में काटा गया है और कुछ पत्थरों से बनाया गया है।[2]

टैराकोटा :–

टैराकोटा भी गुप्तकाल की एक मुख्य शाखा थी। गुप्तकाल की मिट्टी की मूर्तियां बनाने वाले कलाकार सुन्दर वस्तुयें बनाते थे, इससे वे लोकप्रिय थे। मिट्टी की वस्तुयें निर्धनों की कला बन गई। इस प्रकार गुप्तकला सर्वसाधारण में लोकप्रिय बन गई।[3] टैराकोटा मूर्तियां तीन प्रकार की हैं – देवता तथा देवियां, पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग आकृतियां और पशुओं की छोटी आकृतियां तथा फुटकर वस्तुयें। विष्णु, सूर्य, दुर्गा, गंगा और यमुना की आकृतियां बहुत ही बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। उन मिट्टी

---

[1] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0– 522

[2] वी0ए0 स्मिथ– हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, 1930, पृ0 107

[3] आर0सी0 मजूमदार– द क्लासिकल एज, पृ0 109

की आकृतियों को पकाने का काम काफी कठिन रहा होगा। ईरान और मध्य एशिया की विदेशियों की बहुत सी आकृतियां भी मिली हैं। हाथी सवारों, विदूषकों तथा बोनों की बहुत सी आकृतियां मिली हैं। राजघाट में पायी गयीं टैराकोटा मूर्तियां इतनी सजीव हैं कि मानों मिट्टी में गीत मुखरित हो उठे हों। उस समय की प्रचलित सच्ची कला की आत्मा इन टैराकोटा की आकृतियों में पायी जाती हैं। गुप्तकाल के कलाकार के लिए यह सच्चाई से कहा जा सकता है कि उसने जिस वस्तु को भी हाथ लगाया उसे अति सुन्दर बना दिया।[1]

गुप्त युग में कला की दृष्टि से सुन्दर खिलौन बनते थे किन्तु उन्हें और भी सुन्दर बनाने के लिए उनपर केश, आँख, वस्त्र आदि की सजावट रंगविरंगी चित्रकारी से की जाती थी। ऐसे कई नमूने अहिछत्रा, राजघाट, मोटा आदि की खुदाई में मिले हैं।[2] गुप्तकाल में बड़े आकार की भी मूर्तियां बनाई जाने लगीं। अहिछत्रा से शिवमंदिर में लगी गंगा और यमुना की लगभग वायपरिमाण मूर्तियां मिली हैं। इस सम्बन्ध में साहित्यिक उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। वाण ने लेप्यकार और पुरववृत्त नाम से मिट्टी और गचकारी के खिलौने बनाने वाले को ढंग के कारीगरों का उल्लेख किया है। बुद्ध कोष में मिट्टी की इस कला को पोत्यक रूप कहा गया है। हाथी दांत के काम को दांतरूप और ढलाई के काम को लोटरूप कहा है। बाण की अपनी मित्र मंडली में मनचाहे खिलौने बनाने वाला कुमार दत्त नामक एवं पुस्तवृत उसका विशेष मित्र था। राजशेखर ने लिखा है कि राज्यसभा में लेप्यवृत्त को भी चित्रकार, स्वर्णकार, वैकटिक आदि के बराबर स्थान मिलना चाहिये। हरिश्रेण ने लिखा है कि राजा की आज्ञा से एक पुस्तवृत बहुत बड़ी गचकारी की मूर्ति बनाने के काम पर लगाया गया, इससे उन मूर्तियों का स्मरण होता है जो नालंदा के विहार और मन्दिरों में बच गयीं हैं।[3]

---

[1] वासुदेव शरण– गुप्तकालीन कला, पृ0 97

[2] रीता शर्मा– प्राचीन भारत, पृ0 178

[3] कादरी– प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 207

चित्रण कला :-

चित्रण कला गुप्तकाल में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। गुप्त चित्रों के अति उत्तम उदाहरण अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर, ग्वालियर की बाघ गुफाओं में, पुद्दुवकोहई के सीतान्नावासल मंदिर में और लंका में सिगीरिया की चट्टानों में काटे गये सदनों में पाये जाते हैं। आरम्भ में अजन्ता की अधिकांश गुफाओं में चित्र थे। अब वे केवल कुछ ही गुफाओं में दिखाई देते हैं। उन चित्रों के तकनीक का जहाँ तक सम्बन्ध है– पिसे हुए पत्थर, गोबर, मिट्टी और भूसे के साथ तल बना लिया जाता था। करणी के साथ उसे समतल कर लिया जाता था और सूखने बाद कलाकार स्पष्ट रूपरेखा से चित्र बनाते थे।[1] "इन चट्टानों से कटे मन्दिरों की सैकड़ों दीवारों और स्तम्भों पर हम एक विशाल नाटक देखते हैं जिसे राजकुमारों, ऋषियों और नायकों तथा प्रत्येक स्थिति के पुरूषों तथा स्त्रियों ने अलौकिक विभिन्न पृष्ठभूमि में खेला। जंगलों तथा घने वनों में उन्हें विभिन्न कार्यों में व्यस्त दिखंया है।

गुप्त चित्रकारों ने बुद्ध के जीवन की घटनाओं को भी चित्रित किया। गुफा नं0 16 के "मृत्यु शैया पर राजकुमारी" नामक दृश्य की ग्रिफिथ्स, बर्जेस और फर्गुसन ने सराहना की है। "करूणा और विचारों की दृष्टि से और अपनी कथा कहने के ठीक ढंग की दृष्टि से मेरे विचार में कला के इतिहासय में इससे अधिक श्रेष्ठ चित्र बनाना संम्भव नहीं है। फ्लोरेन्स का कलाकार अधिक अच्छी रूपरेखा बना लेता और वेनिस का कलाकार अधिक अच्छे रंग लगा सकता किन्तु उनमें से एक भी इससे अच्छी पृक्रति के सौन्दर्य को प्रस्तुत न कर सकता।[2] गुफा नं0 17 की ठीक ही चित्रालय कहा गया है। शेर तथा काले हिरण और हाथी के शिकार के दृश्य अति सुन्दर है। ये चित्र प्रकार और छाया

---

[1] एच0जी0 रॉलिन्सन– इण्डिया, ए शॉर्ट कल्चरल हिस्ट्री, पृ0– 154

[2] ग्रिफिथ्स– अजन्ता फेरकीज, पृ0 97

के क्रम पर बनाये गयें हैं। जिनकी तुलना इटली मे सत्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं की जा सकती है।[1]

मालवा की बाघ गुफाएं भी अजन्ता की गुफाओं की कोटि की हैं। नमूनों की विभिन्नता वहां विद्यमान है। कला कौशल में वे सजीव हैं। उनमें से अधिकांश चित्र धर्म निरपेक्ष हैं। गायन तथा नृत्य की स्वच्छन्दता से प्रयुक्त किया गया है।

लंका में सिगीरिया के चित्रों में कुलीन स्त्रियों का जुलूस चित्रित है जो एक बौद्ध मन्दिर की ओर जा रहीं हैं। उनके साथ उनकी दासियां हैं, जिन्होंने पूजा सामग्री उठा रखी हैं। कला अति उच्चकोटि की है।[2]

कला के समालोचकों का कथन हे कि गुप्तकला की रूपरेखा की कोमलता रंगों की उज्ज्वलता और अनुपम भावपूर्णता उसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। इन्हीं लक्षणों ने गुप्तकाल के चित्रों को सदा के लिये सर्वोत्तम बना दिया है।

"सुन्दर मूतिर्यों सहित कुछ टूटे भाग यह बताते हैं कि गुप्तकला के भव्य पत्थरों के मन्दिर बनारस के निकट सारनाथ तथा अन्य स्थानों पर थे। सारनाथ गुप्तकाल की आकृतियो और नक्काशी के लिये भरपूर भण्डार सिद्ध हुआ है। जिनमें से कई समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के समय के उच्चकोटि के नमूने हैं। गुप्त कलाकार धातुओं के काम में भी कम दक्ष नहीं थे। समुद्र गुप्त के समय में जंग न लगने वाले लोहे का बनाया हुआ दिल्ली का स्तम्भ धातुशोधन में कुशलता का अद्‌भुत नमूना है। तांबे की मूर्तियां बनाने का कार्य विशेष सफलता के साथ किया गया।[3] छठी शती के अन्त में

---

[1] लैडी हैरिंघम– अजन्ता फ्रेस्कोज , पृ0– 102

[2] वी0ए0 स्मिथ– हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्टइन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ0 110

[3] पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्कीटेक्चर बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू, पृ0 122

बिहार में नालन्दा के स्थान पर बुद्ध की 80 फुट ऊँची ताँबे की मूर्ति स्थापित की गई और साढ़े सात फुट ऊँची बुद्ध की सुल्तान गंज मूर्ति अब भी बकिघंम के आजयबघर में देखी जा सकती है। यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की है। कला के उच्चतम विकास का काल पाँचवी शती को माना जा सकता है जो कालिदास का समय भी था अर्थात चन्द्रगुप्त द्वितीय और उसके पुत्र का राज्यकाल अजन्ता की दो सवोत्कृष्ट गुफाएं 16 तथा 17, उस गौरवमयी शताब्दी में ही खोदी गई थीं।[1] अजन्ता की गुफाओं की चित्रणकाल की उच्चकोटि की व्याख्या करना अनावश्यक है क्योंकि अब उसे निःसंकोच स्वीकार किया जाता है। एक डेनिश कलाकार ने अमूल्य व्यवसायिक समालोचना प्रकाशित की है। उसने कहा है कि "वे विशुद्ध भारतीय कला के उच्चतम विकास के द्योतक हैं। सम्पूर्ण चित्र से लेकर छोटे से छोटे मोती या फूल तक सभी कुछ अन्तर्दृष्टि की गहराई तथा महान तकनीकी कुशलता के प्रमाण हैं।" लंका की उनसे मिलती जुलती सिगीरिया की चित्रण कला स्कन्दगुप्त के राज्य के शीघ्र पश्चात 479 से 497 ई0 तक के काल में सम्पादित की गई।[1]

"गुप्तकला वास्तव में पुनुरूत्थान है जिसका कारण चौथी तथा पांचवी शती ई0 में उत्तरी भारत के लोगों के विचारों में परिवर्तन था। इस परिवर्तन का आधार पुराने लक्षणों को मिलाना, विदेशी लक्षणों को निकाल बाहर करना और पूर्णतः नये तथा एकदम भारतीय विचारों का क्रमबद्ध रचना करना था।"[2]

---

[1] श्री यजदानी- अजन्ता (लन्दश्न, 1930) पृ0- 58

[2] आर0डी0 बनर्जी- द एज ऑफ द इम्पीरियल गुप्ताज, 1933, पृ0- 132

गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने एक प्रकार की स्वर्ण मुद्रा चलाई जो कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट है। सिक्के पर सम्राट की जो छवि उत्कीर्ण है उसके लिए ''रूपाकृति'' नामक युक्ति संगत शब्द का व्यवहार हुआ है।[1] इस शब्द से यह भी ध्वनित है कि चन्द्र गुप्त की आकृति शोभनीय थी। मूर्तिकाल में ऐसी बहुसंख्यक छवियां मिली है जो समाज के उच्चवर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक की है। उनके अध्ययन से विभिन्न वर्ग के स्त्री–पुरूषों की आकृतियों का ज्ञान होता है। साथ ही उनकी वेश–भूषा, आमोद–प्रमोद आदि प्रवृत्तियों की जानकारी भी मिलती है। मूर्तिकाल तथा सिक्कों के अलावा प्राचीन चित्रकला में भी लौकिक छवियों का अंकन है। नर्मदा, चम्बल, बेतवा, आदि नदियों के तटों पर बहुसंख्यक जन, शिलागृहों में रहते थे। अनेक गुफाओं में उनमें निवास करने वाले लोगों द्वारा निर्मित चित्र सैकड़ों की संख्या में मिले हैं। उन चित्रों से आदिम जनों की आकृतियों का तथा उनके परिवेश और वेश–भूषा का पता चलता है। ऐतिहासिक युग में अजन्ता, बाघ, सित्तन्नवासल आदि स्थलों में चित्रकला का विकास हुआ। इन चित्रों में देवी–देवताओं के अलावा समाज के विविध वर्गों के लोगों के चित्रण विशेष महत्व के हैं। उनमें शिकारियों, सेवकों तथा अन्य वर्ग के लोगों को दिखलाया गया है।[2]

यूनानियों के बाद शक–कुषाण राजाओं ने भारत के एक भाग पर पर्याप्त समय तक शासन किया। शकों तथा कुषाण राजाओं की विशालकाय मूर्तियों मथुरा में माठ नामक स्थान से तथा अफगानिस्तान में सुर्खा कोतल से मिली है।[3] कुछ समय पहले मध्य एशिया के अनेक स्थलों से भी शक–कुषाण राजाओं की मूर्तियां मिलने से यह प्रमाणित हुआ है। कि इन राजाओं ने ''देव–पुत्र'' की कल्पना को चरितार्थ किया। अनेक कुषाण राजाओं ने देवकुलों की स्थापना कराई, उनमें शिव आदि देवताओं के स्थान पर शासकों की मूर्तियों स्थापित होती थीं और उन्हें देवों के समान प्रतिष्ठित किया

---

[1] जे0 एलन– केटेलॉग ऑफ कोइन्स ऑफ द गुप्ता डायनेस्टी, पृ0 42

[2] महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0– 519

[3] मजूमदार– एशिस्ट इण्डिया, पृ0– 470

जाता था[1] मथुरा से शकराज राजकुल की पत्नी कम्बोजिका की स्लेटी पत्थर की मूर्ति मिली है। इस प्रकार की शासक वर्ग की आकृतियाँ प्राचीन मुहरों पर भी प्राप्त हुई है। ये मुहरें अनेक प्रकार के पाषाणों में उत्कीर्ण की गई। इन पाषाणों में गोमेध तथा स्फटिक विशेष उल्लेखनीय है। कतिपय शासकों तथा समाज के अन्य वर्ग के लोगों की आकृतियाँ धातु, हाथी–दाँत तथा मिट्टी की बनी हुई मुहरों पर भी मिली है।[2]

साहत्य और कला में मूत्तिशास्त्र के उसके पक्ष का प्रतिनिधित्व लौकिक आकृतियां करती हैं। ये प्रतिमायें शासक वर्ग समाज के संभ्रान्त वर्ग, आचार्यों, कृषकों तथा निम्न वर्ग के लोगों की है। राजाओं और रानियों के चित्रण शुंग–सात वाहन कला में पर्याप्त रूप में मिले हैं। इसके पश्चात् उनकी संख्या में बहुत बृद्धि हुई सिक्कों के प्रचलन के साथ–साथ शासकों की छवियाँ मुद्राओं पर उकेरी गई। समसामयिक होने के कारण उन छवियों का विशेष महत्व है कृषाणों, क्षत्रपों तथा गुप्त शासकों की मुद्राओं पर राजवर्ग के अतिरिक्त देवों तथा समाज के कुछ अन्य वर्गों के भी चित्रण उपलब्ध है उनसे तत्कालीन समाज की सामाजिक आर्थिक दशा पर प्रभाव पड़ता है।[3]

देव प्रतिमएं एवं लौकिक प्रतिमायें :–

श्री लक्ष्मी, नाग, सूर्य, चन्द्र, वामन, विराट, त्रिविकम विष्णु, सुदर्शन चक्र, अर्द्धनारीश्वर, कुमार गणपति, अदिति, अभयतः शीर्ष्णो अद्विति, मातृदेवी, शिवलिंग, सींगधारी त्रिमुखी देवता, अम्बिका समुद्र स्वास्तिक, देवासुरम, त्रिविकम ज्योर्तिलिंग, सुपर्ण, महिष, पूर्णकुम्भ, चक्रयूप,

---

[1] बी0एन0 मुकर्जी– स्टडीज इन कुषाण जैनेओलाजी एण्ड क्रोनोलाजी, वोल्यूम–1, पृ0– 196, 169

[2] विरहेड– इण्डोग्रीक कॉइन्स, पृ0– 88

[3] बी0एन0 पुरी– इण्डिया अण्डर कुषाण राज, 1965, पृ0– 110

सप्तरत्न, पद्‌म या पुष्कर, कल्पवृक्ष, समेरू, बूद्ध महावरी स्वामी आदि अनेकों छवियों का अंकन है ये सभी देव प्रतिमाओं को श्रेणी में आते हैं। पुरूष तथा स्त्रियों की विभिन्न भाव–भगमाऐं, पशु–पक्षियों में हाथी, सिंह, घोड़ा, बकरी, चीता तथा अन्य आकृतियों के साथ–साथ अनेकों प्रसाधन सामग्री के चित्र तथा वंशानुसार राजाओं के छवि अंकन भी प्रकाश में आते हैं।

पशु और सरीसृप :–

मत्स्य, कुर्म, वराह, मकर, गोधा, मृग, सिंह, अश्व हस्ती, गो, नाग, अज, नकुल, व्याल आदि विक्ट ईहामृग जो संयुक्त क्लेवर के रूप में अंकित हैं।

पक्षी :–

गरूण, सारस व येन आदि।

मानव :–

मुनि, अष्टकन्यायें, अष्टादि कुमारिकाएं, चक्रवर्ती, सातवहनें, नरः कुबेर के विशेष वाहन, शिशु, देवयोनि।

अर्धदेव :–

नाग, यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, सुपर्ण, कुम्भाण्ड, लोकपाल, अप्सराऐं, वृक्षकाऐं, चतुर्महाराजिकदेव।

लता वनस्पति :–

वृक्ष, कल्पवृक्ष, कल्पलता, पद्‌म, पीपल, वट, माला, गुचवुन्द, ताल तथा और भी वल्लरी– प्रधान अलंकरण।

अवचेतन पदार्थ :-

पात्र, मणि, भद्रमणि, कौस्तुभ, शंख, मुक्ता, अष्टनिधिमाला, कण्ठा, हार, छत्र, नकुलो (थैली) रथ, विमान, राक्ट पर्वत, नदी, वारूणी घट, पूर्णघट, कार्षापण, मेखला, चामर, आदर्श (दपर्ण) यूप (स्तम्भ) स्थूनाराज (बड़ा खम्भा) स्तूप, देवगृह, कुटी या पर्णशाला, कंगूरे, - विषाण, रत्न, मुकुट, चंगेरी, पुष्परत्न, माल्य, वस्त्र पन्चपट्टक या अलंकार आदि की वीणा, वंशी, मृदंग, मजीरे, देव वाद्य इत्यादि।

शस्त्रास्त :-

त्रिशूल, शूल, वज्र, चक्र या रथांग, धनुष, वाण, हल, मुसल, गदा, खड़ग, खद्वांग, चर्म, ढाल, कवच इत्यादि।

अभिप्राय और प्रतीक :- स्वास्तिक, श्रीवत्स, श्रीचक्र, श्रीवृक्ष, त्रिरत्न, नन्दपद, चक्र, पन्जक, (थापा) आदि

इन प्रतीक चिन्हों की प्रतिमाओं के लक्षणों में स्वीकार करने की पूरी छूट थी। इन प्राचीन मांगलिक प्रतीकों के प्रचार और स्वीकरण के अध्ययन से भारतीय कला के कितने ही रूपों को समझा जा सकता है।

भारतीय कला के विकास का मूल हेतु यही था कि इसका स्रोत और प्रेरणा धार्मिक एवं भद्रात्मक हैं। वैदिक साहित्य में ब्रह्म की शक्ति के रूप में अनेक देवता और भौतिक जगत के पदार्थों का अनेक प्रकार से उल्लेख आता है। वे लोक और मानव के लिये मंगलात्मक है। और वो उनके विपरीत हैं वह अभ्रद या अमंगलकाय है। वैदिक युग में इस प्रकार के अनेक भद्ररूपों की कल्पना की गई।

सहृदय विश्लेषण एवं आध्यात्मिक सुख :-

छवि अंकन में आरम्भ से ही मनुष्य के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं, एक तो किसी

स्मृति या अतीत को जीवित बनाये रखना तथा दूसरे अमूर्त को आकृति प्रदान करना। किसी भाव को आकार प्रदान करना। यदि हम विश्व की सभी कलाकृतियों की विवेचना करें तो हमें उनके पीछे इन्हीं प्रेरणाओं का हाथ मिलेगा।

हाथी और घोड़े की आकृतियाँ बनाकर मनुष्य ने अपने आस–पास के जन्तु जगत की ओर इशारा किया। इसी प्रकार मनुष्य की आकृति भी विभिन्न धातुओं से निर्मित की। इन्हें बनाकर मानव ने अपनी अमूर्त आध्यात्मिक भावना को भौतिक रूप प्रदान किया। देखा जाय तो मानवता का विकास वस्तुतः इन्हीं दो विशेषताओं पर अवलम्बित है– अतीत का संरक्षण और अव्यक्त की मूर्त अभिव्यक्ति।[1]

भारतीय कला चार सहस्त्र वर्षो से भी ज्यादा पुरानी है। कला के माध्यम से जनता के घरेलू और सामाजिक जीवन का अपूर्व चित्रण कलाकारों ने किया है। कला भूमि में बुद्ध भूल है तथा जनता को सहज सुख देती है।

भारतीय कला में भारत की संस्कृति और आध्यात्मिकता के सन्देश भरे पड़े हैं। भारतीय कलाकृतियाँ स्वाभाविक है क्योंकि इनका सम्बन्ध कलाकार के मनोराज्य व कल्पना जगत से है। भारतीय कला में सभी रस है। भारतीय कलाकारों ने हर बात हृदय से व्यक्त की है। वह अपनी हर अभिव्यक्ति में सफल हुआ है। कलाकार अनुभूति और अभिव्यक्ति में सहानुभूति है। अतः रचना में रस है, रमणीयता है।

भारतीय कला में दो प्रकार की कलाकृतियाँ है, एक तो ऐतिहासिक दूसरी धार्मिक या कह सकते हैं एक देवीय और दूसरी लौकिक। वस्तुतः आध्यात्मिक भावना में उपासना में– जो अतीन्द्रिय बुद्धिग्राह्य आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है और रागात्मक अभिव्यक्ति में जो लोकोत्तर सुख है वह और कुछ नहीं है, बस निराकार को, बुद्धिग्राह्य की अर्थात् भाव को साकारता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में मूर्ति, चित्र, कविता और संगीत के रूप में परिवर्तित करना है। भारतीय कला में इन्हीं दो लक्ष्यों का विशेष ध्यान रखा गया है।

---

[1] राधाकृष्ण – भारतीय दर्शन का इतिहास 1940, पृ0 28

अध्याय-२
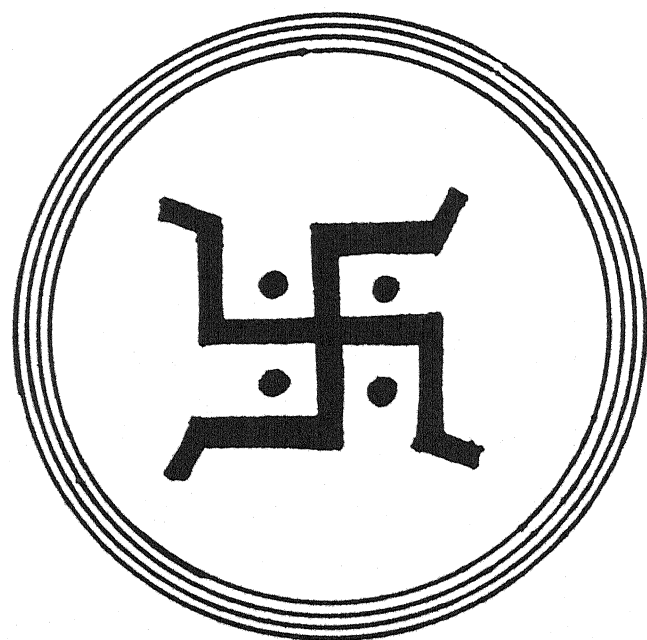
वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में रूपाकृतियाँ
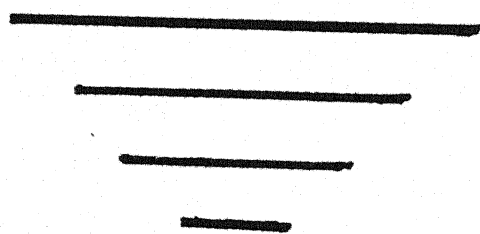
सैंधव सभ्यता का अन्त 1600 ई0पू0 के लगभग हुआ, यह प्रायः निर्विवाद है। उस सभ्यता का अन्त सम्भवतः बाहरी आक्रमण से हुआ और आक्रांता ऋग्वेदिक आर्य थे। आर्यों का मूल निवास प्रमाणतः दक्षिणी रुस में था, जहाँ से उनके कुछ कबीले कृष्ण सागर के तीर अथवा उससे भी दक्षिण पश्चिम की राह अनातोलया की ओर निकल गये और "खत्ती" कहलाये।[1] प्राचीन अभिलेख साहित्य में पहली बार खत्तियों ने ही अपने को "आर्य" कहा। दूसरी ओर कृष्ण और कैस्पियन सागरों के बीच जार्जिया की राह ईरान और ईराक के उत्तरी भागों से पश्चिम में तुर्की में उतर आये भारतीय आर्यो के कबीले और पहले पूर्व की ओर चले गये थे, जिनमें कुछ ईरान में बस गये जिन्होंने कालान्तर में "अवेस्ता" का प्राणयन किया। भारतीय आर्यो के ऋग्वेदिक प्रारम्भिक कबीले भारत में सम्भवतः 200 ई0 पू0 के लगभग ही आने लगे थे और उनकी निरन्तर प्रवेश करती आती धाराओं ने 1500 ई0पू0 के आसपास सिंधु घाटी की द्राविड़ सभ्यता को उखाड़ फेंका।[2]

द्रविड़ जाति जब भारत पर राज्य कर रही थी, तब भारत में आर्य लोग आये इन्हीं की सभ्यता का सिक्का देश में चला दूसरी जातियों के लोग इनसे मिल गये। आर्यो का पता हमें वेदों से चलता है। भारत में आने से पूर्व ये लोग बहुत उन्नति कर चुके थे। वे अपने देवताओं की पूजा गाकर करते थे। भारत में बसने के पश्चात् जब उन्हें शान्ति मिल गई तो आर्यो ने इन ऋचाओं और भजनों को एक जगह जमा किया और चार भागों में बाँट दिया।[3]

पहला भाग सहिंता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समय पाकर प्रत्येक संहिता के साथ वे ग्रन्थ भी कर दिये जिन्हें ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद कहते थे। इन ग्रन्थों का सम्मिलित नाम वेद

---

1. भगवत शरण उपाध्याय – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 38

2 राधा कुमुद मुकर्जी – प्राचीन भारत, पृ0 27–29

3 एल0पी0 शर्मा – प्राचीन भारत, पृ0 33

हुआ। यद्यपि बोलचाल में संहिता को ही वेद कहते हैं। इसलिए इस काल को जिसमें वेदों की रचना हुई वैदिक काल के नाम से पुकारते हैं।

धार्मिक विचार :-

वेद शब्द संस्कृत भाषा के विद् शब्द से बना है। इसका अर्थ है ज्ञान होना।[1] हिन्दू वेदों को "अपॉरूपेय" या ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं उनकी दृष्टि में ये शाश्वत है। यह कहा जाता है कि इनकी रचना ईश्वरीय प्रेरणा के आधार पर ऋषियों ने की। हमें इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि इन मंत्रों की रचना प्राचीन ऋषियों द्वारा ही हुयी थी। उन ऋषियों के पश्चात् ये वेद पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे हैं। जब इण्डो-आर्य पंजाब के मैदानों में बसे, तभी उन्होंने इन मंत्रों को संकलित करके पुस्तक का रूप प्रदान किया। वैदिक रचनायें विभिन्न व्यक्तियें द्वारा विभिन्न कालों में लिखी गयी। समय-समय पर निम्न जातियों के स्त्री-पुरूष भी इनके रचयिता रहे हैं। हिन्दुओं ने वेदों को पवित्र समझा और उन्हें कंठस्थ कर लिया।[2]

- इसीलिए वेदों को "श्रुति" कहते हैं। वेदों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखा गया। किसी व्यक्ति को उनमें परिवर्तन करने की आज्ञा न थी। उन्हें बिना समझे रट लिया जाता था और जब किसी पाठ को बिना समझे रट लिया जाये तो उसमें मंत्रों व अक्षरों को परिवर्तन करने की सम्भावना ही नहीं रहती।[3]

ऋग्वेद आर्यो का सबसे प्राचीन वेद कहा जाता है, इसके बाद सामवेद, यजुर्वेद और

---

[1] दास गुप्ता - हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ0 251

[2] सदाशिव आल्तेकर - सोर्सिस ऑफ हिन्दू धर्म इन इट्स सोशियो-रिलीजियस आसपेक्ट्स, पृ0 48

[3] वी0डी0 महाजन - प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 33

अथर्ववेद की रचना हुई। इन वेदों की रचना भिन्न–भिन्न काल में हुई, इसी कारण उनके भावों में अन्तर पाया जाता है।[1]

वैदिक काल के इतिहास पर एक दृष्टि डाली जाये तो हम पायेंगे कि उस समय के निवासी धार्मिक विचार रखते थे और कई देवी देवताओं की पूजा करते थे। कुछ मनुष्य केवल एक ईश्वर को मानते थे। यज्ञ करना और ईश्वर की पूजा करना वेदों का आदेश है।

देवी देवताओं के प्रतिमाओं के लक्षण :–

वैदिक युग में सर्वोत्तम मंगल प्रतीक पूर्णतया भद्रकलश था। कहा गया है कि प्रत्येक घर में पूर्ण कुम्भधारिणी स्त्री के मांगलिक चिन्ह की प्रतिष्ठा की जाती थी। ऋग्वेद में भद्र का पर्याय मंगल और सब प्रकार मंगलों की अधिष्ठापी वधू को सुमंगली कहा गया। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में अग्नि को मंगलों का विधान करने वाला कहा गया है। सब मांगलिक प्रतीकों में श्रेष्ठ चिन्ह स्वास्तिक है। यह सूर्य का प्रतीक था, क्योंकि सूर्य जीवन के सब मंगलों का स्रोत है। जीवन के स्वास्ति भाव का प्रतीक ही स्वास्तिक है। द्यावा पृथ्वी के मण्डल के चतुर्मुखी आधार का प्रतीक स्वास्तिक है। सूर्योदय और सूर्यास्त के साथ सम्बन्धित चार दिशाओं का मूर्तरूप स्वास्तिक में देखा जाता है। इसे ही दिक् स्वास्तिक कहते हैं। स्वास्तिक का मण्डल की दिक् चक्रवाल है। स्वास्तिक की चार भुजाओं को यदि दिक् चक्रवाल से घेर दें तो वही सुदर्शन चक्र बन जाता है।[2]

धार्मिक विचार और कर्मकाण्डीय विधि के रूप में मंगल प्रतीक समाज के हर स्तर पर व्याप्त हो गये, बड़े और छोटे सभी उनकी ओर आकृष्ट हुए। मांगलिक चिन्ह इस प्रकार बुद्ध मूल हो

---

[1] सेमिला थापर – भारत का इतिहास, पृ0 25

[2] असगर अली कादरी – प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 43

गये कि उनकी परम्परा आज तक चली जाती है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण सभी धर्मो में उन्हें स्वीकृत किया गया, जैसे– स्वास्तिक, चक्र, पूर्णतया श्रीलक्ष्मी सब धर्मो में मान्य हैं। इनमें धार्मिक स्वत्व की कल्पना नहीं है, किन्तु ये सार्वजनिक पूजा मान्यता के अंग थे। स्तूपों के अलंकरण में पूर्ण पंक्ति, चक्र पंक्ति, पद्ममाल्य, आदि का सन्निवेश पाया जाता है। नगर की पंचरक्ता पंक्तियों में भी इनकी गणना की गयी है। जैसे– उदवनिःसव नाग, करोटपाणि देव, मालाधारी देव, सदामत्तक देव, चार महाराज देव या लोकपाल देवता। घरेलू वास्तुकला में भी शंख और पद्म प्रतीकों को अपनाया गया जो द्वार के पार्श्व स्तम्भों पर उत्कीर्ण किये जाते थे। कालक्रम से पूर्व युग के प्रतीकों का अनेकों भाँति से विस्तार हुआ। आहत मुद्राओं पर लगभग पाँच सौ चिन्ह मिलते हैं।[1] जनपद मुद्राओं पर भी इनकी संख्या और रूपों में वृद्धि हुई। मिट्टी की मुद्राओं पर भी मांगलिक चिन्हों का विस्तार पाया जाता है।

देवी और देवताओं की प्रतिमाओं का लक्षण निश्चित करते समय धार्मिक प्रतीकों की आवश्यकता हुई। इसके लिए धार्मिक आचार्यो और शिल्पियों ने प्राचीन मांगलिक चिन्हों पर ध्यान दिया और उन्हें विभिन्न देव मूर्तियों के लिये स्वीकार किया, जैसे– शंख, चक्र और पद्म को विष्णु की मूर्ति में चक्र और पद्म को बुद्ध की मूर्ति में चक्र सिंह और श्रीवत्स तीर्थकंर की मूर्ति में। पूर्णघट, कमल और हाथियों को श्रीलक्ष्मी की मूर्ति में, कच्छप और मकर को गंगा यमुना की मूर्ति में। इस प्रकार बहुत से मांगलिक प्रतीक देवी देवताओं के साथ जुड़ गये। लगभग प्रथम शती ईसवी से धार्मिक प्रतीक या चिन्हों का यह नया स्वरूप सामने आने लगा और सम्भवतः भक्ति धर्म के फलस्वरूप ऐसा हुआ, क्योंकि देव मूर्तियों की आवश्यकता उसी धर्म में अधिक थी। हरिवंश में अष्टोस्तरशव मंगलों की सूची है और भी ऐसी सूचियाँ है, जैसे– वास्तु रत्नकोष में छह प्रकार के अष्टोत्तरशत मंगलों की सूची पाई जाती है।[2]

---

[1] रीता शर्मा – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 38–40

[2] वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 52

मंगलात्मक चिन्हों की सूची में परिवर्तन सम्भव था। सांची स्तूप के उत्तरी तोरण पर दो मंगलक माला अंकित हैं– एक में 11 ओर दूसरी में 13 मांगलिक चिन्ह हैं। प्रथम शती ईसवी के लगभग इनकी सूची 8 चिन्हों तक रूढ़ हो गयी थी, जिसे अष्टमंगलमाला कहा जाता था। इसका अंकन मथुरा के जैन अयागपट्टों पर हुआ है। यह सूची देश और काल में सर्वमान्य हुई क्योंकि बौद्ध महावंश, जैन अंगविज्जा और हर्षचरित – सर्वत्र इसका उल्लेख है।[1]

प्राचीन मांगलिक प्रतिमायें :–

प्राचीन मांगलिक प्रतीक जो मूर्तियों की रूप कल्पना या प्रतिमा लक्षणों में स्वीकृत किये गये हैं, वे इस प्रकार है :–

पशु और सरीसृप

मत्स्य, कुर्म, वराह, मकर, गोधा, मृग, सिंह, आव, हस्ती, गौ, नाग, अज, नकुल, व्याल आदि विकट ईहामृग जो संयुक्त कलेवर के रूप में अंकित है।

पक्षी

गरूण, सारस, येन आदि।

मानव

मुनि, अष्ट कन्यायें, अष्टदिव कुमारिकायें, चक्रवर्ती, सात बहनें, नर : कुबेर के विशेष वाहनः, शिशु, देवयोनि।

अर्धदेव

नाग, यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, सपर्ण, कुम्भाण्ड, लोकपाल, अप्सरायें, कृतकाएं, चतुर्महाराजिकदेव।

---

[1] वी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत, पृ0 68

लता वनस्पति

वृक्ष, कल्पवृक्ष, कल्पलता, पद्‌म, पोपल, वट, माला, मुचकुन्द, ताल तथा और भी वल्लरी–प्रधान अलंकरण।

अवचेतन पदार्थ

पाश्र, मणि, भद्रमणि, कोस्तुम, शंख, मुक्ता, अष्टनिधिमाला, कण्ठा, हार, छत्र, नकुली :थैलो:, रथ, विमान, रावट पर्वत, नदी, वारूणी वट, पूर्णावट, कार्यापण, मेखला, चामर, आदर्श:दपर्ण:, यूप :स्तम्भ:, स्थूनाराज :बड़ा खम्भा:, स्तूप, देवगृह, कुटी या पर्णशाला कपिशीर्षक :कंगूरे:, विवाण, रत्न, मुकुट, चगेरी :पुष्परत्न:, माल्य, वस्त्र पन्चपट्‌टक या अलंकार आदि की, वीणा, वंशी, मृदंग, मंजोरे, देववाद्‌य इत्यादि।

शस्त्रास्त

त्रिशूल, शूल, वज्र, चक्र या रधांग, धनुष, बाण, हल, मूसल, गदा, खड़प, खद्‌वांग, चर्म, ढाल, कवच, इत्यादि।

अभिप्राय और प्रतीक

स्वास्तिक, गौवत्स, श्रीचक्र, श्रीवृक्ष, विरत्न, नन्दिपद, चक्र, पन्जक :थापा: आदि।

इन प्रतीक चिन्हों को प्रतिमाओं के लक्षणों में स्वीकार करने की पूरी छूट थी। इन प्राचीन मांगलिक प्रतीकों के प्रचार और स्वीकरण के अध्ययन से भारतीय कला के कितने ही रूपों को समझा जा सकता है।[1]

प्राचीन मांगलिक प्रतिमायें :–

स्वास्तिक, देवासुरम्, त्रिविकम ज्योर्तिलिंग, प्रभु द्वारा पृथ्वी दोहन, मंधता और उत्तरकुरू

---

[1] वी0सी0 भट्‌टाचार्या – इण्डियन इमेजिज 1954, पृ0 128

का सुदर्शन नगर वाराह द्वारा पृथ्वी का समुद्र से उद्धरण, सहस पुरूष –अनन्त पुरूष सप्तपदी, निर्गमन, अग्नि स्कन्ध – ज्योर्तिलिंग तिराचीन निर्गमन चन्द्र, बुद्ध और स्कन्द का मातृकुशि से तिर्यक जन्मः इत्यादि।

पशु–पक्षी :–

सुपर्ण, सुपक्षी, हंस, एकशीर्ष दश शरीरी वहस, द्विशीर्ष वृषभ, गृध, रयेन, वर्तिका, द्विशीषर्णो सुपर्णी, सप्तारट, नन्दी, अनन्त, वराह, वृषभयेनु, 360 वजिल का शंकु, चक्र रथ, पन्चार, सडर, द्वादशार, विनाभि चक्र, देवजात अश्व, महिष, महोरम, महारथ, रवा, चतुर्वषद्, सहस्रभंग वृषभ, सरमा देवयुनी हरिहंस, पेरावत इन्द्र का श्वेत हस्ती, तु0 तुषित स्वर्ग से उतरता हुआ श्वते हस्ति जो बुद्ध की माता की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ इत्यादि।

विविध वस्तुएं एवं पदार्थ :–

पूर्णकुम्भ, चक्र, यूप, स्कम्भ, इन्द्रयष्टि :त्रिभुजांगित ध्वजः, वेजन्ती, वेदिका, सप्तरत्न :तु0 चक्रवती सातरत्नः, त्रिशूल, वज्र वसुधारा :सुवर्णवृष्टि हिरण्यवर्णाःदेवरथः महाकाली रूपी विश्वरथः, केतु :ध्वजः, मण्डल :कुण्डलः, कानो के दो कणभिरणः, चमस :कटोराः, चम :बड़ा घटः, देवज मणि :मांगलिक रत्नः, वसुधान कोरा :रत्नो की पेटीः अरर्णा अग्नि मंधनःधर्मः दूध ओटने का बड़ा घटःअपूप, धनुर हषु, कुम्भी, चरू, निधि, भुजिष्य पात्रःअन्नपूर्ण कपाक, भिक्षापात्र अथर्व 12/1/60त/तु0 बुद्ध का भिक्षापात्रः चतुर्चमसः तु0 चार लोकपालो द्वारा बुद्ध को दिये चार पात्रः, मधुकोष :तु0 कवियों द्वारा बुद्ध को प्रदत्त शब्द भरा कटोरा, चन्द्रासन, स्वर्ग में चन्द्र का महान आसना, तु0 बोधिमण्डः देवी नाव दिव्य संतरण नौकाः आदि।

वृक्ष, वनस्पति और पुष्प पौधे :–

पद्म या पुष्कर, कल्पवृक्ष, कल्पलता, वनस्पति, चुण्डरोक :पुण्डरीकं नवद्वारं

त्रिभिगुणेभिरावृत्तम्, अथर्व. 10/8/43, हिरण्यसक पुष्करस्रज : यजु0 2/33, तु0 गुप्तकाल की किन्जल्किनी मालाः आदि।

विविध :–

मिथुनः नरनारीमय अलंकरणः चतस्रः प्रदिशः, सुमेरू : स्वर्ग पर्वत, द्यावा पृथिवी :विश्व के माता पिता, द्योः पिता पृथिवी माता, उन्तान चमः, विमान :देवगृहः, सलिलम् :आपः, समुद्रः, वाररशना :नग्नत्व या दिगम्बरताः, महानग्नःदिगम्बरताः, महानग्नी कालीः, पुरःदेवपुरीः तु0 अयोध्या, अपराजित पुरीः, देवसदन :नाक तु0 बौद्ध स्तूपों की हर्मिकाः, ग्रावाणो, उलूखलमूरनल :प्राणाधानः व्दवदुपल, गुहा अग्निगुहा :तु0 बुद्ध की इन्द्र शैल गुहाः आदि।

इस सूची से ज्ञात होता है कि भारतीय कला और धर्म में प्रतीकों की कितनी अधिक सामग्री प्राप्त होती है। वह नये–नये रूपों में विकसित हुई तथा उसने कितने ही नये अलंकरणों को जन्म दिया। धार्मिक सम्प्रदाय कुछ भी हो भारतीय परम्परा में प्रतीकों की यह बारहखड़ी नाना अर्थो को प्रकट करने के लिए भाषा के रूप में स्वीकृत हुई जैसे साहित्य में भारतीय मानस की अभिव्यक्ति हुई वैसे ही कला में भारतीय अध्यात्मक विचारों का दर्पण है। कला के मूर्त रूपों में शिल्पियों ने प्राचीन धर्म और विचारों की परम्पराओं को प्रकट किया।[1]

बिना नृत के हावभाव एवं अंगभंगी को समझे हुए चित्रों का समुचित अंकन एवं प्रेक्षण असम्भव है। कितनी बारीक बात है। नट (= अभिनेत, पात्र) अपने नृत में जो अभिव्यक्ति उक्त आंगिक विकारों द्वारा करता है उसी को प्रेक्ष्य–कलाओं का निर्माता अपनी कृति में स्थायित्व प्रदान करता है। अतएव ऐसा निर्माता जब तक वृत्त के तत्वों में निष्णात न होगा, तब तक अपनी सृष्टि में कैसे सफल

---

[1] वासुदेव शरण – भारतीय कला, पृ0 67

होगा। इसी प्रकार जब तक उसके प्रेक्षक को वे तत्व अवज्ञात न होंगे, तब तक वह चित्रादि को कैसे समझ सकेगा। न तो वह उनके भाव तक पहुँचेगा न आंगिक विकारों की स्वाभाविका को निरख सकेगा, और "यह हाथ ऐसा क्यों, वो पाँव वैसा क्यों" की नुक्ता–चीनी करता रहेगा।[1]

2. सत्य और काल्पनिक दोनों प्रकार के चित्र बनते थे, सत्य चित्र के लिये आवश्यक था कि वह बिंब का तद्वत् प्रतिबिम्ब हो, यही उसकी विशेषता थी। काल्पनिक चित्र की सामग्री के लिये "सूत्र" में अनेक बातें बताई गई है। इनमें से एक तो यह है कि किन–किन के शरीर का कितना प्रमाण होना चाहिए। देव, उपदेव तथा मनुष्य के और उनमें भी पद तथा जाति के अनुसार शरीर के प्रमाण भिन्न–भिन्न है। उन्हीं प्रमाणों के अनुरूप उनकी योषाओं के प्रमाण भी अलग–अलग है।[2]

3. देवताओं, नागों, किन्नरों तथा यक्षों का रूप सौम्य तथा राक्षसों का भीषण होना चहिए, उनके केश उठे हुए एवं आँखें तनी होनी चाहिए। वियोगनी का वस्त्र श्वेत होना चाहिए, चिन्ता के कारण उसके केश पक चले हो, तन पर आभूषण न हो। सेनापति को खूब लम्बे–चौड़े शरीर का भारी भुजा, कंधे और ग्रीवा वाला तथा चढ़ी भृकुटी वाला बनाना चाहिए। उसकी आकृति दृप्त और अर्जित होनी चाहिए। योद्धाओं को सैनिक वस्त्रों में और शास्त्रास्त में सजे हुए होने चाहिए।[3] गायक–नर्तकों का वेश उद्धत होना चाहिए। नगर और देहात के लोगों को भले वस्त्र पहने हुए और स्वभाव से प्रियदर्शी रहना चाहिए। कारीगरों को अपने काम में लगे हुए दिखना चाहिए। पहलवानों को विशालकाय, भरे कन्धे वाले और बदन पर मिट्टी लगे दिखाना चाहिए। देश–देश के लोगों को ऐसा बनाना चाहिए कि वे उस–उस देश के मालूम हों क्योंकि चित्र में सादृश्यकरण ही प्रधान है। नदी देवताओं को हाथ में पूर्ण

---

[1] विष्णु धर्मोत्तर – वेंकटेश्वर प्रेस –बम्बई एवं स्टेलाक्रेमरिच का अनुवाद, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1928, पृ0 44

[2] राधाकृष्ण दास – भारत की चित्रकला, पृ0 11–14

[3] वासुदेव शरण – भारत की कला, पृ0 53

कुम्भ लिये हुए वाहनों पर दिखाना चाहिए। समुद्र को हाथ में रत्न का पात्र लिये हुए बनाना चाहिए। उनके ज्योतिमंडल के स्थान पर पानी अंकित करना चाहिए, यह कल्पना कितनी उत्कृष्ट है।[1]

4. आकाश में दिन का दृश्य उसके हल्के रंग चिड़ियों के उड़ने तथा सूर्य की प्रभा से व्यक्त करना चाहिए। रात का दृश्य तारकों के द्वारा दिखाना चाहिए। चाँदनी रात हो तो फूले हुये कुमुद भी बनाये जा सकते हैं। पर्वतों में शिला जाल, पेड़, धातुओं की खान, झरने और साँप लिखना चाहिए। वन में अनेक प्रकार के वृक्ष, पक्षी तथा वन्य पशु दिखाने चाहिए। नगर को देव मन्दिर, राज प्रसाद, हाट और शोभन राजमार्ग से युक्त बनाना चाहिए।[2]

इसी प्रकार ऋतु चित्रों के लिये भी सूक्ष्म ब्योरे दिये है।[3] वसंत के चित्र में फूले हुए वृक्ष, मधुपों की भीड़, कूकती और प्रहृष्ट नर–नारी होने चाहिए। ग्रीष्म के चित्र में क्लान्त मनुष्य, छाया में छिपे हुए खग–मृग, कीचड़ में सने महिष तथा सूखे जलाशय होने चाहिए। वर्षा चित्र में तोय से नम्र घन, इन्द्र धनुष, बिजली का कौधा और वृष्टि होनी चाहिए। शरत् चित्र का अंकन स्वच्छ प्रकाश, पके हुए धान के खेत, हंस और पद्म से पूरित भरे हुए जलाशय आदि से होना चाहिए। हेमन्त के चित्र में फसल कट जाने से परपट जमीन तथा दिगन्त में कुहरा आदि होना चाहिए। शिशिर के चित्र में कौओं और हाथियों में हर्ष किन्तु मनुष्यों में शीत का त्रास एवं दिगन्त को और भी अधिक कुहराच्छल होना चाहिए। ऋतु चित्रों में अन्य विशेषता ये प्रकृति का निरीक्षण करके अंकित करनी चाहिए।

5. नवरस के चित्रों में ये विशेषतायें होनी चाहिए –श्रृंगार रस के चित्र में कांति, लावण्य,

---

[1] आर0सी0 दत्त – हिस्ट्री ऑफ सिविलजेशन इन एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ0 72

[2] पृथ्वी कुमार – भारतीय कला, पृ0 102

[3] रामशरण शर्मा – प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनायें, पृ0 97–107

माधुर्य, सुन्दर वेशाभरण।[1] हास्य रस के चित्र में , कुबड़े, टेढ़े मेढ़े अंग और अद्भुत रूप वाले, अर्थ की चेष्टा और विचित्र हाव–भाव करते हुए। करुण चित्र में याचना, वियोग एवं विरह, अपनी प्रिय वस्तु का प्राणी का त्याग वा विक्रय, विपत्ति और सहानुभूति 4–रौद्र चित्रों में कठोरता तथा क्रोध 5–वीर रस के चित्रों में प्रतिज्ञा, शौर्य, औदार्य तथा उत्साह 6–भयानक चित्र में दुष्ट, दुर्दर्शन एवं उन्मत्त व्यक्तियों तथा हिंस्त्र जीवों का अंकन, 6–वीभत्स चित्र में शमशान तथा गर्हित एवं वध भूमि आदि। 8–अद्भुत रस के चित्र में अनेक भावों का विचित्र समवाय और 9–शांत रस के चित्र में सौम्य आकृति, ध्यानस्थ आसन बाँधे हुए साधक तथा तपस्वी।[2]

घर में श्रृंगार, हास्य तथा शांत रस के चित्र ही अंकित होने चाहिए। अन्य चित्र था तो देव मन्दिर में बनाये जायें या राजसभा में। राजसभा को छोड़कर राजा के निजी घरों में भी ऐसे चित्र नहीं बनाने चाहिए।[3]

6. चित्रण के लिए जमीन तैयार करने तथा रंगों के उपादान एवं उनके बनाने के ब्यौरे भी दिये गये हैं। मूल रंग पाँच माने गये है– नीला, पीला, लाल, सफेद एवं काला।[4]

यह उल्लेख भी है कि चित्रकार को अपने घर में चित्रण नहीं करना चाहिए। इस विधान का भावार्थ विद्वानों ने कई प्रकार किया है किन्तु सीधा अर्थ यह जान पड़ता है, जैसाकि आज भी घरानेदार चित्रकारों की परम्परा है कि घर में काम करने से कारीगर उन्नति नहीं कर पाता है, जब तक बाहर निकल कर चार कारीगरों का मुकाबला नहीं करता है, तब तक उसकी विधा जहाँ की तहाँ रह

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की चित्रकला, पृ0 7

[2] अली असगर कादरी – प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 47

[3] राधाकुमुद मुकर्जी – प्राचीन भारत, पृ0 102

[4] भगवत शरण उपाध्याय – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 79

जाती है, बल्कि बिगड़ने लगती है।[1]

कलम की कमजोरी, मोटी रेखायें, असम विभाग, बेमेल रंगों का प्रयोग, रस का अभाव, नाव रहित दृष्टि तथा गंदापन एवं चेतना का अभाव, ये चित्रों के दोष है, उचित प्रमाण, उचित विभाग, माधुर्य और सादृश्य एवं सजीवता ये चित्रों के गुण है। जिस चित्र में ऐसा जान पड़े कि चित्रस्थ मूर्ति में प्राण स्पंदित हो रहे है, वही चित्र शुभ लक्षण सम्पन्न है। जो चित्रकार सोये व्यक्ति में सोई हुयी चेतना और मृत में उसका अभाव दिखाने में समर्थ होता है तथा जिसके बनाये सादृश्य निशाने की तरह ठीक बैठते है वही चित्रा विधा का जानकार है।[2]

चित्रों के सौन्दर्य का रहस्य समझने वाले उसकी रेखाओं से उसकी उत्तमता–अनुत्तमता का निर्णय करते हैं, जो उनसे कम समझदार है, वे परधान देखकर फैसला करते हैं। स्त्रियाँ चित्र के आलंकारिक अंश की गुनगाहक है और इतर जन रंगों की तड़क–भड़क पर जाते हैं।[3]

जहाँ चित्र बने होते हैं, वह घर सूना नहीं लगता। सब कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है, यह मांगल्य और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देने वाली है। अजंता आदि के चित्रों से प्रत्यक्ष है कि चित्र सूत्र कोरा शास्त्र न था बल्कि उसके सिद्धान्त एवं विधान पूर्णरूप से बरते जाते थे।[4]

ऋग्वेद में वर्णित भारत इस प्रदेश का बल्कि उत्तरी भारत का केवल एक भाग है। इसकी पहिचान इसमें बहने वाली नदियों से की जा सकती है। ऋग्वेद अफगानिस्तान की चार नदियों – काबुल (कुभा), कुर्रम (कुमु), गोमल (गोमती) और स्वात (सुवास्तु) तथा पंजाब की पाँच नदियों – सिंध

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 65–68

[2] राय कृष्णदास – भारतीय चित्रकला, पृ0 9

[3] वी0सी0 भट्टाचार्या– इण्डियन इमेजिज, कलकत्ता, 1954, पृ0 93

[4] राय कृष्ण दास – भारत की चित्रकला, पृ0 3–5

(सिंधु), झेलम (वितस्ता), चिनाब (असिवनी) इरावती या रावी (परूष्णी) और व्यास (विपाशा) और उनके साथ-साथ सतलज (शुतुद्रि), सरसूती (सरस्वती), यमुना, गंगा, सुषोमा (सिंधु) और मरूदवृधा (कश्मीर की मरुवर्धन नदी) से परिचित है।[1] सप्तसिंधवः विशेषण, सात नदियों का देश – पाँच पंजाब की नदियाँ और दो सिंधु और सरस्वती का देश – ऋग्वेदिक भारत के लिये प्रयुक्त किया जाता है।[2]

ऋग्वेद में बहुचर्चित दशराज्ञ युद्ध के संदर्भ में अज, शिग्रु एवं यक्ष तथा अन्यत्र क्रिवि नामक जिन जनजातियों का उल्लेख मिलता है, वे गंगा, यमुना दोआब निवासी प्रतीत होता है। मोटे तौर पर गंगा को ऋग्वेद कालीन आर्यो के निवास स्थल की पूर्वी सीमा माना जा सकता है।[3]

उत्तर वैदिक काल में आर्यो की भौगोलिक सीमा का विस्तार पूर्वी प्रदेशों में होने लगा। इस प्रकार के विषय में एक सुन्दर प्राचीन आख्यायिका शतपथ ब्राह्मण में दी गयी है, जिसका सारांश है– "विदेघ माथव ने वैश्वानर अग्नि को मुख में धारण किया था। घृत का नाम लेते ही वह अग्नि माथव के मुह से निकलकर पृथ्वी पर आ पहुँचा। उस समय विदघे माथव सरस्वती के तट पर निवास करते थे, वह अग्नि सब कुछ जलाता हुआ पूर्व दिशा की ओर आगे बढ़ा और उसके पीछे-पीछे विदेघ माथव तथा उनका पुरोहित गौतम सहूगण[4] चला। वह नदियों को जलाता चला गया, अकस्मात् वह "सदानीरा" (बिहार की वर्तमान गंडकी नदी) नदी को नहीं जला पाया जो उत्तरगिरि (हिमालय) से बहती है। अग्नि द्वारा

---

1 ये सब नदियाँ सूक्त में वर्णित है।

2 ऋग्वेद 8/24/27

3 भगवतशरण उपाध्याय – भारतीय कलायें, पृ0 48

4 ये कोई साधारण पुरोहित न थे। ऋग्वेद में भी इनके द्वारा दृष्ट अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं, जिनमें विशेषतः अग्नि से प्रार्थना की गई है। शतपथ ब्राह्मण से इन्हें विदेह के महाराज जनक तथा ऋषि याज्ञवल्क का भी समकालीन बताया गया है तथा अथर्व संहिता में भी इनके नाम का उल्लेख दो बार किया गया है।

दग्ध न होने के कारण ब्राह्मण लोग पुराने जमाने में उसके पार नहीं जाते थे, परन्तु आजकल उसके पूर्व की ओर ब्राह्मणों का निवास है। विदेह माथव ने अग्नि से पूछा कि अब मैं कहा निवास करूँ? अग्नि ने उत्तर दिया इस नदी के पूर्व की ओर। सदानीरा ही कोसल और विदेह देशों की आज भी मर्यादा बनी हुई है। उत्तर वैदिक काल के साहित्य के परिशीलन से स्पष्ट होता है कि सप्त सैंधव प्रदेश पूर्व की ओर बढ़ते हुए आर्यो ने लगभग सम्पूर्ण गंगा घाटी पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। इस प्रक्रिया के दौरान कुरू पांचाल प्रदेशों ने अत्यधिक महत्ता प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त विदेह, कोसल, काशी, मगध तथा अंग देशों का भी उल्लेख अनेक ब्राह्मण ग्रंथों में होने लगा। संभवतः दक्षिण में आन्ध्र, शबर, पुलिन्द आदि जातियों की सत्ता बनी हुयी थी, जो वैदिक सभ्यता से अछूती थी। विन्ध्य प्रदेश को उत्तर वैदिक कालीन साहित्य पर आधारित भौगोलिक पृष्ठभूमि की दक्षिणी सीमा माना जा सकता है। कुल मिलाकर सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य के भारत से तात्पर्य उत्तरी भारत का है।

स्वतंत्रता के पश्चात् पिछले लगभग पैतींस वर्षो से उत्तर भारत के अनेक स्थलों पर समन्वेषण एवं उत्खन्न हुये हैं जिनसे हमें विभिन्न पुरातात्विक संस्कृतियों की झलक मिलती है। विद्वानों की चेष्टा रही है कि भारतीय साहित्यक परंपरा को कथानक एवं मिथक मात्र के दायरे से निकाल कर तर्क पूर्ण आधार दिया जाये।[1] इसी दृष्टिकोण से इस दिशा में भी प्रयास जारी है कि दैनिक साहित्य में प्रतिविंबत भारत के कुछ भौतिक अवशेष मिल सकें।

वैदिक आर्य रथ–निर्माण, तक्षण–कार्य (बढ़ाईगिरी), धातु कार्य (अयस्, संभवतः तांबा), हल, हल के फल आदि का निर्माण जानते थे। उनके वस्त्रादि अधिकतर ऊन के थे। "द्रापी", "पेशस्" (बाद का ईरानी पेशबाज) का अपने लेबास में उपयोग करते थे। द्रापी सीने पर पहनी जाने वाली सटी हुई एक प्रकार की बंडी होती थी जिस पर सुनहरा काम किया होता था जिससे वह "हिरण्यद्रापी"

---

[1] आर्कियोलॉजी एण्ड ट्रेडीशन– शीर्षक से परिचर्चा, पुरातत्व, अंक 8, पृ0 63122

कहलाती थी। इसी प्रकार "हिरण्यपेशस्" भी स्वर्णखचित वस्त्र था, संभवतः घाघरा, जिसके निचले छोर पर सुनहरे धागे लगते थे। सुनहरे धागे वाले आंचलो से संयुक्त चादरों का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है। मुनि लोग कंवल के अतिरिकत चमड़े का भी उपयोग करते थे। रूई के बुने कपड़े अनजाने न थे जिससे तन्तुवाय (जुलाहे) की वृत्ति जानी हुई थी।[1] सुन्दर भांडों का निर्माण होता था।

धातुकार्य में घरेलू आवश्यकताओं के अतिरिक्त स्त्री–पुरूषों के उपयोग में आने वाले आभूषणों का भी ऋग्वेद में जिक्र हुआ है। रथों और मानवों के श्रृंगार में मोतियों का उपयोग होता था। सिर पर उष्णीय, हाथों–पैरों में वलय (कड़े), भुजाओं पर भुजबन्द और गले में निष्कहार पहने जाते थे। प्रकट है कि धातुकार्य में एक सीमा तक ऋग्वैदिक आर्यो ने कौशल प्राप्त कर लिया था।[2]

आश्चर्य का विषय है कि स्वर्णकारिता के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होने के बावजूद ऋग्वेद अथवा अन्य संहिताओं के निर्माण–काल अथवा उत्तर वैदिक काल में प्रस्तर वास्तु अथवा मूर्तिकला के परोक्ष उदाहरण भी नहीं मिलते। मूर्तियों का तो पूर्व वैदिक युग में सर्वथा अभाव था। यह अभाव विशेष आश्चर्यजनक इस कारण और लगता है कि ऋग्वैदिक आर्यों का सिंधु घाटी की उस द्रविड़ सभ्यता से घना सान्निध्य रहा था, और सदियों संभवतः था भी, जिसमें मूर्तिकाल का असाधारण विकास हुआ था और जहां संजीव अंकन सहित हजारों मुहरें सांचों में ढाली गयी थी। यह तो कहा जा सकता है कि इस प्रकार की मुहरें बनाने में संभवतः आर्य कुशल न थे, पर मिट्टी की हाथ से मूर्तियों तो बनायी ही जा सकती थी। उनका भी सर्वथा अभाव एक अन्य दिशा में संकेत करता है।

---

[1] भ0श0 उपाध्याय– विमेन इन ऋग्वेद, पृ0 164–170

[2] भगवत शरण उपाध्याय– विमेन इन ऋग्वेद, पृ0 171–172

वैदिक आर्यों ने अपनी भिन्न धार्मिक आस्थाओं के कारण सिद्धान्ततः मूर्तियों को निर्माण नहीं किया। प्रकृति के अवयवों को प्रकट देवता मानकर वे उन्हें पूजते थे, उनके वैभव से आह्लादित और आक्रांत होकर वे उनके प्रति गेय मंत्र और सूक्त उद्‌गीरित करते थे पर उनकी मूर्तियों का निर्माण आर्यों के लिए अमान्य था। परिणाम यह हुआ कि पूर्व वैदिक काल की एक मूर्ति भी उत्खनन से नहीं प्राप्त हुई।

उत्तर वैदिक काल में मूर्ति निर्माण में तो नहीं परन्तु अन्य दिशाओं में कुछ प्रयत्न हुए जिससे सांस्कृति साधनों में कुछ प्रगति हुई। बेग (टिन), रांगे, चांदी और अयस् के दो प्रकारों– तांबे और लोहे का उपयोग तो होता ही था, ऊन के अतिरक्ति काटन, रेशम आदि का भी प्रयोग होने लगा था।[1] बांस और फूस की कुटियों के अतिरिक्त ईटों का भी इस्तेमाल होने लगा था, और यदि हम महाभारत को प्रमाण मानें तो मय–असुर (असूरी अट्टालिकाओं के प्रभाव से) की सहायता से अद्‌भुत महल भी पाषाण के उपयोग में बनने लगे थे। इसी उत्तर–वैदिक काल के अन्त में संभवतः राजगृह की प्रस्तर प्राचीरों का निर्माण हुआ जो भारतीय वास्तु में सही नगर–परकोटे अथवा दुर्ग निर्माण का आदिम प्रमाण है। संभवतः इसी काल कौशांबी की प्राचीनतम प्राचीरों का भी निर्माण हुआ[2] जब गंगा की बाढ़ से बह जाने के कारण हस्तिनापुर को त्याग जनमेजय से कुछ ही पीढ़ियों बाद उनके वंशज निचक्षु ने यमुना के तीर इस नगर को बसाया। छठी पांचवीं सदी ई0पू0 में यह नगर, पाटलिपुत्र से भी पूर्व, भारतीय नगरों में अग्रणी था।

इस काल के कौशल स्वरूप थालों, चांदी के प्यालों और चम्मचों, लोहे के चाकुओं, सूइयों, दर्पणों, पलंगों, सिहांसनों, आसनों, राजसूय करने वाले राजाओं तथा दीक्षित होने वाले स्नातकों

---

1 कुमारस्वामी– हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ0 9
2 गोबर्धनराय शर्मा, कौशाम्बी, उत्खनन प्रसंग

की पगड़ियों, वाद्यों, विविध प्रकार के आभूषणों, लेप सहित चित्रित भाण्डों आदि के उल्लेख मिलते हैं।[1] (कुछ आश्चर्य नहीं जो इसी युग के लगभग- प्रायः आठवीं-सातवीं सदी ई0पू0 में ब्राह्मी लिपि का निर्माण अथवा आयात हुआ हो)।

यद्यपि भवन निर्माण और मूर्ति रूपायन के विशेष प्रमाण इस युग में भी नहीं मिलते, इस क्षेत्र में एकाध अपवाद प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ऊपर राजगृह और कौशाम्बी की प्राचीरों का उल्लेख किया जा चुका है। जूवो दुब्रइ ने केरल में उत्तर वैदिक कालीन एक गुहाशव समाधि ढूढ निकाली थी।[2] इसका सबसे महत्व का अंश अन्तराल सहित स्तूप है जिसकी छत मध्यवर्ती स्तम्भ पर टिकी है। गुहा वृत्ताकार है और उसका एक अंश अर्ध वृत्ताकार है। इसी प्रकार की कुछ अन्य गुहाओं की खोज लांगहर्स्ट और लोगन ने भी की है। यद्यपि इस गुहा के वैदिक कालीन होने में कुमारस्वामी ने संदेह किया है, इसका निर्माण काल उत्तर वैदिक काल का निचला छोर निःसंदेह हो सकता है। इस प्रकार के गुहा-शव-समाधियों का निर्माण लघु एशिया (एशिया माइनर के लीदिया आदि) में हुआ है जिनका उत्खनन काल इन भारतीय गुहाओं से कुछ ही पूर्व है। कुछ अजब नहीं जो जलमार्ग से मिस्र और फिनीशिया (लेबनान)- लीदिया पहुँचने वाले प्राचीन मलयालियों के वास्तु पर मिस्री पिरामिडों अथवा लीदियाई शवाधानों का प्रभाव पड़ा हो। खोखले स्तूप और पिरामिड दोनों ही मकबरे और शव-समाधियाँ है। कुछ आश्चर्य नहीं जो इस प्रकार के शव-स्तूपों का आरम्भ भारत में पश्चिम के प्रभाव से ही हुआ हो।

इसी उत्तर वैदिक काल में उस शवाधान का निर्माण भी बताया जाता है[3] जो उत्तर बिहार के लौरिया-नन्दन गढ़ के एक टीले में मिला है। यद्यपि ऋग्वैदिक काल में शवों के दफनाने का उल्लेख हुआ है और उसमें पृथ्वी की प्रार्थना इस हेतु की गयी है कि उसकी मिट्टी शव पर हल्की बैठे,

---

[1] कुमार स्वामी, पृ0 9 (सेन्नापुरम् और कालीकट)

[2] कुमार स्वामी, पृ0 10

[3] रोलैड, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, पृ0 22

पर इस शवाधान को आर्यो का होने में संदेह हो सकता है। कम से कम उसके लिए कोई महत्व का प्रमाण नहीं दिया गया है। ऋग्वेद में यदि शव के दफनाये जाने के प्रमाण मिलते हैं, यह शवाधान ऋग्वैदिक कालीन तो हो ही नहीं सकता, कारण कि उस काल तक पूर्व में उत्तर बिहार तक अभी भी आर्यो का प्रसार नहीं हुआ था। वह प्रसार उत्तर–वैदिक काल के प्रायः प्रारंभिक युगों में हुआ जब उस काल के साहित्य में "विदेघ माठव" (विदेह माधव) ने उत्तर बिहार की ओर गंडक के पार आर्यो के प्रसार अभियान का नेतृत्व किया था। लौडिया नन्दन गढ़ के उस टीले का एक दूसरा और विशेष महत्व है।

लौडिया के उस टीले से कुछ ओपदार (पालिश) प्रस्तर खण्ड भी मिले हैं जिससे जान पड़ता है कि ओप का इस्तेमाल किसी अंश में भारत में होने लगा था, यद्यपि यह कितना स्थानीय प्रयत्न था, इसमें सन्देह किया जा सकता है। शीशे के चिकने मकानों की अभिप्राप्ति भी महत्व की है। पर जिस महत्वपूर्ण उपलब्धि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है वह सोने के दो मूर्तनों की है। इनमें से एक का उल्लेख विस्तार से ऐतिहासिक कलागत प्रसंगों में हुआ है। यह सोने का एक छोटा सा ठीकरा या पत्थर है जिस पर सामने की ओर मुंह किये खड़ी एक नग्न नारी मूर्ति बनी है। आकृति सादी पृष्ठभूमि से उभारी हुई है। नारी वह विवस्त्रा है, सर्वथा नंगी। केश उसके ललाट पर बा कर संवारे हुए हैं। उनकी सन्धि पर किसी आभूषण (टिकली) का आभास बना है जो योनि लिंग अथवा बाण संधाने धनुष की आकृति का–सा लगता है। मस्तक के केश गुच्छ दोनों ओर कनपटियों (गण्डस्थलों) पर खींचकर ऐसे कर दिये गये हैं कि उनसे कर्णाभूषणों का भी धोखा होता है। कुछ अजब नहीं जो वे स्थूलाकृतिक कर्णाभूषण हों ही। नीचे लटके कटि–जघनों तक फैले हाथों की उंगलियां स्पष्ट है। कलाइयों पर अनेक वलय प्रदर्शित है और कटिदेश पर एक लड़ी मोतियों की करधनी अत्यन्त सुन्दर रूप से टिकी है। नितंब भारी है जिससे धरा के "पृथिवी" (चौड़ी) रूप का आभास होता है। सातवीं–आठवीं सदी ई0पू0 का यह स्वर्ण मूर्तन उत्तर वैदिक युग के उर्वर रूपायन में एक असाधारण अपवाद है।

वैदिक काल में वैदिक धर्म सरल और पवित्र था। वैदिक काल में इन्द्र, सूर्य, अग्नि,

वरूण आदि देवताओं की पूजा होती थी क्योंकि यही देवता थे जिनकी आर्य स्तुति करते थे, इस समय मन्दिर नहीं थे। हर मनुष्य अपने घर में यज्ञ और हवन करता था तथा स्वास्थ्य, धन धान्य तथा सन्तान के लिये देवताओं से प्रार्थना करता था।[1]

इस समय मनुष्यों की भावनायें बहुत सरल थीं तथा उनके विचार भी धार्मिक थे और वे कई देवी देवताओं की पूजा भी किया करते थे। कुछ मनुष्य केवल एक ही देवता को मानते थे।[2]

"वैदिक काल में मूर्तिकला नहीं थी" यह आधुनिक मत है। इस समय लोग खुले मैदानों में पूजा करते थे, वे अपने देवी देवताओं की उपासना भजन गाकर करते थे। इस समय मन्दिर भी नहीं थे, अतः विद्वानों ने इसी बात को ध्यान में रखकर यह मत प्रस्तुत किया है कि वैदिक काल मे मूर्तिपूजा नहीं थी। जब मूर्ति पूजा नहीं थी तो मूर्तियाँ भी नहीं बनाई जाती थी। इस बात पर हमें इतिहास के विद्वान एक मत नहीं दिखाई देते हैं, परन्तु वेदों से पता चलता है कि इस समय में मूर्तियाँ बना करती थी। वैदिक काल में भी भगवान की विभिन्न मूर्तियों की पूजा प्रचिलित थी– यह एक स्थान पर इन्द्र की मूर्ति की उपासना के उल्लेख से प्रमाणित होता है।

आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने पुरी मे स्थित जगन्नाथदेव की काष्ठ मूर्ति को बौद्ध मूर्ति के रूप में प्रमाणित करने का प्रयास किया है। यह भी युक्ति बताई जाती है कि जगन्नाथदेव की रथ यात्रा बौद्ध मूर्ति के रथ पर परिभ्रमण से की गई है परन्तु ये सब मत भ्रान्त है। ऋग्वेद में दारू ब्रह्म श्री पुरूषोत्तम मूर्ति का स्पष्ट उल्लेख है –

"अदो यद्दारू प्लवते सिन्धोः पारे अपुरूषम्
तदारभस्व दुर्हणों तेन गच्छ परस्तरम् ।"[3]

---

[1] राधा कुमुद मुकर्जी – प्राचीन भारत, पृ0 46
[2] रेम्पसन – एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ0 35
[3] ऋग्वेद – 10/155/3

इन्द्र की मूर्ति उपासना के सम्बन्ध में एक वैदिक उल्लेख तो बिल्कुल इस प्रकार है– "कौन मेरे इन्द्र को मोल लेगा?" इस बात से पता चलता है कि वैदिक काल में भी मूर्ति निर्माण होता था।[1]

वैदिक संहिताओं से हमें कुछ ऐसे शिल्पों का भी परिचय प्राप्त होता है जो भौतिक सामग्री के माध्यम से विरचित किये जाते है। यद्यपि अभी तक सचमुच ऐसे शिल्प के नमूने नहीं मिले हैं जिन्हे वैदिक युग का कहा जा सके।

शतवल्श और सहस्रवल्श वनस्पति अर्थात् सौ और हजार शाखाओं वाले महावृक्षों का उल्लेख आता है और ऐसे बड़े वृक्षों को काटकर भारी–भारी महल बनाने की प्रथा थी। समय की वजह से उनके अब चिन्ह भी नष्ट हो गये हैं। काष्ठ कर्म करने वाले शिल्पी को विश्वकर्मा कहा जाता था तथा इसे देवता की संज्ञा दी गई। ऋग्वेद में रूपों के निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कभीर या लुहार के पेशे का भी उल्लेख मिलता है।[2]

ऋग्वेद के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय इसके सूक्तों की रचना हुई उस समय समाज में अनेक शिल्पों का विकास हो चुका था। शिल्प शब्द सामान्यतः कला और उद्योगों के लिये प्रयुक्त होता था।[3]

<u>उत्तर वैदिक काल</u> :–

उत्तर वैदिक साहित्य के अन्तर्गत यजु तथा अर्थवणों की संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषद आते हैं। और इनकी रचना कुरू एवं पांचाल क्षेत्र में हुई थी।[4] इसमें पश्चिमी उत्तर प्रदेश के

---

[1] भारतीय कला – सम्पादक – पृथ्वी कुमार अग्रवाल, पृ0 49

[2] भारतीय कला, सम्पादन– डा0 पृथ्वी कुमार अग्रवाल, पृ0 51

[3] भारत का इतिहास – रोमिला थापर, पृ0 39–42

[4] वैदिक इंडेक्स, पृ0 165–9

अधिकांश भाग लगभग सम्पूर्ण हरियाणा तथा पंजाब और राजस्थान के निकटवर्ती भाग आते हैं। भौगोलिक शब्दावली में इस क्षेत्र के अन्तर्गत भारत का गंगा द्वारा विभाजित मैदानी भाग और ऊपरी गंगा के समतल क्षेत्र रखे जाते हैं। गंगा द्वारा विभाजित मैदान में सिंधु तथा गंगा नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र है। यह क्षेत्र आधुनिक पंजाब और राजस्थान के बहुत बड़े भूभाग तथा सम्पूर्ण हरियाणा और दिल्ली क्षेत्र तक विस्तृत है। यदि उत्तरी सीमा के बारी दोआब को इसमें सम्मिलित कर लिया जाय तो गंगा द्वारा विभाजित मैदानी क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग 35,000 वर्गमीटर होगा।[1] निचले पहाड़ी भागों को छोड़कर इस सम्पूर्ण क्षेत्र में वर्षा बहुत कम होती है केवल दस से 15" तक।[2] स्वाभाविक रूप से वानस्पतिक आच्छादन बहुत कम है तथा जंगल साफ करना कोई कठिन कार्य नहीं है। इसी विशेषता के कारण हड़प्पा और चित्रित धूसर मृद्‌भाड संस्कृति की अनेक बस्तियां इस क्षेत्र में स्थापित हुई। पंजाब और हरियाणा के मैदानों की मिट्टी साधारणतः क्षारीय है, जो लोहे के उपकरणों सहित कार्बनिक तथा अकार्बनिक सामग्री को सुरक्षित रखने में सहायक होती है।यद्यपि लवणीय तथा क्षारीय मिट्टयाँ राजस्थान, उ0प्र0 और बिहार के शुष्क क्षेत्रों में भी प्राप्त होती थी परन्तु स्पष्ट रूप से इस प्रकार के क्षेत्र प्रथम दो राज्यों में ही अधिक है।

जलवायु के दृष्टिकोण से राजस्थान के पूर्वी भागों सहित यह सम्पूर्ण क्षेत्र एक इकाई है जिसमें एक ही प्रकार के पौधे व वृक्ष उत्पन्न होते हैं। इन वृक्षों का वैदिक ग्रन्थों में उल्लेख है। ऐसे वृक्षों में खदिर[4] (जिसे कत्थक कहा जाता है) गंगा के उत्तरी मैदान में साधारण रूप से प्राप्त होता है। इस वृक्ष का उपयोग गाड़ी उपकरणों के हत्थे आदि बनाने में तथा मुख्यतः भूरे रंग की वस्तुयें

---

1 ओ0एच0के0 स्टे तथा ए0टी0ए0 लियरमन्थ, इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, तृ0आ0लन्दन 1967, पृ0534

2 पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान के कुछ भाग और पश्चिमी म0प्र0 में वर्ष में 360 मिमी0 (30") से कम वर्षा होती है, कुछ स्थानों में तो 200 मिमी0 (8") से भी कम वर्षा होती है।

एम0एस0 रंधावा– ए हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया, नई दिल्ली, 1981, पृ024 जि0 प्रथम

3 रंधावा, पृ0 –14, ए हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया

4 अथर्ववेद, 10,6,23, शतपथ ब्राह्मण, 13.4.4.9

बनाने में[1] किया जाता है। उत्तर पश्चिमी भारत के निचले भागों में खैर की अपेक्षा बबूल बहुतायत में प्राप्त होता है।[2] परन्तु किक्रूर[3] शब्द अथवा उत्तरी भारत की भाषाओं में उपलब्ध कीकड़ उत्तर वैदिक ग्रन्थों में अनुपलब्ध है। खैर के साथ-साथ "सिक्सू" भी शुष्क जलवायु वाले व अन्य क्षेत्रों में प्राप्त होता है। इस वृक्ष का अथर्ववेद में शिशंपा के रूप में उल्लेख है [4] तथा इसके हड़प्पाकालीन अवशेष राजस्थान में प्राप्त हुए है।[5] गंगा के ऊपरी मैदानों में उदुम्बर[6] मिलता है।

चित्रित धूसर मृदभांड़ो के ठीकरे उन्हीं क्षेत्रों से प्राप्त हुए है जिनका प्रतिनिधित्व वैदिक साहित्य करता है। यद्यपि चि0धू0मृ0 पूर्वी उ0प्र0 तथा बिहार से प्राप्त हुए है तथापि उनका मुख्य केन्द्र उ0 गंगा सतलज का तटवर्ती क्षेत्र प्रतीत होता है। लगभग 700 चि0धू0म0 स्थलों की खोज इस क्षेत्र में की गई है। लगभग 50 गेरूए रंग के मृदभांड स्थलों की तुलना में ये संख्या बहुत बड़ी है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पहली बार इस क्षेत्र में इतनी बड़ी संख्या में कृषक बस्तियों के विद्यमान होने की ओर संकेत करते हैं तथापि केवल चित्रित धूसर मृदभाडों की संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं है क्योंकि काले लाल मृदभाडे काले स्लिपयुक्त मृदभांड, लाल मृदभांड तथा अनलकृंत धूसर मृदभांड भी इनके साथ-साथ प्राप्त होते हैं। यों तो चित्रित धूसर मृदभांडों की ठीकरे अलग पहचान वाले हैं परन्तु इनकी संख्या किसी भी स्थल में सर्वाधिक नहीं है। अतरंजीखेड़ा में भी, जहाँ चि0धू0मृ0 संस्कृति लगभग 650 वर्गमीटर क्षेत्र में फैली हुई है इनकी समस्त संख्या मृदभांडों में केवल 3 से 10 प्रतिशत तक ही

---

1 स्पेट तथा लियरमंथ, इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, तृ0आ0 लन्दन 1967, पृ0 85

2 वही (ऊपर)

3 आर0डी0 टर्नर, ए कम्परेटिव डिक्शनरी ऑफ द इण्डो आर्यन लैग्वेजिज नं0 3151

4 शिशम्पा के अन्तर्गत – मोनियर विलियम्स, सं0इं0डि0 स्पेट तथा लियरमंथ, पृ0 85

5 इसके अवशेष कालीवंगन से प्राप्त है, आई0ए0आर0 1975-76, पृ0 87

6 वै0इ0जि0 1,86 इसके हड़प्पाकालीन अवशेष कालीवंगन से प्राप्त हुए है, आई0ए0आर0 1975-76, पृ0 87

है[1] वहाँ भी जहाँ इनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक है इस संस्कृति के स्तरों से चित्रित धूसर मृदभांडों की ठीकरे समस्त मृदभांडों में 15% से अधिक नहीं है। इस प्रकार चि0धू0मृ0 संस्तर एक मिश्रित संस्कृति का प्रतिनिधित्व उसी प्रकार करता है जिस प्रकार उत्तर वैदिक साहित्य द्वारा वर्णित संस्कृति संस्कृत तथा संस्कृतेत्तर और आर्य तथा अनार्य तत्वों के सम्मिश्रण का द्योतक है।

लोहे की वस्तुओं वाले चि0धू0मृ0 स्तरों की तिथि लगभग वही प्रतीत होती है जो उत्तर वैदिक साहित्य की है। यद्यपि अतरंजीखेड़ा की एक रेडियो कार्बन तिथि के आधार पर कुछ उत्साही विद्वान चि0धू0मृ0 तथा लोहे की वस्तुओं को और प्राचीन स्थापित करने का प्रयास करते है तथापि चि0धू0मृ0 तथा लोहे के विसरण का काल 5 शताब्दियों से कम ही रहा होगा जो लगभग 1000 ई0पू0 तक कहा जा सकता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अतरंजीखेड़ा की 1025 ई0पू0 की रेडियो कार्बन तिथि यहाँ व अन्य स्थलों से प्राप्त कम से कम चार अन्य रेडियो कार्बन तिथियों के साथ ठीक नहीं बैठती। ये चारों तिथियाँ चि0धू0मृ0 लौहकाल के प्रारम्भ के द्योतक है। ये तिथियाँ है– अतरंजीखेड़ा से 940 ई0पू0[2], राजस्थान में जोधपुरा से 800 ई0पू0[3] इसी राज्य के नाहे से 725 ई0पू0[4] तथा जोधपुरा से ही 720 ई0पू0[5]। चार स्थलों के उत्खनन में चि0धू0मृ0 हड़प्पा परम्परा के मृदभांडों के सम्पर्क में प्राप्त हुए हैं और उनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार एक स्थल हरियाणा में भगवानपुरा में है, जहाँ की थर्मोल्यूमिनेसेट तिथियाँ 1500 से 1000 ई0पू0 के मध्य आती

---

1 आर0सी0 गौड़ – द पेंटेड ग्रे वेयर एट अतरंजीखेड़ा – एन एसेसमेंट, पौटरीज इन ऐसिएट इण्डिया, सम्पा0 वी0वी0 सिन्हा, पटना, पृ0 185–6

2 रेडियोकार्बन, VII, 1965, 291

3 आई0ए0आर0, 1975–76, पृ0 62

4 वही (ऊपर), 1971–72, पृ0 86

5 रेडियोकार्बन, XX, 1978, 236

है।[1] उत्तर भारत के अनेक स्थलों से भी लोहा काटने वाले मृदभाडों के साथ सम्बद्ध पाया गया है यद्यपि सभी स्थलों पर तिथियाँ प्राचीन नहीं है।[2] चि0धू0मृ0 संस्कृति की समाप्ति के लिये लगभग 600 से 400 ई0पू0 की रेडियोकार्बन तिथियाँ उपलब्ध है।[3] यद्यपि कुछ तिथियाँ 275 ई0पू0 जितनी बाद की भी है।[4] चाहे जो भी हो, गंगा के उत्तरी मैदानों तथा गंगा द्वारा विभाजित मैदानी क्षेत्र में चित्रित धूसर मृदभांड संस्कृति और लोहे के उपयोग की तिथि लगभग 1000–500 ई0पू0 तर्कसंगत प्रतीत होती है।

कीथ ने सभी ब्राह्मण ग्रन्थों को 800 से 600 ई0पू0 के मध्य रखा है।[5] परन्तु लुई रेनू का मत सम्भवतः ठीक है जिसके अनुसार उपनिषदों सहित उत्तर वैदिक साहित्य की बाद की तिथि ई0पू0 500 तक ले जाई जा सकती है।[6] संस्कृतज्ञों द्वारा वैदिक ग्रन्थों की तिथि भाषाशास्त्रीय प्रमाणों, पश्चिम एशिया में 1400 ई0पू0 के अभिलेखकीय साक्ष्य में वैदिक नामों के विद्यमान होने तथा पश्चिम एशिया और यूरोप में भारोपीय भाषाओं को बोलने वाले लोगों के आगमन के आधार पर निर्धारित की गई है।[7] इस संयोग को कि उत्तर वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन चि0धू0मृ0 संस्कृति के काल में ही किया गया था, इन दोनों स्रोतों से प्राप्त भौतिक संस्कृति की तुलना से अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है।

---

[1] इसकी सूचना श्री जगपति जोशी, निदेशक, उत्खनन, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण से प्राप्त हुई।

[2] ये तिथियाँ है– अतरंजीखेड़ा से 500 ई0पू0 (रेडियोकार्बन XI, 1969, 188–9) तथा इसी स्थल से 600 ई0पू0 (वही, VIII, 1966, 444) परन्तु चिरांद से 765 ई0पू0 (वही 446)

[3] हस्तिनापुर की तिथि 500 ई0पू0 (रेडियोकार्बन VI, 1964, 227–8), खलौआ (आगरा) 500 ई0पू0 (वही, XVIII, 1976, 92) इसी स्थल की 470 ई0पू0 (वही XVII, 1975, 220) नोह की 490 ई0पू0 (आई0ए0आर0, 1971–72, पृ0 86) अतरंजीखेड़ा की 465 ई0पू0 (रेडियोकार्बन, VIII, 1966, 444) अल्लाहपुर (मेरठ) की 385 ई0पू0 (आई0ए0आर0, 1973–74, पृ054) इत्यादि।

[4] आई0ए0आर0, 1973–74, पृ0 54 इस तिथि का सम्बन्ध चि0धू0मृ0 तथा उ0मा0ओ0मृ0 के पारस्परिक व्यापन से प्राप्त एक लकड़ी के टुकड़े से है।

[5] द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि0 1, पृ0 131–2

[6] वैदिक इण्डिया, पृ0 38

[7] दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि0 1, पृ0 181–2

हस्तिनापुर से प्राप्त चि0धू0मृ0 कालीन बिना पकाई ईटों की दीवारें[1] हमें यज्ञ वेदिकाओं के संदर्भ में ईटों के उत्तर वैदिक उल्लेखों की याद दिलाती है। ईटों के सात नाम वैत्तिरीय संहिता में नौ काठक संहिता में तथा ग्यारह मैत्रायणी संहिता में प्राप्त होते हैं।[2] अग्निचयन के अवसर निर्धारित विधियों के अनुरूप उत्तर वेदि के निर्माण में ईटों के पांच स्तर लगाये जाते हैं, ये वेदी बहुधा फैले हुए पंखों वाले पक्षी के आकार की होती है।[3] इस प्रकार कुल ईटों की संख्या 10800 होती है। ईटों की यज्ञ वेदियों का निर्माण "महाव्रत" के लिये आवश्यक था जबकि अन्य "सोम" यज्ञों के लिये वैकल्पिक। भगवानपुरा व अन्य स्थलों के अतिरिक्त जहाँ पकाई हुई ईटों के प्रमाण प्राप्त हुए है परन्तु उनकी उपयोग विधि अज्ञात है।[4] चि0धू0मृ0 संस्कृति के केन्द्रों से साधारणतः पकाई हुई ईटें प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार उत्तर वैदिक ग्रन्थों में भी ये अज्ञात है। यद्यपि कौशाम्बी में मिट्‌टी के प्राचीर पर सामने की ओर ईटों की ढलुवा दीवार प्राप्त हुई है परन्तु इसकी तिथि 550 ई0पू0 से पहले नहीं मानी जा सकती।[5] वास्तव में एक ढले हुए तांबे के सिक्के की प्राप्ति इसकी तिथि को लगभग 300 ई0पू0 तक ले जा सकती है, अतः वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित ईटें साधारणता पकाई हुई नहीं थी। अतरंजीखेड़ा में चि0धू0मृ0 स्तर से एक कुम्हार का आंवा प्राप्त हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार के आंवे को "अपाक" कहा गया है परन्तु वैदिक स्रोतों में ईटों के भट्‌ठे के लिये कोई शब्द नहीं है। धार्मिक

---

[1] बी0बी0 लाल – एक्सकेवेशन एट हस्तिनापुर एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन इन दि अपर गंगा एण्ड सतलत बेसिन्स 1950–52, एसिएन्ट इंडिया नं0 10–11, पृ0 13

[2] जी0आर0 शर्मा, द एक्सकेवेशंस एट कौशाम्बी (1957–59) द डिफेंसेज एंड द श्येनचिति ऑफ द पुरूषमेध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1960, पृ0 101

[3] रेनू, वैदिक इण्डिया, पृ0 110–111

[4] इन ईटों की स्तर विन्यास में स्थिति पर केवल प्रकाशित पूर्ण रिपोर्ट ही प्रकाश डाल सकेगी। यदि हम चि0धू0मृ0 लौह काल को लगभग 1000–500 ई0पू0 रखते हैं तो इन ईटों की स्थिति निश्चय ही असामान्य है। अब तक कोई भी कार्बन– 14 तिथियाँ उपलब्ध नहीं है।

[5] व्हीलर, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, लंदन –1959, पृ0 130

[6] आई0ए0आर0, 1963–64, पृ0 49

अनुष्ठानों के बिना पकी ईटों के प्रयोग की प्राचीन वैदिक परम्परा महाराष्ट्र में[1] तथा सम्भवतः देश के कुछ अन्य भागों में अब भी प्रचलित है। चि0धू0मृ0 बस्तियों का सम्पूर्ण चित्र उन्हें नगरीय ठहराने का साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता जैसा कि व्हीलर ने किया है।[2] अधिक से अधिक चि0धू0मृ0 काल के अन्तिम चरणों में उन्हें आद्य नगरीय कहा जा सकता है। उत्तर वैदिक ग्रन्थ नगरीय जीवन के विषय में नहीं जानते थे। पंचालों की राजधानी काम्पील[3] एक प्रशासनिक बस्ती हो सकती थी। "नगर" शब्द एक "आरण्यक"[4] में उद्धृत है और "नगरिन"[5] शब्द दो ब्राह्मण ग्रन्थों में। परन्तु ये ग्रन्थ 600 ई0पू0 के पहले के नहीं है।

प्रौद्योगिकी की दृष्टि से चि0धू0मृ0 काल के अधिकतर भाग में लोहे का प्रयोग होता था।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि चि0धू0मृ0 काल के प्रारम्भिक चरण में लोहे का ज्ञान नहीं था जैसाकि हरयाणा में भगवानपुरा तथा पंजाब में कुछ अन्य स्थलों के उत्खननों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है। परन्तु गंगा घाटी के मैदान में चि0धू0मृ0 तथा लोहे के उपकरण एक दूसरे से सम्बद्ध है। इन उपकरणों में मुख्यतः भाले के अग्र, वाणाग्र खूटी आदि प्राप्त होते हैं। समनुरूप कार्बन 14 तिथियाँ इन्हें

---

[1] इसकी सूचना श्री एम0एम0 देशपाण्डेय से प्राप्त हुई।

[2] सिविलाइजेशंस ऑफ द इण्डस वैली एण्ड बियोंड, कैम्ब्रिज 1966, पृ0 102

[3] रै0इ0जि0 1, 149

[4] वही, 432

[5] वही

[6] प्राचीन भारत में लोहे पर पचासवें दशक के मध्य से अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। इनमें मुख्य रूप से इसकी उत्पत्ति अथवा प्रसारण की समस्या की विवेचना की गई है यद्यपि कुछ ग्रन्थ तकनीकी पक्षों पर भी विचार करते हैं। लोहा तभी उत्प्रेरक बना जब इसकी आपूर्ति सामान्य हो गई तथा जब धातुकार ने इस प्रकार के ईधन और तकनीकों के प्रयोग के विषय में जानकारी प्राप्त कर ली थी जिनके द्वारा वह उपकरणों को यथेच्छा मोड़ सकता था और मजबूत बना सकता था। डी0डी0 कोसंबी सम्भवतः पहले विद्वान थे जिन्होंने भारतीय संदर्भ में लोहे के सामाजिक तथा क्रियात्मक आयामों पर बल प्रदान किया।

850 ई0पू0 से पहले का निर्धारित नहीं करती है। अतरंजीखेड़ा से प्राप्त लोहे के उपकरण धौंकनी के उपयोग सहित विकसित ज्ञान के परिचायक है। राजस्थान में झुंझनू जिले में सुनेरी गाँव के एक उत्खनित स्थल में लोहे को पिघलाने तथा लोहे की वस्तुओं को गढ़ने के लिये बनायी गई दो भट्टियाँ प्राप्त हुई है।[1] यह सूचित किया गया है कि ये भट्टियाँ खुले प्रकार की है तथा इनमें धौकनियाँ लगी हुई है।[2] ये सभी खोजे चि0धू0मृ0 संस्कृति में सम्बद्ध है जिसे 3000 वर्ष प्राचीन माना जाता है।[3] परन्तु लोहे को पिघलाने तथा धौकनियों की 1000 ई0पू0 की स्तर विन्यसिक तिथियाँ कालान्तर में उपलब्ध कार्बन 14 तिथियों को दृष्टि में रखकर परिवर्तित की जा सकती है। सामान्य शब्द "भस्त्रा" का प्रयोग "शतपथ" ब्राह्मण[4] में चमड़े के आसन के अर्थ में किया गया है परन्तु इस शब्द की उपस्थिति का अर्थ यह हो सकता है कि वैदिक काल के अन्तिम चरणों में लोगों का धौकनी से परिचय हो गया था।

<u>रामायण कालीन कला</u> :–

अवध और उसके आसपास इक्ष्वॉकुओं का प्रभाव था। मथुरा के आसपास और मालवा तथा गुजरात में यादवों का बोलबाला था और इन नगरों में इनका बड़ा प्रभाव था। राजा अर्जुन जो हैहय वंश से था उसने गंगा और यमुना नदियों के बीच के भाग[5] पर हमला किया और काशी राज्य को मिटा दिया, इस पर इक्ष्वॉकुओं व कन्नौज वालों ने मिलकर अर्जुन कार्त्तिवीर्य को मार डाला। हैहयो ने इसके पश्चात् पश्चिमोत्तर की विदेशी जाति के लोगों की सहायता की और कन्नौज, अयोध्या और काशी पर

---

[1] द टाइम्स ऑफ इण्डिया, दिल्ली संस्करण जून 26, 1981

[2] वही, धौकनी के अस्तित्व को प्रकट करने वाले साक्ष्य की प्रकृति के विषय में कोई सूचना नहीं दी गई है।

[3] वही

[4] 1.1,2,7 6.3.16 वै0इ0 जि0 2, 99

[5] इस जमीन को दोआब भी कहा जाता है।

हमला किया और वहां के निवासियों को जीत लिया।[1] इक्ष्वाँकुओं में राजा सगर एक प्रसिद्ध राजा थे इसने हैंहयो को हराकर खदेड़ दिया। सगर के पश्चात् अयोध्या के राजा का महत्व कुछ कम पड़ गया चूँकि हैहयो का नामोनिशान न था अतः यादवों की उन्नति होने लगी थी उन्होनें अपने राज्य का विस्तार करके उसमें मथुरा, मालवा, गुजरात, बरार आदि भी सम्मिलित कर लिये थे।[2]

पुरूवंशी भी, जो हैहय वंश के हाथों दब चुके थे, अब ताकत पकड़ने लगे। राजा दुष्यंत इस वंश का महान शासक था। उनका अधिकार रामनगर, फर्रूखाबाद और हस्तिनापुर पर था। दिलीप खंटग के समय अयोध्या राज्य ने पुनः उन्नति की। दिलीप के पुत्र दशरथ हुए और दशरथ के चार पुत्रों– राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न ने दूर–दूर तक विजय प्राप्त की और आर्य सभ्यता को भारत के कोने–कोने तक पहुँचाया। राम ने तो दक्षिण की ओर आक्रमण किया और उनके भाई हिमालय के उत्तरी देशों की ओर गये। रामराज्य का पता हमें महाकवि बाल्मीकि के महाकाव्य रामायण से पता चलता है जो कि संस्कृत में विरचित हैं।[3]

रामायण कालीन संस्कृति धर्म द्वारा पूर्णतया अनुप्रमाणित थी। वेदों का प्रभुत्व सर्वव्यापी था। धार्मिक अनुष्ठानों में वे प्रासाणभूत थे, इस समय आर्य जिन देवताओं के पूजा करते थे, उनकी मूर्तियाँ अवश्य बनाई जाती थी।[4] इन्द्र और विष्णु की मूर्ति मन्दिरों में थी, जिनकी पूजा की जाती थी। इस समय देवियों की मूर्तियों की भी पूजा होती होगी, क्योकि कुछ विद्वानों का मत है। इस समय की देवी– देवताओं की मूर्तियाँ अभी तक पृथ्वी के गर्भ में है, यदि उत्खनन कार्य किया गया तो अवश्यमेव इस समय के देवी देवताओं की मूतियाँ मिलेगी, क्योंकि इस सभी का रामायण में उल्लेख है। इस समय हाथी दाँत, कौसा, ताँबा, पत्थर, सोना, चाँदी तथा पीतल

---

[1] भारतीय कलायें, असगर अली कादरी, पृ0 112
[2] प्राचीन भारत, एल0पी0 शर्मा, पृ0 39
[3] प्राचीन भारत, वी0डी0 महाजन, पृ0 87
[4] दास गुप्ता, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 120

की मूर्तियाँ बना करती थी। मूर्तिकार अधिकतर देवी देवताओं की मूर्तियों के बाद राजा की बड़ी मूर्तियाँ बनती थी।[1]

महाभारत कालीन कला :-

महाभारत आर्यो का एक प्रसिद्ध महाकाव्य है, इसे सर्वप्रथम व्यास जी ने संस्कृत में लिखा था। इसमे महाभारत के युद्ध (जो कौरवों और पाण्डवों के बीच हुआ था) का वर्णन है।[2]

जब हम ध्यान पूर्वक मूर्तियों के विषय में सोचते हैं तो हमें इस बात का पता चलता है कि इस सम्बन्ध में भी मूर्तियाँ बनती थी। वैदिक युग के देवताओं की उपासना होती थी तथा उनकी मूर्तियाँ भी बनती थी। इन देवताओं में इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि, ऊषा आदि प्रधान थे।

मनुस्मृति :-

हिन्दू विधि पर सबसे अधिक प्रामाणिक पुस्तक मनुस्मृति है। यही पुस्तक हिन्दू विधि की आधारशिला थी। मनुस्मृति में अत्रि, गौतम, शौनिक और वसिष्ठ के धर्मशास्त्रों का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य और विष्णु ने अपने धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति का उल्लेख किया है।[3]

मानव धर्मशास्त्र का भौगोलिक दृष्टिकोण विन्ध्य पर्वत से उत्तर के क्षेत्र तक सीमित था। आर्य संस्कृति के चार प्रदेशों का भी उल्लेख है जो है- ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश और आर्यावर्त।

देश में कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं थी, देश कई राज्यों में बँटा हुआ था। एक राज्य को

---

[1] आर0के0 मुकर्जी, हिन्दू सिवलिजेशन, पृ0 98

[2] हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, दास गुप्ता, पृ0 131

[3] वी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत, पृ0 129

राष्ट्र कहा जाता था। राष्ट्र का प्रमुख राजा और जनता को प्रजा कहा जाता था। समाज दो भागों में विभक्त था– आर्य तथा अनार्य। स्त्रियों को आदरणीय स्थान नहीं दिया गया था। आश्रम चार बताये हैं। लोग मुख्यतः कृषि पर निर्भर थे। हल, खुना आदि उपकरणों का उल्लेख मिलता है।[1]

लोग पुरों, नगरों और ग्रामों में रहते थे। वे कारीगर मिस्त्री, सुनार, रंगसाज, धोबी, दर्जी, जुलाहा, कुम्हार, ठठेरा, श्रावक आदि का काम करते थे। आदान–प्रदान के लिये धन का प्रयोग होता था। वस्तु विनमय की प्रथा थी। सोने के सिक्कों का प्रचलन था। सोने के सिक्कों को स्वर्ण कहा जाता था। चाँदी के सिक्के में कृष्णाल, माशा, धर्ण और शत मानते हैं। ताँबे के सिक्कों को कार्षापण कहा जाता था।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति :–

यह कुछ संक्षेप रूप में है किन्तु इसमें कई नये विषयों की जानकारी दी गई है।

याज्ञवल्क्य ने वेदों, वेदांशों और चौहद विद्याओं का उल्लेख किया है। उसने दण्डनीति, स्मृतियों, सूत्रों और भाष्यों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों के विहारों का भी उल्लेख किया है जहाँ विद्वान लोग वेदों का गम्भीर अध्ययन करते थे।[3]

विष्णु स्मृति :–

विष्णु ने वेदों की संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, पुराणों, धर्मशास्त्रों व्याकरण और वेदांगों का

---

[1] बुल्हर– लॉज आफ मनु, 1886, पृ0 62

[2] आर0सी0 दत्ता– हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन इन एन्शिएन्ट इण्डिया पृ0 78

[3] छद्र प्रिसा– याज्ञवल्क्य स्मृति, 1918, पृ028

उल्लेख किया है। उपहार सूची पर मुहर लगाई जाती थी। विष्णु ने यव कृष्णाल, माशां, आक्षार्थ, सुवर्ण, निढक और धर्ण सिक्कों का उल्लेख किया है।[1]

<u>नारद स्मृति</u> :–

नारद में सात परीक्षाओं का वर्णन किया है। दास प्रथा का उल्लेख है। नारद द्यूत पर राजनियन्त्रण और राजस्व वृद्धि के समर्थक थे। इन्होंने– दिनार, पण और कार्षापण सिक्कों का उल्लेख किया है।[2]

<u>विष्णु धर्मोत्तर पुराण</u> :–

यद्यपि विष्णु धर्मोत्तर पुराण की गिनती अठारह पुराणों वा उपपुराणों में नहीं है तथापि विष्णु पुराणों का एक प्रकार का खिल है और उसके संकलन का समय मध्यकाल से पीछे का नहीं ठहरता। इसी के एक अंश का नाम चित्र सूत्र है जो प्रस्तुत काल की रचना जान पड़ता है।[3] इसमें चित्रों के शारीरिक लक्षण, रंग, अंकन–विधान तथा तान्विक सिद्धान्तों का कई अध्यायों में बड़ा विशद विवेचन है इसके बाद के कई ग्रन्थों में– जैसे अभिलषितार्थ, चिन्तामणि, मानसार, शिल्परत्न और समरांगण सूत्रधार आदि में चित्र–शास्त्र पर अध्याय मिलते हैं उन सबका आधार मुख्यतः यही चित्र सूत्र है।

---

1 पी0वी0 लर्गे– हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्रा, वोल्यूम–5, पृ0 65

2 श्रीराम– सोशल स्ट्रक्चर एण्ड वेल्यूज इन लेट स्मृतीज, पृ0 21

3 इस सूत्र में रंगों के लिये संस्कृत "राग" नहीं, आज तक बोलचाल में चलने वाले "रंग" शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ संस्कृत में अभिनय वा युद्ध भूमि होता है। अतः जान पड़ता है कि इसमें गुंफित सिद्धांत उस समय की बोलचाल की भाषा से संस्कृत में निबद्ध किये गये हैं अर्थात उस समय के कारीगरों में इन सिद्धान्तों का प्रचार था।

<u>समीक्षा</u> :-

भारतीय कला में मूर्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी सामग्री बहुत है और प्राचीन भी है और मूर्तियों में ढाले गये विषय भी विविध प्रकार के हैं। सिन्धु सभ्यता से लेकर अद्‌यावधि पार्थिव मूर्तियों का प्रचलन रहा है। कहना चाहिए कि खिलौनों को कला शिलामयी मूर्तियों से भी अधिक काल तक जीवित रही। अनेकों स्थानों पर अलंकृत ईटों के कितने ही मन्दिर बने जिनमें मिट्‌टी के फलक और मूर्तियां लगी हैं जबकि पत्थर की मूर्तियों या पाषाण प्रतिमाओं की रचना शेष हो चुकी है।

उत्तरी भारत के कई ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई में मनुष्य और पशुओं की आकृत्ति के बहुत से खिलौने और बड़ी मूर्तियां भी मिली हैं। उस सामग्री के आधार पर मूर्तियों की वर्गीकृत सूची बनाई जा सकती है।

महाभारत और उत्तरकालीन साहित्य में मृण्मयी मूर्तियों के उल्लेख पाये जाते हैं। द्रोण के शिष्य एकलव्य ने अपने गुरू की मिट्‌टी मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की थी। भद्र देश का राजकुमार अश्वपति बचपन में मिट्‌टी के घोड़े बनाकर उनसे खेलता था। भद्‌दसाल जातक में लिखा है कि राजकुमार को ननिहाल की ओर से हाथी घोड़ें और अन्य खिलौने खेलने को दिये जाते थे। मृच्छकटिल नाटक का तो नाम ही मिट्‌टी की गाड़ी के आधार पर रखा गया है। नागार्जुनकोण्डा के शिलापट्‌ट पर पहियेदार छोटी गाड़ी के चित्र हैं जिसे एक बच्चा धागे से बांधकर खींच रहा है। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की महीमयी या मिट्‌टी की मूर्ति का उल्लेख है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में एक चित्रित मयूर का उल्लेख किया है।

गुप्त युग में कला की दृष्टि से सुन्दर खिलौने बनते थे किन्तु उन्हें और भी सुन्दर बनाने के लिए उन पर केश, आंख, वस्त्र आदि की सजावट रंग बिरंगी चित्रकारी से की जाती थी।

ऐसे कई नमूने अहिछत्रा, राजगढ़, मीटा आदि की खुदाई में मिले हैं। गुप्तकाल में बड़े आकार की भी मूर्तियां बनायी जाने लगी। अहिछत्रा से शिवमन्दिर में लगी गंगा और यमुना की लगभग कायपरिमाण मूर्तियां मिली है। इस सम्बन्ध में साहित्यिक उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। बाण में लेप्यकार और पुरतवृत्त नाम से मिट्टी और गच्चकारी के खिलौने बनाने वाले दो ढंग के कारीगरों का उल्लेख किया है। बुद्ध कोण में मिट्टी की इस कला को पोत्थक रूप कहा गया है हाथी दांत के काम को दान्त रूप और ढलाई के काम को लोट रूप कहा है। बाण की अपन मित्र मण्डली में मनचाहे खिलौने बनाने वाला कुमार दत्त नामक एक पुस्तवृत्त उसका विशेष मित्र था। राजशेखर ने लिखा है कि राज्यसभा में लेप्यवृत्त को भी चित्रकार, स्वर्णकार, वैक्टिक आदि के बराबर स्थान मिलना चाहिये। हरिश्रेण ने लिखा है कि राजा को आज्ञा से एक पुस्तवृत्त बहुत बड़ी गच्चकारी की मूर्ति बनाने के काम पर लगाया गया। इससे उन मूर्तियों का स्मरण होता है जो नालन्दा के विहार और मन्दिरों में बच गयी है।

गुप्त युग और उसके काल के कुछ बड़े मन्दिर को अलंकृत ईटों मृण्मयी मूर्तियों और फलकों से बने हैं। अभी तक इस काल के महत्वपूर्ण पद की सूचना देते हैं। कानपुर के पास भीतर गांव का मन्दिर, सीरपुर का लक्ष्मण मन्दिर, सारनाथ का छोटा मृण्मय स्तूप, पहाड़पुर का बड़ा स्तूप, जिसकी सजावट में हजारों मिट्टी की मूर्तियां लगी थी और महा स्थान के अवशेष इस बात के साक्षी हैं कि इस कला में इतनी उन्नति की थी।

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय कला को दोनों पक्ष इष्ट थे, अर्थात सुन्दर वस्तुओं का बाह्र रूप एवं उनका आन्तरिक अर्थ। अर्थ के बिना कला रिक्त, तुच्छ या छूंछी है। शुक्र नीतिकार ने केवल प्रतिकृति को अस्वर्ग्य माना गया है।[1] कालिदास ने इस बात को वाक् और अर्थ का संयुक्त या

---

[1] रीता शर्मा– प्राचीन भारत, पृ0– 87–89

मिला हुआ रूप कहा है। उसमें वाक् कला और काव्य का बाह्र रूप है। अर्थ उसकी भीतरी व्याख्या है शिव और पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप की भाँति वाक् और अर्थ भी उभयनिष्ठ है इन दो पक्षों को हम बहिर्बेदि और अन्तर्वेदि भी कह सकते हैं। शिल्पी और विचक्षण को प्रयत्न करना चाहिये। कि इन दोनों पक्षों में रूचि लें। कलाकार शिल्पी अपने चित्त या ध्यान की शक्ति से कला रूपों का विचार करता है। रसिक, सहृदय या विचक्षण आध्यात्म सुख के लिये रूपों के अर्थ की जानकारी प्राप्त करता है।[1]

भारतीय रस शास्त्र का यह परिपूर्ण सिद्धान्त शब्दमय और अर्थमय दोनों पक्षों के लिये हुआ था। भारतीय प्रज्ञाशील मनीषी इन दोनों नेत्रों से कला ओर काव्य को देखते हैं। कला की प्रभूत सामग्री काव्यों में भरी हुयी है कला, धर्म, काव्य और दर्शन, ये चार स्तन है जिनसे वह मानवीय मन की सृष्टि के लिये दुग्ध की पोषणात्मक धारायें प्रवाहित करती है। उसकी दुद्धाधारणी मुद्रा में इन चारों का समन्वयन है। वैदिक संहिता, ब्राह्मण, पाली और आगम साहित्य बौद्ध और जैन भाष्य और टीकायें, पुराण और काव्य, इन सबमें हम एक ही अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ पाते है।[2]

इस सूत्रात्मा का दर्शन भज्ञरतीय संस्कृति के अध्ययन की सिद्धि हैं उनकी एकता और विभिन्नता, भारतीय कला के सहस्त्र रूपों में अंकित हैं। उसमें हमें पृथ्वी और स्वर्ग की भाषा का समन्वय मिलता है–

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ।[3]

---

1 राज्य संग्रहालय भोपाल द्वारा प्रकाशित, शैव प्रतिमायें, पृ0 38

2 द्विवेन्द्र नाथ– भारतीय स्थापत्य, पृ0– 43–44

3 अथर्ववेद, 1211/63

कला का उद्देश्य जीवन के लिये हैं वह उद्देश्यहीन साधना नहीं। दिव्यावदान के विचार शील लेखक ने यही भाव प्रकट करते हुये लिखा है कि कला के अभिप्राय शोभा एवं जीवन रक्षा दोनों के लिये होते हैं- सुदर्शननगरे

एकोनद्वार सहस्त्रं देवानां (रूपाणि)

आरक्षणार्थम् इव्यर्थम् शोभनार्थम् ।[1]

---

[1] दिव्यावदान, पृ0 221

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का समय अखिल भारत में धार्मिक क्रान्ति का समय प्रमाणित हुआ। उस समय तक आते–आते ब्राह्मण धर्म अपनी सरलता और सहजता को छोड़ चुका था उसमें कट्टरता, पुरोहित वाद, जटिलता और व्यय शीलता जैसे दुर्गुण उत्पन्न हो चुके थे। इस कारण जनता में धार्मिक असन्तोष उत्पन्न होने लगा। ब्राह्मण धर्म में अब उतनी क्षमता शेष नहीं रही थी कि वह लोगों की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता। फलतः लोगों का ब्राह्मण धर्म पर से विश्वास उठने लगा। ब्राह्मणों ने अपनी सामाजिक सर्वोच्चता को सुरक्षित रखने के लिए समाज में वर्ण भेद की भावना उत्पन्न कर दी। धर्म पालन और धार्मिक ग्रन्थों का पठन–पाठन का अधिकार केवल उच्च वर्गों तक ही सीमित रखा गया। इस वर्ण भेद के कारण निम्न वर्गों में असन्तोष उत्पन्न हुआ अब एक ऐसे सार्वभौमिक धर्म की आवश्यकता थी जो सहज और सरल होने के साथ–साथ सामाजिक समानता पर बल देने वाला भी हो। इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्मों के उदय की पृष्ठ भूमि तैयार हुई।

<u>जैन धर्म का उदय</u> :–

जैन शब्द की उत्पत्ति "जिन" शब्द से हुयी है जिसका अर्थ है वह व्यक्ति जिसने अपने चंचल मनोवेगों पर विजय प्राप्त कर ली है। जैन धर्म में इन्द्रीय नियंत्रण पर बल दिया है जिससे कि केवल्य प्राप्ति हेतु संसार त्याग आसानी से किया जा सके। जैन धर्म स्पष्टतः निवृत्त मार्गी है।[1]

जैन धर्मानुयायियों की मान्यता है कि जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन है तथा प्रागेतिहासिक युग में ही यह उत्पन्न हो चुका था। जैन ग्रन्थों को प्रमाण मानकर चला जाये तो हमें ज्ञात होगा कि पार्श्वनार्थ से पूर्व 22 तीर्थकंर हो चुके थे इसके आधार पर जैन धर्म वैदिक युग का ही समकालीन

---

[1] ए0बी0 लाथा – एन इन्ट्रोडक्शन टू जैनिस्म, 1905, पृ0 26–27

प्रमाणित होता है।[1] जैन धर्म की उत्पत्ति चाहे किसी भी युग में हुयी हो पर इतना निश्चित है कि छठीं शताब्दी ईसा पूर्व में जैन धर्म नये विचारों के साथ प्रस्तुत हुआ।

पार्श्वनाथ के बाद जैन धर्म के नेतृत्व का कार्य महावीर स्वामी ने संभाला। ज्ञान प्राप्ति के कारण तथा इन्द्रियों को वश में करने के कारण महावीर "जिन" कहलाऐ। तपस्वी जीवन के दौरान महान पराक्रम प्रदर्शित करने के कारण वे "महावीर" भी कहलाये।[2]

भारतीय नागरिक जटिल ब्राह्मण धर्म के बोझ से दबकर त्राहि–त्राहि कर रहे थे। जैन धर्म जटिल ब्राह्मण धर्म के विरूद्ध जनता को धार्मिक सन्तोष देंने के लिए ही उत्पन्न हुआ। स्पष्टतः जैन धर्म के दो पक्ष दृष्टिगत होते हैं –

1. दार्शनिक या सैद्धान्तिक पक्ष
2. व्यवहारिक पक्ष या नैतिक पक्ष[3]

दार्शनिक या सैद्धान्तिक पक्ष :–

(1) **निवृत्तमार्गी धर्म :** जैन धर्म के अन्तर्गत मानव जीवन–मृत्यु के भय से आक्रान्त बताया गया है। इसके अनुसार शरीर नश्वर, क्षण भंगुर, अर्थविहीन व भौतिक है, इसलिये शरीर के सुख और भोग की ओर हमें आकर्षित नहीं होना चाहिये। वास्तविक सुख संसार त्याग में है। स्पष्टतः जैन धर्म में निवृत्ति पर बल दिया गया प्रवृत्ति पर नहीं।

(2) कर्मवाद तथा पुर्नजन्म पर बल दिया गया।

---

[1] ब्लूम फील्ड– द लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ द जैन सेवियर पार्श्वनाथ, 1919, पृ0 58

[2] मानक चन्द जैनी– द लाइफ ऑफ महावीर, 1908, पृ0 19

[3] रीता शर्मा– प्राचीन भारत, पृ0 124

(3) समस्त द्रव्यों को दो भागों में बांटा गया– अस्तिकाय और अनस्तिकाय। जीव को आत्मा का ही दूसरा रूप माना गया है। जीव सम्भवतः पूर्ण है परन्तु पुदगल से संयुक्त रहने की अवधि मे इसके ये गुण लुप्त हो जाते हैं। जैन धर्म में जीव दो प्रकार के माने गये हैं – मुक्त और वद्ध।

(4) जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व को तो मानता है परन्तु उसे एक रूप और अखण्ड नहीं मानता।

(5) जैन धर्म में अनीश्वरवाद को मान्यता दी गयी है।

(6) "स्यादवाद" जैन धर्म का अद्‌भुत सिद्वांत है। इस सिद्वांत के प्रतिपादन का आधार यह मत है कि सत्य के अनेक रूप होते हैं उसका स्वरूप इतना जटिल और व्यापक होता है कि किसी भी एक वाक्य के द्वारा उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति कर पाना असम्भव है।

(7) ज्ञान को जीवन या आत्मा का आन्तरिक गुण माना गया है तथा बन्धनमुक्त होकर उसके विस्तार पर बल दिया गया है।

(8) "केवल्य" या निर्वाण प्राप्ति जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।[1]

व्यहारिक पक्ष[2] :–

(1) वेदों को प्रमाणिक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार न करके उनका तिरस्कार ही किया गया है।

(2) सम्यक दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न के रूप में स्वीकारा गया।

(3) चरित्र निर्माण के लिये– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिगृह इन पंच महाव्रतों को स्वीकारा गया।

(3) गृहस्थों के लिये प्रथक नियम बनाये गये इनमें सात शील व्रत –

(1) दिग्व्रत

---

[1] एन0आर0 गुसेवा– जैनिस्म, बम्बई, 1971, पृ082

[2] श्रीवास्तव– जैन धर्म, पृ0 52

(2) देशव्रत

(3) अनर्थ दंड व्रत

(4) सामयिक स्वविचार के लिये कुछ समय निर्धारित करना।

(5) प्रोषद्‌योपवास

(6) उपभोप्रतिभोग परिणाम

(7) अतिथि संविभाग आदि बनाए गये।

(4) गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं के पालन के लिए जैन धर्म में पांच समितियों के पालन पर बल दिया गया।

(5) नारी स्वातन्त्रय पर बल दिया गया

(6) नग्नता पर भी बल दिया गया

जैन धर्म का कलात्मक योगदान :-

अन्य धर्मों के समान जैन धर्म ने भी अपने सिद्धान्तों के विकास एवं प्रसार के लिये कला का आश्रय लिया। मूर्तिकला, स्थापत्य कला चित्रकला के माध्यम से जैन मुनियों ने अपने सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति तो की है साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से इन कलाओं के विकास में भी सहयोग दिया।[1]

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जैन धर्म के अन्तर्गत अनेक मूर्तियां एवं स्तूप बनवाये गये। सम्भवतः मौर्य और शुंग काल में जैन धर्म के अन्तर्गत मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ अन्य धर्मों के समान इस धर्म में भी लोग जैन तीर्थन्करों की मूर्तियां बनाकर इनकी पूजा करने लगे। अनेक अभिलेखीय साक्ष्य भी यह प्रमाणित करते हैं कि मौर्य युग से पूर्व भी जैन धर्म में मूर्ति पूजा का प्रचलन

---

[1] बी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत, पृ0 148

था। रानी नूर नामक उदयगिरि की गुफा के एक रिलीफ चित्र में जैन तीर्थान्कर पार्श्वनाथ के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त जैन धर्म में पूजी जाने वाली विद्या, देवियों, दिगपालों, नावगृहों, योगिनियों, क्षेत्रपालों तथा लक्ष्मी की आकर्षक प्रतिमायें मध्य प्रदेश के खजुराहो नामक स्थान पर जैन मन्दिरों तथा राजस्थान के दिलवाड़ा जैन मन्दिरों में मिलती है। जैन धर्म में गुफा स्थापत्य को भी अधिक विकसित किया गया। मध्य प्रदेश में उदयगिरि की गुफायें, महाराष्ट्र में एलोरा की गुफायें इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं, जिनकी दीवारों पर जैन तीर्थंकरों के जीवन के दृश्य अंकित किये गये हैं। जैन मुनियों ने अनेक आकर्षण मन्दिर भी बनवाये। प्रायः मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटे–छोटे मन्दिरों या गढ़ों का होना जैन मन्दिरों की अन्यतम विशेषता रही है।[1]

मथुरा जैन धर्म का प्राचीन केन्द्र था। ब्राह्मणों और जैनों ने यहां अपने धर्म और कला के केन्द्र स्थापित किये मथुरा के जैन बहुत सम्पन्न और वैभवशाली थे। मथुरा में जैन धर्मियों की परम्परा अभी तक चली आई है।

कंकाली टीले की खुदाई से कितनी ही मूर्तियां और वस्तुखण्ड प्राप्त हुये हैं ये किसी समय मथुरा के दो स्तूपों में लगे हुये थे। "देवनिर्मित स्तूप"[2] नामक एक बहुत पुराना स्तूप मथुरा में

---

[1] ओम प्रकाश– प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 67

[2] देवनिर्मित शब्द स्तूप की प्राचीनता की ओर संकेत करता है। जब मानवीय परम्परा से भी पीछे देव निर्माण की परम्परा में लोगों का विश्वास था यह भी किंवदन्ती है कि मूलतः स्वर्ण और रत्नों का एक छोटा स्तूप था जिसे पीछे मिट्टी, ईंट और पत्थरों से आच्छादित कर दिया गया। रायपसेणीय सुत्त में सूर्याभदेव के विमान का वर्णन उसी स्तूप पर घटित होता है, जिसमें पत्थर की वेदिका, स्तम्भ और द्वार तोरण थे।
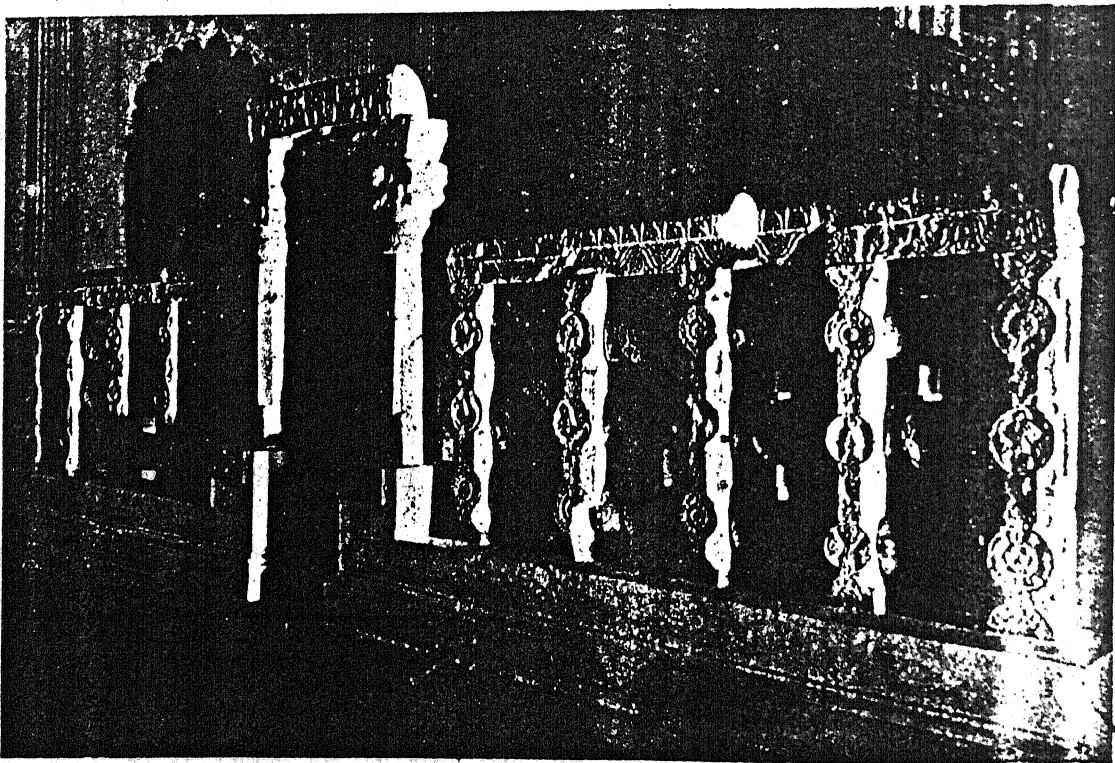
चित्र सं- 8

थो जो सम्भव है मिट्टी के थूहे के रूप में मौर्यकाल से भी पुराना रहा हो। मुनिव्रत की एक प्रतिमा इस स्तूप की खुदाई में मिली थी। स्तूप का निर्माण कुबेरा यक्षी ने किया था।[1] भगवान सुपार्श्व के सम्मान में इसका निर्माण कराया गया था। कालान्तर में 23वें तीर्थांकर पार्श्वनाथ के समय में उन स्तूपों पर ईटों का कञ्चुक या खोल चढ़ाया गया। महावीर के 1300 वर्ष बाद बप्प भट्टि ने इस स्तूप का पूरा संस्कार कराया।[2] सम्भवतः एक से अधिक बार स्तूप का संस्कार हुआ। मूल स्तूप का छोटा सा थूहा था जिसके भीतर स्वर्ण और रत्नों का और भी छोटा स्तूप गर्भित किया गया। वह मिट्टी का स्तूप ईटों से और ईटों का पत्थरों से आच्छादित किया गया तीसरे संस्कार में स्तूप को शिलाघटित या शिलामय कञ्चुक ओढाने के साथ ही द्वार तोरण वेदिका स्तम्भ पुष्प चढ़ाने की वेदिका आदि से सज्जित किया गया। (चित्र सं- 8)

एक कथा भी इसी स्तूप पर है[3] कि बौद्ध एक लोग इस स्तूप को अपना कहकर जैन स्तूप पर दखल देना चाहते थे। छह महिने तक विवाद चला तब राजा ने जैन संघ के पक्ष में निर्णय दिया। तथ्य यह ज्ञात होता है कि जैन स्तूप के निकट ही सड़क के उस पर बौद्धों ने भूतेश्वर टीले के स्थान पर अपना स्तूप बनाया। वहां बहुत से बौद्ध वेदिका स्तम्भ पाये गये हैं। क्योंकि प्राचीन जैन स्तूप के वेदिका स्तम्भों पर कोई मूर्ति नहीं मिली हैं जिससे बौद्ध धर्म के साथ उसका निश्चित सम्बन्ध बताया जा सके अतः पद्मवर वेदिका वाले स्तूप पर बौद्धों ने दावा किया ऐसा ज्ञात होता है।[4] किन्तु राजा के न्याय के कारएण उन्हें विफल होना पड़ा। कुषाण काल में जो मूर्ति को प्रधान मानकर कला

---

1 जिन प्रभु सूरि (विविध तीर्थ) के अनुसार।

2 यहां से प्राप्त गुप्तकालीन मूर्तियां उसी समय की ज्ञात होती हैं।

3 व्यवहार सूत्र भाष्य में इस कथा का वर्णन है।

4 वी0एस0 अग्रवाल, भारतीय कलायें, पृ0 162

का नया स्वरूप विकसित हुआ उसके अनुसार जैनों ने एक नया स्तूप बनाने का निर्णय किया जिसमें तीर्थंकर की मूर्ति को प्रधानता दी गई। उस प्रकार की जैन मूर्तियों के अनेक उदाहरण जैन स्तूप से मिले हैं।

दूसरे जैन स्तूप में अनेक लेख लिखवाये गये जिन पर कुषाण संवत् में तिथियाँ दी गयी है, यह भी नये स्तूप की एक विशेषता थी।[1] इन लेखों से उस समय के माथुर जैन संघ पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। गच्छ, पुर और शाखाओं के जो नाम लेखों में लिखे है वे ही भद्रवाहु में कल्पसूत्र में आये है। पुरातत्व और साहित्य का यह मेल बहुत ही श्लाघनीय है और दोनों की सत्यता प्रमाणित करता है। वेदिका स्तम्भों में जो कला की सामग्री है, उसका विवेचन किया जा चुका है। हमारा ध्यान उन तीर्थकर एवं मूर्तियों की ओर जाता है, जो नये रूप में स्थापित की गयी, जैसी उस युग की प्रथा थी। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण सभी अपने-अपने देव स्थानों में उसका पालन कर रहे है, कनिष्क और हुविष्क के राज्यकाल में विशेष रूप से ऐसा हुआ।[2]

सर्वप्रथम आयाग पट्टों का स्थान ही ये आर्यक पट्ट पूजा शिलायें थी, जिनकी परम्परा और भी पहले से चली आती थी। जैनों ने अपने नये स्तूप में इनकी बहुत सुन्दर रूप में स्थापना की और उनके रूप-सम्पादन में बड़ी मौलिकता का परिचय दिया। ये पूजा शिलायें प्रतीकात्मक और तीर्थंकर प्रतिमा संयुक्त दोनों प्रकार की है। इनमें प्रतिमा पूजन और प्रतीक पूजन दोनों विधियों का बहुत ही अच्छा समन्वय किया गया है। प्रतीकों की दृष्टि से स्वस्तिक पट्ट, चक्र पट्ट और चैत्य पट्ट या स्तूप पट्ट बहुत महत्व के है।

लेखों का ''आयाग'' शब्द संस्कृत आर्यक से निकला है और भाषा भेद से वही है

---

1 बी0एन0 पुरी – इण्डिया अण्डर द कुषानाज (1965) पृ0 106
2 बी0एन0 मुकर्जी – स्टडीज इन कुषाना जैन्येलॉजी एण्ड क्रोनोलॉली वोल्यूम-1, 1967, पृ0 147

जिसे आन्ध्र स्तूपों में आयक कहा है और जो रूप आन्ध्र प्रदेश के नागार्जुन कोण्ड स्तूप के आयक स्तम्भ शब्दों में मिलता है। स्तूप के चतुर्दिक इस प्रकार की पूजा शिलायें या आर्यक पट्ट स्थापित किये जाते थे। पहले तो इन्हीं की पूजा की जाती थी। कालान्तर में इन पर स्तूप पूजा के निमित्त पत्रपुष्प चढ़ाया जाने लगा। महावंश में इन्हें पुप्फाधान और सद्धर्भ पुण्डरीक में उनके लिये पुष्पग्रहणी वेदिका शब्द आया है। मध्यमिका के नारायण वाटक में संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये इसी प्रकार की पूजा शिला शुंग काल में ही स्थापित की गई, जिससे इस परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। कालान्तर में इसी वेदिका या मञ्च को प्रतिमाओं के आसान रूप में कल्पित किया गया। कंकाली टीले से प्राप्त एक तोरण खण्ड पर इस प्रकार के आयाग पट्टों का अंकन किया गया है, जिन पर उपासक माला और फूल चढ़ा रहे हैं।[1] इस चित्र से ज्ञात होता है कि स्तूप के चारों ओर चार दिशाओं में 16 आयाग पट्ट या पूजाशिलायें लगाई जाती थी। प्राचीन जैन आगमों में पुहुमी शिला पट्ट का उल्लेख आता है। इस शब्द को दो अर्थ सम्भव है अर्थात् पृथिवी देवी की पूजा के लिए पधराया हुआ शिला पट्ट या मिट्टी का बना हुआ शिला पट्ट। शिला पट्ट को मिट्टी का बना मानना ठीक नहीं, अतः पहला अर्थ ही ठीक होगा। अतः पृथिवी देवी की पूजा के लिये इस तरह के शिला पट्ट स्थापित करने की प्रथा मथुरा के स्तूपों से पाँच सात सौ वर्ष पूर्व से चली आती थी। इसी कारण यह नाम रूढ़ हो चुका था। कालान्तर में पृथिवी की जगह दूसरे देवों की पूजा, पूजा शिलाओं द्वारा होने लगी।

जैन आयाग पट्ट कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है। उनके दर्शन से नेत्र और चित्त प्रसन्न होते हैं। जैन धर्म में प्रतीक पूजा की संततप्रवाही धारा इनसे सिद्ध होती है और किस प्रकार मूर्ति पूजा का समन्वय उस धारा के साथ हुआ यह भी विदित होता है। प्रतीक या धार्मिक चिन्हों के प्रमाण की जैसी स्फुट साक्षी आयाग पट्टों में है वैसी अन्यत्र नहीं है। प्रतीक और मूर्ति का समन्वय इन रूपों में है और ये पट्ट संक्रान्ति के ज्ञात होते हैं।[3]

---

1 स्मिथ, जैन स्तूप, फलक, 20

2 औपपातिक सूत्र – 5

3 वी0एस0 अग्रवाल, भारत की कला, पृ0 168

प्रथम स्थान में वह आयाग पट्ट है जिसका रूप सम्पादन केवल प्रतीकों से किया गया है।[1] यह चक्रपट्ट है जिसके मध्य में 16 अरे है और जो तीन मण्डलों से घिरा हुआ है। पहले मण्डल में 16 निरत्न चिन्ह है, दूसरे में अष्टदिक्कुमारिकायें है जो आकाश गति से विचरण करती हुयी पुष्प और माल्य अर्पण कर रही है। तीसरे घेरे में एक भारी माला या महापुण्डरीक स्रज संजोई हुयी है। ऐसी दिव्य माला के गूंथने में सहस्त्र पद्म पुष्प तक काम में लाये जाते थे। चौकोर पट्ट के बाहरी कोनों में चार महोरग मूर्तियां गुहक या किंकर मुद्रा में चक्र को उठाये हुए हैं। माला के चारों ओर जो चौखटा है उसमें श्रीब्रह्म त्रिरत्न आदि धार्मिक चिन्ह है। उनकी पूजा करते हुए स्त्री–पुरूषों के शरीर आधे सपक्ष सिंह जैसे है।

इसके अनन्तर की स्थिति का सूचक वह आयाग पट्ट है, जिस पर महा स्वास्तिक का चिन्ह बना है, अतएव जिसे स्वस्तिक पट्ट या सोत्यिय पट्ट की संज्ञा दी जा सकती है। इसके बीच में छत्र के नीचे पद्मासन में तीर्थकर मूर्ति है, उनके चारों ओर स्वास्तिक की चार भुजायें है। तीर्थकंर के मण्डल की चार दिशाओं में चार त्रिरत्न दिखाये गये हैं।[2]

महास्वास्तिक की लहराती चार भुजाओं के मोड़ों में भी चार धार्मिक चिन्ह है। जैसे – मीन, मिथुन, वैजयन्ती, स्वास्तिक एवं श्रीवत्स। स्वास्तिक के बाहर मण्डल में वेदिकान्तर्गत, बोधि वृक्ष, स्तूप एक अस्पष्ट वस्तु और 16 विद्याधर युगलो से पूजित तीर्थकंर मूर्ति, ये चार धार्मिक चिन्ह है।[3]

बाहर के चारों कोनों में गुहक मुद्रा में चार महोरग है। चौकोर चौखटे को एक और बढ़ाकर अष्ट मांगलिक चिन्हों की पंक्ति का अंकन किया गया है, जिनमें स्वस्तिक, मीन, मिथुन और श्रीवत्स सुरक्षित है। चक्र पट्ट और स्वास्तिक पट्ट बौद्ध कला में अमरावती स्तूप पर उत्कीर्ण है।

---

1 स्मिथ– जैन स्तूप, पृ0 248

2 कादरी – प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 98

3 वासुदेव शरण अथवाल – भारतीय कला, वोल्यूम–1, पृ0 163

4 सं0 1253, लूडर्स

चक्र पट्ट का उल्लेख एक स्तम्भ लेख में आया है।[1] और स्वस्तिक पट्ट अमरावती के लेख सं0 1287 में उल्लिखित हैं। तीसरे प्रकार के आयाग पट्ट की संज्ञा चैत्यपट्ट थी। उसके दो नमूने मथुरा में हैं। लखनऊ संग्रहालय सं0 255 पर एक स्तूप सोपान तोरण वेदिका, दो पार्श्व स्तम्भ, शारूभञ्जिका और बब्बुलाकृति अंड वाला है। जिसके कारण उसकी संज्ञा चैत्यपट्ट पड़ी थी। अमरावती में भी एक चैत्य पट्ट मिला है।[2] इसमें दो चैत्य पट्टों के दान के उल्लेख हैं।

एक अन्य चैत्य पट्ट है।[3] जिसका निश्चित प्राप्ति स्थान अज्ञात है। दूसरा चैत्यपट्ट अर्हतों के देवकुल में स्थापित था। यह कंकाल टीले के जैन मन्दिर से सम्बन्धित था। इस पट्ट[4] पर एक स्तूप उत्कीर्ण है, जिसके चारों ओर बेदिका है और सोपान युक्त द्वार तोरण हैं स्तूप के पार्श्व में दो स्तम्भ है, जिनमें एक चक्रध्वज और दूसरा सिंहध्वज है। स्तूप के दोनों कोनों में दो दिगम्वर मुनि, दो सुपर्ण और दो शालभंजिकायें है। सोपान के दोनों ओर तोरणों के नीचे दो स्त्री पुरूष हैं। अमरावती के स्तूप इसी की अनुकृति प्रतीत होती है। तोरणों के नीचे दोनों स्त्री पुरूष था दानदाता दंपति हैं। इससे ज्ञात होता है कि अमरावती के शिल्पियों ने अपने यज्ञपट्टों की अनुकृति मथुरा कला से की।

कला की दृष्टि से आयाग पट्ट सं0 जे0 249 का स्थान सर्वोपरि हैं। इसकी स्थापना सिंह-नादिक ने अहर्तपूजा के लिये की थी। तीर्थकर की प्रतिभा से युक्त होने के कारण इसकी संज्ञा अहर्तपट या तीर्थंकर पट हुई। इसके मध्य में पद्मासन में बैठी तीर्थंकर मूर्ति हैं। उनके चारों ओर चार त्रिरत्न हैं। इस पट्ट के बाहरी चौखटै पर अष्ट मंगलों की पंक्ति है जो अब अष्ट मंगलक माला के रूप

---

[1] सं0 1253 लूडर्स

[2] लूडर्स सूची, सं0 1225

[3] मथुरा संग्रहालय, क्यू 2

[4] इस पट्ट की ऊँचाई 2 फुट 4 इंच और चौड़ाई 2 फुट $9\frac{1}{4}$ इंच है।

में रूढ़ हो गई थी।[1] एक ओर चक्र ध्वज एवं दूसरी ओर हस्तिध्वज हैं। दोनों प्रतीकों के नीचे सिंह संघाट या पीठ सटाकर के बैठे चार–चार सिंह है। मथुरा संग्रहालय सं0 3436 आयाग पट्ट का खण्डित आधा भाग ही बचा है। बीच में ऊँची आसंदी पर जिन पद्मासन पर बैठे और ध्यानमुद्रा में रत हैं। बाहर पहले मण्डल में मकरसंघाट और दूसरे मण्डल में त्रिरत्न, बोधिवृक्ष तथा एक अन्य प्रतीक चार दिशाओं के कोनों में थे और बीच में अष्टदिक्कु-मारिकायें पूजा हार लिये प्रदर्शित थी। जिनके मस्तक पर छत्र है और पार्श्वचर युगल में से दाहिनी ओर वाली स्त्री आकृति चंवर लिये है। अचला द्वारा प्रदत्त एक अन्य आयाग पट्ट इसी प्रकार का है पर प्रतीकों में कुछ हेर–फेर है। चक्रध्वज दोनों में समान है किन्तु पहले में सिंहध्वज के स्थान पर हस्तिध्वज है। पूजा शिलाओं की संख्या 26 होती थी।[2] जिसमें से 12 कंकाली टीला के स्तूप के अवशेषों में मिल चुकी है।

अन्य जैन मूर्तियों में कई मूर्तियां हैं :–

(1) <u>आर्वमती प्रतिमा</u> :–

जिसके दोनों ओर दो चामर ग्राहिणी और छत्रधारिणी है जो शोडास के राज्यकाल के 42 वें वर्ष में स्थापित हुई। चित्र सं- 9

(2) <u>नैगमेश शिला पट्ट</u> :–

यह बाल जन्म का अधिष्ठाता देवता था, इसकी संज्ञा नैगमेव भी थी और वह कार्तिकेय के परिवार का अंग था।

---

[1] मीन–मिथुन, देवगृह विमान, श्रीवत्स, रत्नपात्र या शिरावंसपुट ऊपर की पंक्ति में और त्रिरत्न, पुष्प स्रक, वैजन्ती और पूर्ण घट नीचे की पंक्ति में है।

[2] मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित, स0बी0 1

चित्र सं. - 9

(3) <u>सरस्वती मूर्ति</u> :-

इसका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है और बायें हाथ में पुस्तक लिये है। इसकी स्थापना कुषाणा सं0 54 में हुई। ये तीनों प्रतिमा शास्त्र की दृष्टि से जैन कला की मौलिक देन है।

<u>तीर्थकंर मूर्तिया</u> :

कंकाली टीले के दूसरे स्तूप से प्राप्त तीर्थकंर मूर्तियों की संख्या अधिक है जिनकी चौकियों पर कुषाणा सं0 5 से 95 तक के लेख हैं। ये प्रतिमायें 4 प्रकार की है। (1) खड़ी हुई या कापोत्सर्ग (काउस्सग्ग) मुद्रा में जिनमें दिगम्बरत्व लक्षण स्पष्ट है (2) पद्मासन में आसीन मूर्तियाँ (3) प्रतिमा सर्वतोभद्रिका या खड़ी हुई मुद्रा में चौमुखी मूर्तियां भी नग्न है (4) सर्वतोभद्रिका प्रतिमा बैठी हुई मुद्रा में है।

मथुरा संग्रहालय की बी0 32 संख्यक प्रतिमा& ([illegible]) कापोत्सर्ग या स्थानक मुद्रा में जिन मूर्ति का प्रारम्भिक स्वरूप प्रदर्शित करती है। जो चौमुखी प्रतिमाओं में भी मिलता है। ([illegible]) जिनके अगल-बगल दो चामरधारी पुरूष हैं। आयाग पट्टों में जैसा मिलता है। उस प्रकार की पद्मासन में ध्यान मुद्राकालीन तीर्थकर मूर्ति का स्वतंत्र अंकन अनेक उदाहरणों में देखा जाता है। लखनऊ संग्रहालय की जे0 31 संख्यक ऐसी मूर्ति कुषाण संवत 80 या (158/160 ई0) के लेख से युक्त है। और जिनके वक्ष स्थल पर श्री वत्स का चिन्ह प्रदर्शित करता है। लेख में उन्हें वर्धमान कहा गया है। चौकी पर बीच में चक्र और उसकी पूजा करते भक्तजन है। कुषाण कालीन मथुरा कला में तीर्थकरों के ~~लक्षण~~ नहीं पाये जाते, जिनसे कालान्तर में उनकी पहचान की जाती थी। केवल आदिनाथ या ऋषभनाथ के कन्धो पर खुले हुए केशों की लटे दिखाई गई है और सुपाश्र्वनाथ के मस्तक पर सर्प कणो का आरोप बनाया गया है। इन मूर्तियों की चौकी पर सामने सिंह और धर्म चक्र अंकित है। इन पर श्रावक गृहपति भी बनाये गये हैं, जो धर्म चक्र या तीर्थकर की पूजा के लिये आये हैं।&& एक

& चित्र सं- 10
&& चित्र सं - 11

चित्र सं. - 11

चित्र सं- 10
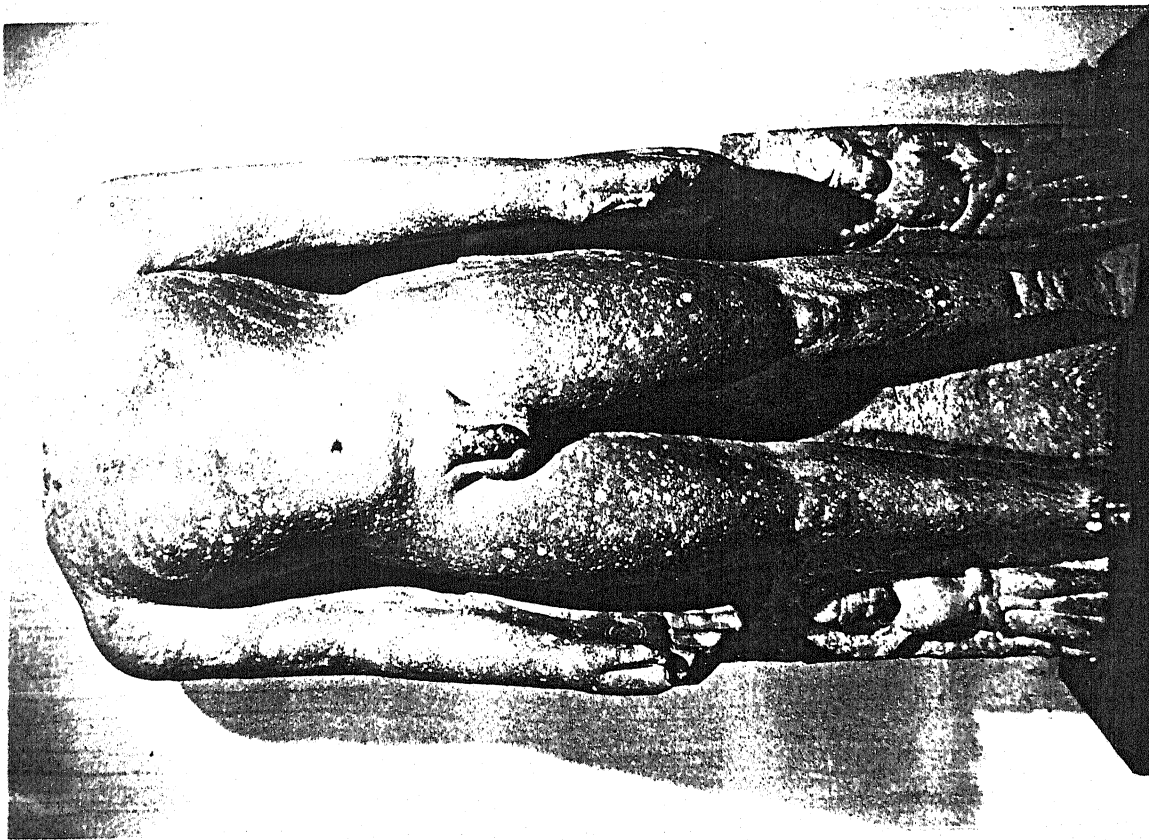
महत्वपूर्ण फलक के ऊपरी हिस्से में स्तूप के अगल–बगल पद्मासन पर बेठे ध्यान मुद्राकालीन चार तीर्थकर अंकित है। निचले मुख्य भाग में एक अर्धफलंक नग्न अर्हत आकृति और एक देवी है। इस अर्हत का नाम उसके सिर के वगल में कग्ह श्रमण उत्कीर्ण है। ऊपर तीर्थकरों के साथ का लेख कुषाण संवत 95 अर्थात 163 ई0 का है। चार जिन आकृतियों में सुवाश्र्व नाथ अपने कणाक्षेप प्रथम तीर्थकर ऋषभ अपने केश राशि से अलग पहचान में आते हैं। चारों ओर के वृक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह है। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों की शैली कुछ स्तब्ध या स्थिर है। जैसा उनकी तपोमुद्रा और समाधि से संगत था। फिर भी आगे चलकर गुप्तकालीन कुछ मूर्तियें में सौन्दर्य और अंगो मे गति शीलता है और कुछ अंलकरण भी हैं महावीर की एक मूर्ति में जो उत्थित पद्मासन में बैठी है।[1] मस्तक के पीछे पद्मातपत्र और ऊपर छल्लेदार केश हैं इसमें अंगों का विन्यास ठस न होकर लोच भरा है और मुख पर दिव्य छवि है। जिन मूर्तियों की समीक्षा करते हुये यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कला के सोन्दर्य परक तत्व यहां भी विद्यमान थे। तीर्थकर प्रतिमाओं की रचना में ब्रह्मसूत्र या मूलम्ब चलायमान नहीं होता उनमें गति तत्व की अपेक्षा स्थिति भाव प्रधान है। इसमें प्रतिमाएं अडिग दृढ़ता का प्रतीक बन गई है जो तीर्थकरों का जीवन सूत्र था तक्षण शिल्प की यह विशेषता तीर्थकर प्रतिमाओं के इतिहास में आदि से अंत तक देखी जाती है। यह उल्लेखनीय है कि वे ही शिल्पी जो स्वविष्ठ जिन प्रतिमा बनाते थे जब वेदिका स्तम्भों पर स्त्री और पुरूषों की मूर्तियां उत्कीर्ण करने लगते तो अपनी बढ़ी–चढ़ी कला शक्ति का परिचय देते थे जैसे उन्हें मानव मुखाकृति और अंग यष्टि की विभिन्न मिंगभावुक्त मुद्राएं बनाने का चिरकालीन अभ्यास हो वेदिका के खम्भों पर विविध मूर्तियों के परिचय और उनकी कलात्मक शैली के विषय में पहले कहा जा चुका है चौकी के सम्मुख भाग में उत्कीर्ण गृहस्थ स्त्री पुरूष और बाल वृद्ध विशेषतः द्वार तोरणो के कछोटो पर उनका अंकन माधुर्य से भरा है तोरण पर कमाज्यो के

---

[1] मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित, सं0बी0 1 चित्र सं - 12
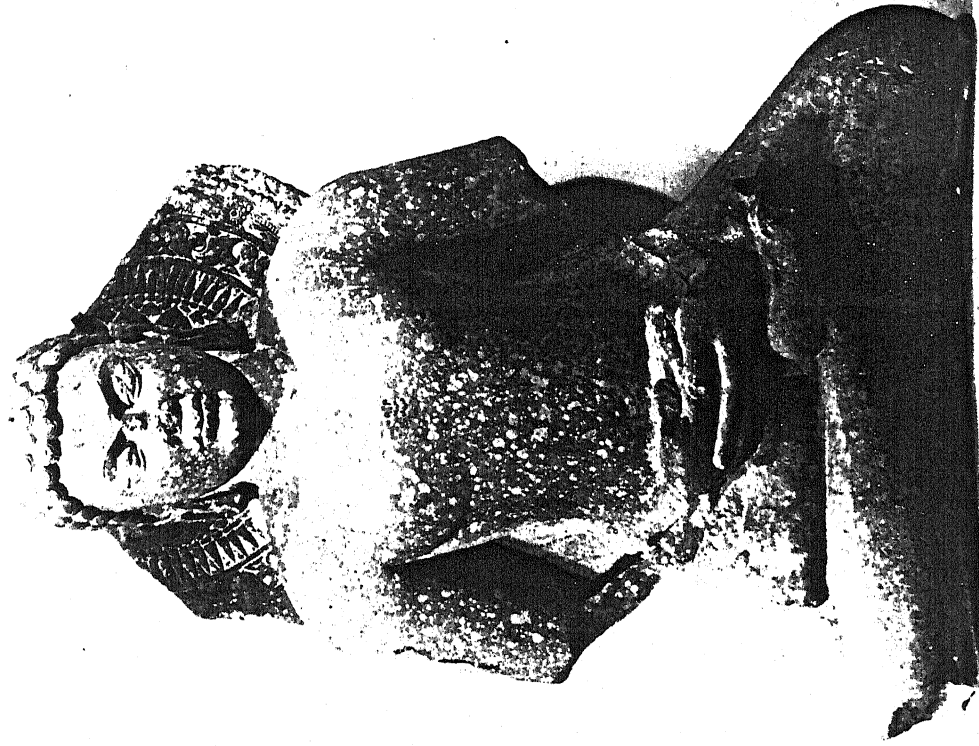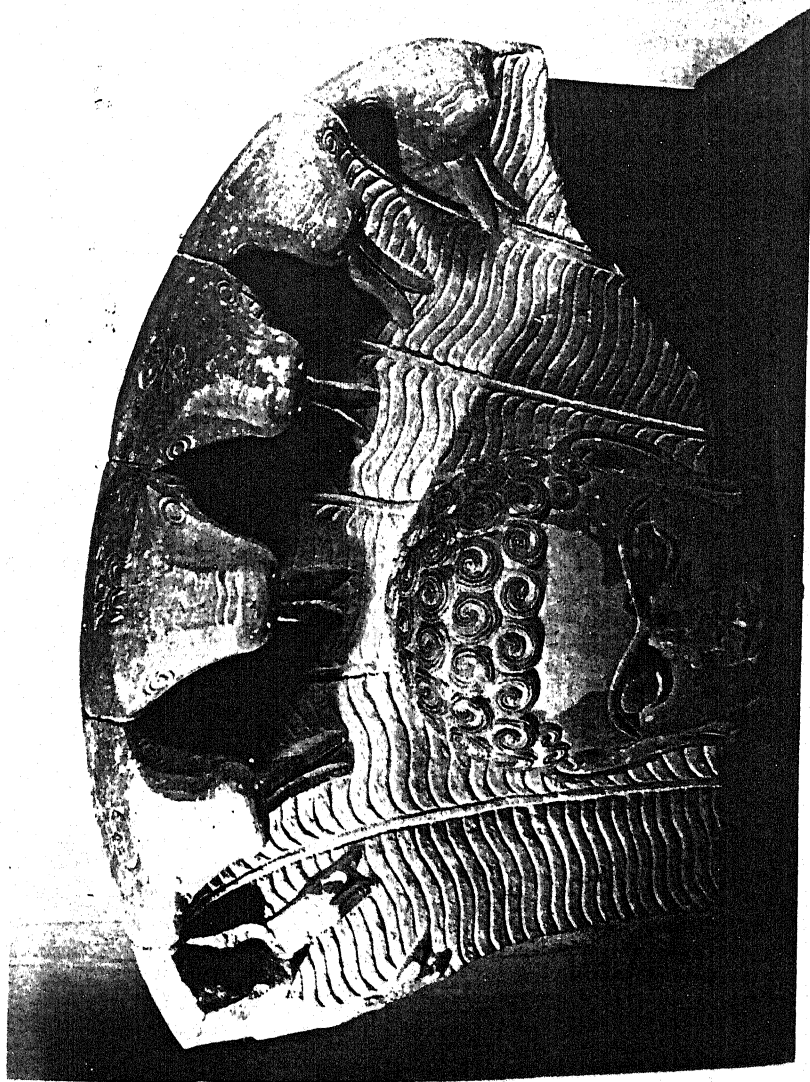
चित्र सं - 13

चित्र सं- 13

चित्र सं - 12

संयुञ्जन में शोभा यात्रा का अंकन विशेष हृदय ग्राही है। मथुरा से द्वारा तोरणों के तीन अयागपट्ट मिले हैं जिनमें दोनों ओर उकेरी है। उमनें से कंकाली टीले से मिला हुआ पट्ट कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। तीर्थक्र मूर्तियों के वक्ष पर श्री वत्स एवं मस्तक के पीछे तेज चक्र या प्रभा मण्डल पाया जाता है। फणाटोप वाली मूर्तियों में प्रभा चक्र नहीं रहता। चौकी पर केवल चक्र या चक्रध्वज जिन मूर्ति या सिंह का अंकन किया गया है। किन्ही मूर्तियों में तीर्थकर का नाम भी मिलता है। वर्धमान प्रतिमा है जो कुषाण सं0 84 में स्थापित की गई । खारवेल के हाथी गुम्फा लेख के प्रारम्भ में वह बना है। पद्मासन में स्थित मूर्तियों में केवल ध्यान मुद्रा मिलती है। मथुरा के जैन धर्माबलम्बियों में भी तीर्थकरों की व्यहू पूजा प्रचलित थी जैसा कितनी ही सर्वतोभद्र प्रतिमाओं में प्राप्ति से सूचित होता है। इसके लिए पहले तीर्थकर ऋषभ नाथ सातवें सफण सुवार्श्व तेइसवें पार्श्वनाथ ओर चौबी सेव महावीर चुने गये । मथुरा संग्रहालय की बी0 71 चौमुखी प्रतिमा है जिस पर चार दिशाओं में खड़े हुये चार दिन दिखाये गये हैं। तीन में मस्तक के पीछे तेज राशि और एक में कण है। सबके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह है। चारों चौकियों पर उपासना करते हुये श्रवाक श्राविका है और एक लेख पंक्ति है जो कुषाण संवत के पांचवे वर्ष अर्थात् 83 ई0 की है।[8] मथुरा की प्राचीन जिन मूर्तियों के निर्माण में कितने ही विविध लक्षणों को प्राचीन धर्म और शिल्प परम्परा से स्वीकार किया उनसे सूचित होता है कि तीर्थकर प्रतिमा की कला के लोक व्यापारी आंदोलन का अंग थी, ब्राह्मण देव एवं बुद्ध मूर्तियों के निर्माण का आन्दोलन जिस स्रोत पर और जिस आधार भूमि पर अपने लिये उपकरण संग्रह कर रहा था उससे जैन शिल्प में भी पूरा लाभ उठाया गया। निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि जैन धर्म भारत में अनेक प्राचीन धर्मों में से एक है। इतना निश्चित है कि वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक हम जैन धर्म के विकास की जो एक सतत परम्परा देखते हैं वह इसी कट्टरता के कारण सम्भव हो सकी है। दूसरे, जैन धर्म में भारतीय दर्शन का स्यादवाद और
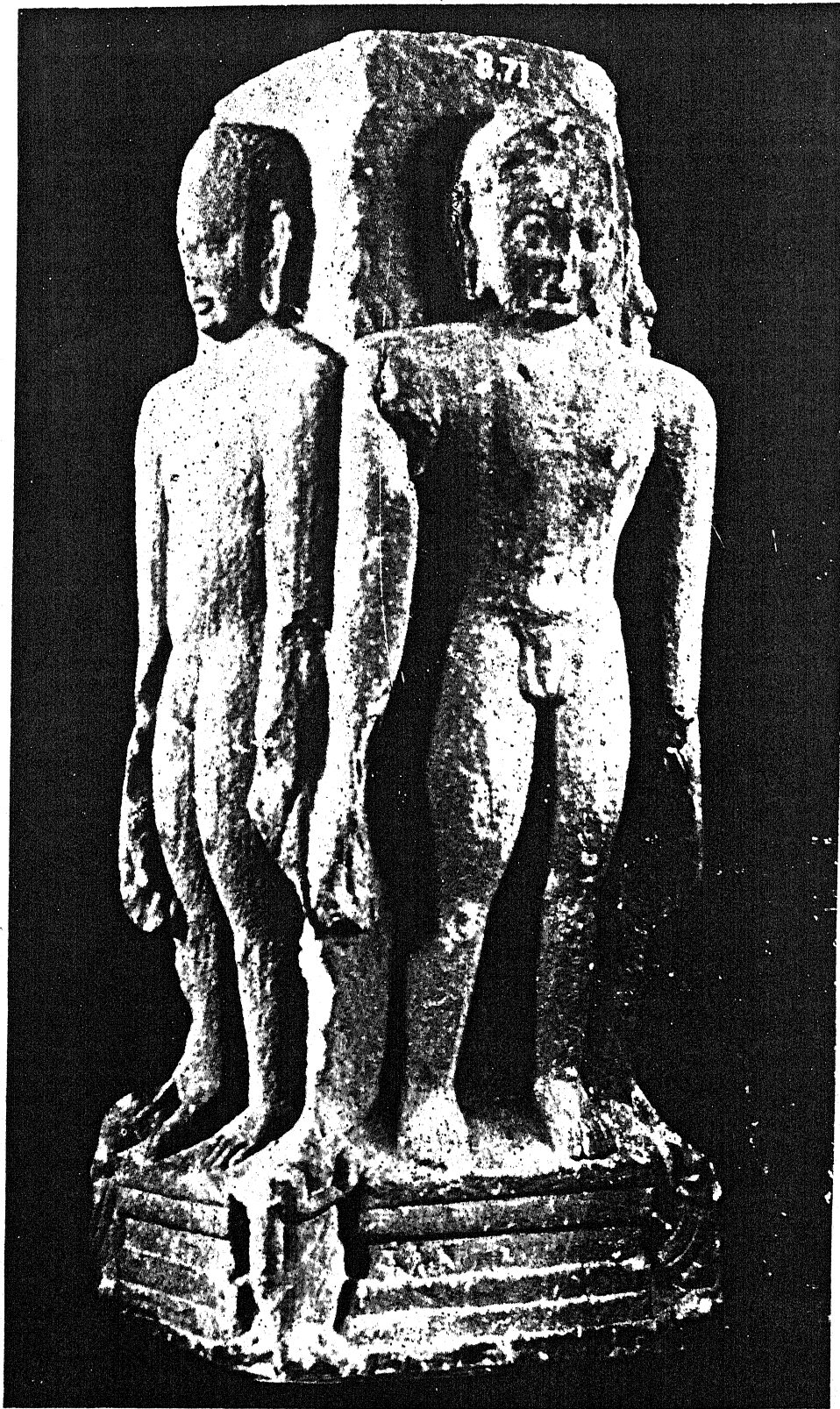
8 चित्र सं.- 14

चित्र सं - 14

अनेकात्मवाद के सिद्धान्तों के रूप में एक अनमोल धरोहर प्रदान की है। जैन धर्म ध्रुव तारे की तरह उदित हुआ जो आज भी आकाश को पूर्ववत् अपने प्रकाश से आलेकित कर रहा है, जिसकी काई एक किरण भी आज तक धूमिल नहीं हो पाई है।[1]

बौद्ध धर्म का उदय :–

–बौद्ध धर्म छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उदित एक ऐसा धर्म था जिसनें ब्राह्मण धर्म को सर्वाधिक आघात पहुंचाया। जैन धर्म की भांति यह भी एक ऐसा धर्म था जो ब्राह्मण धर्म के यज्ञों कर्मकाण्डों के जटिल स्वरूप के प्रतीक प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ था। यही कारण है कि इस धर्म में सरलता को विशेष ध्यान दिया गया। इसके संस्थापक गौतम बुद्ध थे। गौतम बुद्ध ने संसार को दु:खमय मानकर इससे मुक्ति का मार्ग सुझाया। एक ओर दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करके उन्होंने संसार के क्षण भंगुर स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया और दूसरी ओर सदाचरण आदि कुछ नैतिक व व्यवहारिक नियमों का प्रतिपादन कर संसार को मुक्ति का मार्ग सुझाया।

कला के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का योगदान :–

मानवीय भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति कला के माध्यम से ही हो सकती है। यही कारण है कि भारतीय कला बौद्ध धर्म से प्रभावित हुये बिना न रह सकी। इसका कारण यह भी था कि सर्वप्रथम धार्मिक मूर्तियों के निर्माण की परम्परा बौद्ध धर्म में भी प्रारम्भ की गई। इस प्रकार कला धार्मिक रूप धारण कर विकसित होने लगी। प्रारम्भ में जब बुद्ध की मूर्तियां नहीं बनाई जाती थीं उस समय स्थापत्य कला के अन्तर्गत अलंकरण के लिये गौतम बुद्ध के जीवन के प्रसंगों को अंकित किया गया जो कला की दृष्टि से उल्लेखीनय है। सांची और भरहुत के स्तूपों के अलंकरण इस प्रकार के

---

[1] बनारसी दास– लेक्चर्स ऑन जैनिक्स, पृ0 103

प्रसंगों से भरे पड़े हैं। कुछ समय बाद जब बुद्ध की मूर्तियां बनाने की परम्परा आरम्भ हो गयी तो व्यापक स्तर पर मूर्तियां बनाई गयी। न केवल भारत में बल्कि उन पड़ोसी देशों में भी गौतम बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियां बनी जो बौद्ध धर्म से अत्यधिक प्रभावित थे। चीन, जापान, श्रीलंका, वर्मा, थाइलैण्ड, हिन्दचीन, तिब्बत और नेपाल आदि से प्राप्त महात्मा बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियां न केवल उनके कलात्मक विकास की द्योतक हैं बल्कि इस बात को भी स्पष्ट करती हैं कि बौद्ध धर्म ने भारतीय जनमानस को ही नहीं बल्कि देश विदेशी जन मानस को भी गहनता तक प्रभावित किया। सारनाथ से प्राप्त गौतम बुद्ध की गुप्तकालीन प्रतिमाएं भारतीय कलाकारों के धर्म प्रेम की सूचक हैं इसके अतिरिक्त मथुरा, अमरावती आदि अनेक स्थानों से ऐसी मूर्तियां मिली हैं जो अपनी कलात्मकता के लिये प्रसिद्ध हैं। स्थापत्य कला के क्षेत्र में उस समय जितनी इमारतें बनायी गयीं, उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म से प्रवाहित थीं। इनमें गुफाएं, स्तूप, शिला स्तम्भ, चैत्य, विहार और मठ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गुफाओं में कार्ले की गुफांए और स्तूपों में सांची, भरहुत, अमरावती, धामेख और बौद्धगया स्तूप उल्लेखनीय हैं। स्तम्भों में अशोक का सारनाथ स्तम्भ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके अलावा एलोरा, बाघ और औरंगाबाद की गुफाएं भी बौद्ध धर्म की मूर्तियों से भरी पडी हैं। चित्रकला पर भी बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अजन्ता की गुफाओं में जितने भी चित्र प्राप्त होते हैं उनमें से अधिकांश बुद्ध के जीवन, उनके धर्म, धर्म प्रचार, तत्कालीन समाज और राजनीति के अच्छे विवरण प्रस्तुत करते हैं। बोधिसत्व पद्मपाणि का चित्र अजन्ता की गुफाओं से प्राप्त सभी चित्रों में अनुपम माना गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में भारतीय कला के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया।

भारतीय कला का इतिहास अशोक से आरम्भ होता है और प्रारम्भिक भारतीय कला लगभग सभी बौद्ध कला है। सम्राट अशोक ने बड़े–बड़े आलेखन तैयार करने तथा अपनी इच्छानुसार उन्हें बनवाने की विशेष एवं अपूर्व मौलिकता थी। मौर्य स्तम्भ और गुफायें, बौद्धमत के सम्मान में बनवाई गयी है जो अशोक के काल में राज्यधर्म बन गया था। अशोक के बनवाये भवन नष्ट हो गये हैं,

लेकिन उसके शासनकाल की कला का ज्ञान उसके शिलालेखों, एक ही ठोस पत्थर के बने हुये स्तम्भों पर खोदी गयी नक्काशियों, गुफाओं तथा मौर्यकाल के मिट्टी के वर्तनों के टुकड़ों से प्राप्त होता। अशोक के शिलालेखों को ललित कला के सुन्दर नमूने माना गया है क्योंकि उनका काम बहुत सुन्दर है। इन्हें सचेत एवं अचूक संगतराशि के नमूने माना हे।[1] रूम्मनदेई स्तम्भ का शिलालेख वैसा ही सुन्दर है जैसा कि प्रारम्भ में था। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के काल में चतुराज और संगत-राश की कारीगरी का पूरा विकास हो चुका था। यह बात अशोक व उसके पुत्र दशरथ के द्वारा बिहार की पहाड़ियों में निवास के लिये बनवाई गयी गुफाओं के भीतरी भागों तथा स्तम्भ के धरातल की सुन्दर पालिश से सिद्ध होती. है।[2]

अशोक :-

अशोक ने बहुत से स्तम्भ देश के अलग--अलग भागों में स्थापित कराये और उनमें 30 बहुत अच्छी हालत में पाये गये हैं। उन स्तम्भों में से अनेक पर लेख खुदे हुये हैं।[3] लोरियानन्दनगढ़ का स्तम्भ 32 फुट 9.5 इंच ऊँचा है, उसका व्यास नींव के पास 35.5 इंच और चोटी 22.5 इंच है। यह स्तम्भ अशो के स्तम्भों में से सबसे बढ़िया माना जाता है। मुजफ्फरपुर जिले के बखीरा का स्तम्भ बहुत बड़ा है और अच्छी दशा में सुरक्षित है। इन बड़े- बड़े स्तम्भों की बनावट, वाहन और निर्माण के लिये कौशल की आवश्यकता थी, जिसके लिये अशोक कालीन संगतराशों और इंजीनियरों की प्रशंसा की जानी चाहिये। हर स्तम्भ का मस्तक एक ही पत्थर को काटकर बनाया गया है। जिनमें तीन प्रमुख सदस्य, एक घण्टा, खम्भे के नीचे ऊपर लगाने का चौरस चौकोर पत्थर

---

[1] बी0ए0 स्मिथ- ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन पृ0 111

[2] के0डी0पी0- कार्डिग्टल- एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ0 92

[3] श्रीराम गोयल- प्रियदर्शी अशोक, पृ0 163

तथा गोल घेरे में रार्जाचिन्ह खुदे हुये हैं। प्राप्त हुये शीर्षों में भिन्नता है। कही खम्भे के नीचे और ऊपर लगाने का चौरस पत्थर गोल और कहीं आयताकार। लोरियानन्दन गढ़ के स्तम्भ के नीचे ऊपर लगाने के पत्थर का सिरा उड़ते हुये पवित्र हंसों की पंक्ति से सजाया गया है। इलाहाबाद सेन-किस और रामपुरवा के स्तभों के नीच और ऊपर लगाने के पत्थरों पर कमल और छोटे ताड़ या एक प्रकार के सुंगन्धित फूल के पौधे के डिजाइन बने हैं। हर डिजाइन को अत्याधिक शुद्धता और सचाई से छेनी से काटकर बनाया गया है। गोल घेरे में सबसे ऊपर हाथी, घोड़ें, साँड़ और शेर की मूर्तियों की संगतराशि की गयी है यह कहा जाता है कि रुम्मनदेई स्तम्भ के ऊपरी भाग में घोड़े की मूर्ति थी। सारनाथ शीर्ष के ऊपर नीचे लगे चौरस और चौकोर पत्थर की हर दिशा में थोड़ी-थोड़ी खुदाई करके चारों जानवरों की मूर्तियां बनवाई गयी हैं सारनाथ शीर्ष अशोककालीन वास्तुकला का सबसे बढ़िया नमूना है। सारनाथ स्तम्भ उस स्थान पर स्थापित किया गया था जहां महात्मा बुद्ध ने सबसे पहले अपने धर्म का उपदेश दिया था। चार शेर एक दूसरे से पीठ मिलाकर 2 फुट 9 इंच व्यास के चक्र को सहारा देते हुये नीचे के चौरस एवं चौकोर पत्थर पर खड़े हुये थे लेकिन आज उसके कुछ टुकड़े ही बाकीं है। सांची शीर्ष सारनाथ शीर्ष से घटिया है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि बखीरा स्तम्भ अशोक ने 257 ई0 पूर्व के बाद स्थापित किया था।[1]

स्तूप :-

भारत में बौद्ध मत 273 ई0 पूर्व से लेकर 100 ई0 तक प्रभावी रहा और परिणाम स्वरूप इस काल की सभी बची हुयी इमारतें बौद्धमत से संबंधित हैं। इस काल के अनेक स्तूप, विहार, मठ, मन्दिर और चैत्यहाल प्राप्य है। इन मठों और मन्दिरों में चट्टान काटकर बनाये गये तथा बनाये

---

[1] एम0 फाउचर- बिगिनिंग्स ऑफ बुद्धस्ट आर्ट, पृ0 99

हुये दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं अनेक स्थानों पर स्तम्भ भी स्थापित किये गये थे।[1] अधिकांश स्तूप समतल थे और आमतौर से उनके चारों ओर पत्थर का कटघरा लगाया गया था। बेसनगर, के कटघरे में आयताकार पत्थर की टुकड़ियाँ लगी हैं। भरहुत तथा सांची के कठघरे के हर अंग अर्थात् खम्भों, पटरियों और चोटी के पत्थर की तस्वीरों से ढके एक पर्दे में बदल दिया गया था। झरोखों को बढ़िया तोरणों की रचना से सजाया गया था। तोरणद्वार के सबसे अच्छे नमूने सांची में हैं।[2]

स्तूपों की ऊँचाई अलग-अलग हैं नेपाल की सीमा पर स्थित पिप्रवा के स्तूप का व्यास आधार के पास 116 फुट और ऊँ0 22 फुट है। सांची के स्तूप का व्यास आधार के पास 121.5 फुट और ऊँचाई 77.5 फुट है। सांची की पत्थर की रेलिंग 11 फुट ऊँची ठोस बनी है।[3]

भरहुत की छिछली खुदाई के दो प्रकार के भवन पाये जाते हैं। नक्शे में पहले गुम्बजदार और गोल है और दूसरे बड़ी छत वाले है और कहीं-कहीं तीन मंजिल ऊचे हैं । भारहुत में साफा स्मारक की समाधि का नक्शा गोलाकार है जो नीची कटघरे से घिरी है अथवा सभी ओर से खुली है। छत गुम्बजदार है और उसकी छत पर फूल पत्तियां बनी हुयी हैं। अशोक ने भरहुत, सांची, मथुरा और अमरावती में बोधि वृक्ष के चारों ओर समाधियां बनवाई गयीं हैं, छत खम्भों पर टिकी हैं और वृक्ष चारों ओर से पूर्णतः घिरा हुआ है सांची में समाधि का बायें स्तम्भ के सामने तथा पूर्वी तोरण द्वार से निकले शहतीर पर बाहर की ओर पुनर्निमाण किया गया है यह समाधि अमरावती और मथुरा में भी प्राप्य है।[4]

---

[1] फर्गुसन- हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर पृ0 128-129

[2] हैलेटन- इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिग्स, पृ0 55-56

[3] वासुदेव शरण- भारतीय कला, पृ0 123

[4] पर्सी ब्राउन- इण्डियन आर्कीटेक्चर, पृ0 107

अनेक बौद्ध बिहार भी मिलते हैं। इन सभी बिहारों में बौद्धों की बैठक या सभा के लिये बड़ा हाल था। उनमें तोरण द्वार, भण्डारघर, रसोईघर तथा भिक्षुओं तथा भिक्षुओं के तहखाने भी थे। भज, कोणदेन, पीतलखेड़ा बेदसा, अजन्ता, नासिक करली और कुन्हेरी में भी चट्टान काटकर बनाये गये हाल और रहने की गुफायें हैं। इन्हें चट्टान काटकर बनाया गया है। उसमें हर ओर अर्द्ध वृत्ताकार द्वार है। और उसमें प्रकाश का प्रबन्ध एक सिरे पर खिड़की द्वारा किया गया है। भज में आठ कोरण वाले स्तम्भ अन्दर की ओर छेनी से काट कर बराबर किये गये हैं। कठघरे के नमूनों के पट्टों और चैत्य खिड़कियों की पंक्ति पर सूक्ष्मआकार के चित्रों के अलावा उस पर कोई और सजावट नहीं की गयी है। बारवरा पहाड़ी पर लोमारा ऋषि की गुफा चटट्टान काटकर बनाये गये छोटी गुफाओं के समूहों में से एक है। इसकी अन्दर की दीवारों पर मौर्यकाल की तरह की बढ़िया पालिश की गयी है। बम्बई प्रेसीडेन्सी के शोलापुर जिले में टेर में एक चैत्य हाल है। इसमें ईटों का बना एक लम्बा हाल है जो अन्दर से 26 फुट लम्बा और 12 फुट चौड़ा है इसकी दीवारें 3.5 फुट मोटी है और सिरा अर्द्ध वृत्ताकार है। खड़े हुये पुरूष की टूटी हुयी मूर्ति यक्ष गंधर्व कुबरे की मालूम होती है। वह मथुरा जिले में परखम स्थान पर पायी गयी है और आज कल मथुरा के अजायबघर में है। वह लगभग उसी भूरे बलुवे चिकने पत्थर की बनी है, जो अशोक स्तम्भों के बनाने में प्रयोग किया गया है। नीचे की चौकी को मिलाकर मूर्ति की ऊँचाई 8 फुट 8 इंच है। कन्धों की चौड़ाई 2 फुट 8 इंच है। मूर्ति को कमर तक एक धोती पहनाई गयी है। और सामने गॉठ लगाई गयी है। एक अन्य चौड़ी तगड़ी सीने के चारों ओर लपेटी गयी है। पुरूष ने हार और कण्ठा पहना हुआ है जिसमें से चार फुन्दने कमर पर लटके हुये हैं। महिला की एक 6 फुट 7 इंच ऊँची नक्काशी की हुयी मूर्ति ग्वालियर रियासत में भिलसा के पास बेसनगर में पाई गयी है। मूर्ति ने भारी साफा इस प्रकार बाधा है जैसा सांची और भारहुत में पाया गय है। प्रतिमा स्वाभाविक है। बेसनगर में महिला की एक बड़ी प्रतिमा है जो 7 फुट उँची है। इसे

स्थानीय लोग तेलिन के नाम से जानते हैं।[1]

भारहुत :-

1873 ई0 में कनिघंम को इलहाबाद और जबलपुर के बीच में स्थित भारहुत में बौद्ध स्तूप के खण्डहर मिले जिसके चारों ओर पत्थर का कठघरा लगा हुआ था जिस पर बढ़िया और मनोरंजक संगतराशरी की गयी है। कनिंघम और उसके सहायक ने खण्डहरों को खोदा और बहुत से नक्काशी किये हुये पत्थरों को कलकता भेजकर सुरक्षित किया। भारहुत का कठघरा बहुत भारी है। प्रत्येक स्तम्भ 7 फुट 1 इंच ऊँचा है। और मुंडेर के पत्थर भी उसी ऊँचाई के हैं। मुर्डेर के पत्थरों पर जातकों की या बुद्ध के जन्म की कहानियों से सम्बद्ध घटनाओं के दृश्यों की नक्काशी की गयी है। पटरियों, खम्भों, तोरणो की नक्काशी बुद्ध की कहानियों से संबंधित है। उनके विषय तथा प्रतिपादन शैली भिन्न है।[1] चार टुकड़ों से मिलाकर बनाया गया तोरण द्वारा विशेष रूप से देखने योग्य है। एक शिलालेख में बताया गया है कि पूर्वी तोरण द्वारा शुंग वंश के शासनकाल में बनवाया गया था। इसके निर्माण कार्य को पूरा करने में कई वर्ष लगे होंगे। भारहुत वस्तुकला में जातकों, बुद्ध के जीवन से संबंधित दृश्यों, बुद्ध के दर्शन के लिये आते अजातशत्रु और प्रसेनजित के जुलूसों को दिखाया गया है। अजातशत्रु हाथी पर और प्रेसनजित रथ पर सवार है। एक अन्य में श्रावस्ती के जेतवन विहार को अंकित किया गया है। उसमें आम के पेड़ और मन्दिर के अतिरिक्त घनी साहूकार अनाथपिण्डक को बाग के फर्श को बनाने के लिए सोने की मुहरों से भरी गाड़ियों को खाली करते हुये दिखाया गया है। यक्षों, यक्षणियों, देवताओं और नागराजों की प्रतिमायें भी है। राजसीठाठ को बताने के लिये पशुओं, वृक्षों, नावों, घोड़ों, रथो, बैलों, झुण्डों और अन्य वस्तुओं को भी दिखाया गया है। "अरगनी की छड़ों को पूरी सजावटी चौखट का आधा और खम्भों की सजावटी चौखट का आधा निर्माण को एकाकी सौन्दर्य रूप

---

1 जे0 कमिंग-- रिवीलिंग इण्डियाज पास्ट (1939) पृ0- 174

2 कनिघंम- द स्तूप ऑफ भारहुत, 1879, पृ0- 32

कोमलता के साथ पुष्पित अंलकारों से भरा गया है, ''अरगनी की छड़ों की सजावटी चौखटों और खम्भों की आधी सजावटी चौखटों के पीछे की ओर छिछली खुदाई से अनेक प्रकार के विषयों से सजाया गया है। हंसी कराने वाले बंदर के दृश्य रसिकता की भावना, कल्पना की स्वतंत्रता और चित्रकला के कौशल को प्रकट करते हैं। एक चित्र में एक मनुष्य के जबड़े में से जम्बर लगाकर एक दांत को हाथी अपनी पूरी शक्ति लगाकर खींचे हुये दिखाया गया है। ये चित्र बताते हैं कि भारत के लोग उस समय खुश थे जब देश में बौद्धमत फैला हुआ था।[1]

बेसनगर का कठघरा :–

बेसनगर में भारहुत की तरह की नक्काशी की हुयी रेलिंग मिलती है। मुंडेर का पत्थर चित्रवल्लरी से सजा हुआ है। जिस पर एक धार्मिक जुलूस का दृश्य अंकित है। उसमें हाथी और घोड़े आदि कमलनाल के शानदार लहरिये के द्वारा अलग–अलग विभागों में बंटे हुये दिखाया गया है। खम्भों पर दरवाजों आदि के विभिन्न दृश्य और बिरछी छड़ों पर शानदार कमल खोदे गये हैं।[2]

बौद्ध गया :

बौद्ध गया में भी संगतराशी की गयी रेलिंग है वहां पर 30 टुकड़े मिले हैं उनमें से कुछ कड़े पत्थर के हैं और कुछ बुलवे पत्थर के हैं। किन्तु वे सब किसी भी पत्थर के होने पर भी एक ही शैली के हैं। अधिकांश विषयों को छिछली खुदाई करके दर्शाया गया है।[3] मुंडेरों के दृश्य पूर्णतः काल्पनिक हैं। दरवाजों और चौखटों पर विलक्षण, पौराणिक, प्राणियों– जिनकी कमर से नीचे का भाग घोड़ों तथा ऊपरी भाग मनुष्यों के समान होता था– पंखों वाले हिंसक पशुओं, घरेलू जानवरों पवित्र

---

[1] एम0 फाउचर– विगनिंग्स ऑफ बुद्धिस्ट आर्ट। पृ0 108

[2] ए0के0 कुमार स्वामी– इण्डियन ड्राइंग्स, लन्दन, 1910–12, पृ0 63

[3] ए0के0 कुमारस्वामी– हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ0 87

वृक्षों और मनुष्य के जीवन के विभिन्न दृश्यों को अंकित किया गया है। मुंडेर की वल्लरी अमरावती से मिलती है। मुंडेर की चित्र वल्लरी से मछली की दुम वाले राक्षस स्थित है नियम पालन की शिक्षा देते हुये प्रतिमा से युक्त प्रारम्भिक बौद्ध मन्दिर की भी तस्वीर है। दो स्वाभाविक चित्रों में एक शानदार भैंस और पति-पत्नी को साथ-साथ बैठे हुये दिखाया गया है। कमल को बहुत बढ़िया रीति से अंकित किया गया है। यह समस्त भारतीय कला प्रेरकों में सबसे अधिक मुख्य एवं सर्वव्यापक है। पवित्र वृक्ष का भी चित्र है जो वर्गाकार सादी रेलिंग से घिरा हुआ है। विभिन्न भद्दे वर्ण संकर जानवर, पंख्वाले शेर और बैल। एक पौराणिक प्राणी जिसकी कमर के नीचे का भाग घोड़े तथा ऊपरी भाग मनुष्य का होता था। किन्नर के चित्र और मछली की दुम वाले राक्षस की चित्र वल्लरी मथुरा और गान्धार में सामान्य यप से चित्रित किये गये हैं। इनका शरीर आधा नाग जैसा तथा आधार मगर जैसा दिखाई देता है।[1]

सांची :-

सांची मे अनेक वस्तुयें पायीं गयी हें। सांची पहले भोपाल रियासत में थी। और आजकल मध्यप्रदेश में है वस्तुयें नष्ट नहीं हुयी हैं क्योंकि ये इस्लाम की सेनाओं के पथ में नहीं थी इसे नये पुरातत्वशास्त्रियों ने कुछ हानि पहुंचाई लेकिन उसे पुनः स्थापित कर दिया गया और यह कहना उचित है कि सांची पुरातत्व पुनः स्थापन की विषय का नमूना है। भारतीय कला के इतिहास में सांची का महत्व मुख्यतः स्तूप और उसके चारों ओर की रेलिंग के बीच में बने हुये चार आश्चर्यजनक तोरण द्वारों पर आधारित है।[2] इन तोरण द्वारों को एक सदी ई0पू0 बनाया गया था। दक्षिण तोरण द्वार 1810 से पहले गिर गया था। पश्चिमी द्वारा 1860 और 1880 के बीच गिर गया और उत्तरीऔर पूर्वी तोरण द्वारा अभी तक नहीं गिरे हैं। सर जॉन मार्शल, पुरातत्व विभाग, भारत के महानिदेशक की प्रशंसा की

---

[1] पर्सी ब्राउन- इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू) बम्बई, 1949, पृ0 193

[2] वी0ए0 स्मिथ- हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन अण्डिया खण्ड सीलोन, आक्सफोर्ड, 1830, पृ0 109

जानी चाहिये क्योंकि उन्होंने चारो तोरणों द्वारों की मरम्मत कराई थी। तोरण 34 फुट ऊँचें है और चारों पर्याप्त में एक जैसे हैं यद्यपि सूक्ष्म रूप से देखने पर उनमें काफी अन्तर दिखाई देता है। सभी आलोचक इस बात पर सहमत हैं कि तोरण जोड़ों में बनाये गये थे और चारों में दक्षिणी द्वार सबसे पहला है द्वार स्तम्भों के शीर्ष कमर से कमर मिलाकर चार बैठे हुये शेरों से मिलाकर बने हैं। इन पर अशोक स्तम्भ के नमूनों के अनुसार संगत-राशि की गयी हैं द्वार स्तम्भों पर बने शेरों और स्तम्भों पर बने शेरों को देखने से पता चलता है कि कला में विशेष गिरावट आई है। उत्तरी और पूर्वी तोरणों के द्वार स्तम्भों के शीर्षों में सवारियें को ले जाते हुये चार हाथी कमर से कमर मिलाकर खड़े हुये हैं पश्चिमी तोरण के शीर्ष पर चार डरावने बौने भद्दे रूप से खोद कर बनाये गये हैं।[1]

सांची की समस्त वास्तुकला, अजन्ता के चित्रों की तरह बौद्ध विषयों से संबंधित हैं। पंखों वाले पौराणिक प्राणि आकाश में मड़राते हुये, नागों के मुंह वाले या मछलियों की दुम वाले राक्षस कन्दराओं से निकलते हुये या बुद्ध को अपनी शान्त एवं गम्भीर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये दिखाया गया है। बन्दर भी बुद्ध के सामने भक्ति के नीचे झुके हैं।[2]

सामान्य रूप से सांची की उभरी हुयी नक्कारी की शैली के भारहुत से मिलती हैं। सांची कला की विशेषता सुन्दर कोष्ठक के चित्र हैं ये नारी और वृक्ष के प्रेरक चित्र हैं। स्तम्भ की सुन्दर बनावट की बारीकियांसावधानी से अध्ययन किये जाने योग्य है।[3]

किसी अन्य राष्ट्र ने भारतीयों को उनकी नक्काशी और चित्रों में फूलों से सम्बन्धित

---

[1] सर जॉन मार्शल- ए गाइड टू सांची, पृ0 54

[2] एफ0सी0 मैसी- सांची एण्ड इट्स रिमेन्स, लन्दन, पृ0 66, 1892

[3] ई0 बी0 हैवेल- द आइडियल्स ऑफ इण्डियन आर्ट, लन्दन, 1911, पृ0 173

डिजाइनों की भिन्नता एवं कोमलता में नही पछाड़ा है।[1]

पूर्वी द्वार के बाये स्तम्भ की तली में यक्ष रक्षक अपने राजसी वस्त्रों में द्वार पर खड़ा है। उसके साथी उसके सामने वाले स्तम्भ पर खड़े हैं इन यक्षों की तुलना भारहुत के यक्षों से की जा सकती है। अन्तर यह है कि सांची में तस्वीर का चित्रण और अलंकरण भारहुत की अपेक्षा अधिक ताल सुरबद्ध है। हमें काले नाग पर बुद्ध की विजय और उरूविल्लव में कश्यप के धर्म परिवर्तन के दृश्य भी देखने को मिलते हैं। दूश्य में नाग और संघर्ष की लपटें तथा आश्चर्यचकित ब्राह्मण दिखायें है। इस दृश्य के नीचे कश्यय के धर्म परिवर्तन की कहानी अंकित है और बुद्ध तथा ब्राह्मण के यज्ञ की घटना दिखाई गयी है। लकड़ी काटी जा रही है और तैयारियों की जा रही है। बुद्ध की आज्ञा पर अग्नि उत्पन्न होती है और बुझ जाती है। उसी स्तम्भ के सामने बुद्ध के पानी पर चलने की अन्तिम घटना अंकित है। राजा विम्बसार अपने दो घोड़ों के रथों में राजगृह के द्वार पर आता हुआ दिखाया गया है। बोधि–वृक्ष भी दिखाया गया है। सांची में व्याख्या की विधि तथा विभूषित करने योग्य प्रवृत्ति या प्रेरणा का विस्तार भाहुत की तरह ही है, नक्काशी निश्चित रूप से संजीव है और तकनीक में काफी सुधार हुआ है।[2]

मथुरा :

-मथुरा बहुत पुराना नगर है। यह कुषाण वास्तुकला का प्रमुख अन्वेषब केन्द्र है। इसका भारहुत और सांची से सीधा सम्बन्ध है। मथुरा से प्राप्त अधिकांश नक्काशी बौद्ध सतूपों को सजाने के काम आती थी।[3] अधिकांश बौद्ध स्तूप पुरानी ल था जमालपुर टीले मे से हविशा विहार के

---

[1] स्मिथ – हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ0 123

[2] सर जॉन मार्शल– ए गाइड टू सांची, पृ0 57

[3] ई0बी0 हैवेल– एशियेन्ट एण्ड मिड़ीवल आर्कीटेक्चर ऑफ इण्डिया लन्दन, 1915, पृ0 136

स्थान में पाये गए हैं। खम्भों पर ऊँची नक्काशी की हुई आम तौर से नारियों की ऊँची उभरी हुई मूर्तियां हैं। सामने की ओर एक दूसरे के ऊपर चौखट लगे अन्य दृश्य पीछे की ओर फूलों की सजावट की नक्काशी है। मथुरा के अजायबघर के एक खम्भे में एक नारी का पिछला आधा भाग दिखाया गया है। नर की प्रतिमा, जो शायद किसी सैनिक की हैं, अपबाद है, लेकिन वह प्रभावी रूप से बनाई गई है। भारतीय अजायब घर में अच्छी प्रकार से तैयार की गई नक्काशी में एक युवक साधारण शेर पर चढ़ा हुआ दिखाया गया है।

मथुरा के अजायब घर में बोधिसत्व एक प्राचीन योगी के रूप में बैठे हैं। उनका दांया कंघा नंगा है और दायां हाथ अभय मुद्रा उठाया हुआ है। उस पर यह वाक्य खुदा हुआ है– "प्राणी मात्र के कल्याण एवं खुशी के लिए"। इस बोधिसत्व का पहनावा पूर्णतः औपचारिक है।[1] (चित्र सं.-15)

सारनाथ में मथुरा शैली की खड़े हुये बुद्ध की मूर्ति पाई गई है। उस पर मिले एक शिला लेख में उसकी निर्माण तिथि कुषाणा का तीसरा वर्ष बताई गई है। इसकी तुलना कलकत्ता अजायबघर के बोधिसत्व से की जा सकती है। सारनाथ वास्तु कला में उष्ठीश को चूल के द्वारा सिर में बैठाया गया है। इन बुद्धों और बोधिसत्वों के कपड़े और जेवर पूरी तरह से भारतीय हैं।[2] मथुरा में पाई जाने वाली बुद्ध की तस्वीर के कपड़े और जेवर गान्धार वास्तु कला के समान है।

<u>अमरावती</u> :

अमरावती से अनेक वस्तुयें पाई गई हैं। इस कस्बे का पुराना नाम धरतीकोट था। अमरावती स्तूप और उसके चारों ओर की रेलिंग या संगमरमर के पर्दे के बारे में हमें ब्रिटिश म्युजियम

---

[1] हरमेनन गोट्ज– फाइव थाउसेन्ट इयर्स ऑफ इण्डियन आर्ट, 1960, पृ0 103

[2] जे0 वोगेल– बुद्धिस्ट स्कल्पचर्स फ्रॉम बनारस, पृ0 19

चित्र सं. - 15

या सेन्ट्रल म्यूजियम, मद्रास और फरगूसन तथा 570 बुर्गेस द्वारा प्रकाशित कर्नल मैकेन्जी के चित्र से पता चलता है। मूलरूप में स्तूप 200 ई0 पूर्व में बनवाया गया था. यद्यपि उस पर अनेक नक्काशियां बहुत बाद की है और कुषाण काल से सम्बद्ध है। ऐसा मालूम होता है कि रेलिंग और केसिंग की नक्काशी 100 वर्षों में (150 ई0 और 250 ई0 में) की गई थी। पहले यह विश्वास था कि यहां दो रेलिंग थी लेकिल आजकल यह माना जाता है कि वहां केवलएक रेलिंग थी। लेकिन उस पर दो प्रकार की नक्काशी हैं, जो दो विभिन्न कालों से सम्बद्ध है।[1] पहले प्रकार की नक्काशी में बुद्ध की प्रतिमा दिखाई नहीं देती लेकिन दूसरे प्रकार की नक्काशी में बुद्ध की प्रतिमा के दर्शन होते हैं। दूसरे प्रकार की नक्काशी बढ़िया है और अधिकांश नक्काशी दूसरे प्रकार की है। रेलिंग का व्यास 192 फुट है और उसकी परिधि 600 फुट है। यह फर्श से 13 से 14 फुट तक ऊँची थी। यह रेलिंग खम्भों या सीधी खड़ी पत्थर की पट्टियों से बनाई गई थी। हर दो खम्भों या सीधी खड़ी हुई पट्टियों को तीन तिरछी छड़ों से जोड़ा गया था। खम्भों के नीचे चौखूँटा चबूतरा बनाया गया था, जो 2 फुट 9 इंच ऊँची मुंडेर को सहारा देते थे। हर खम्भे के बाहरी धरातल पर केन्द्र में एक पूरी गोल टिकली, ऊपर और नीचे आधी-आधी गोल टिकली बनी थी और बीच के स्थान पर छोटी नक्काशी की गई थी। इसी प्रकार की गोल टिकलियाँ तिरछी छड़ों पर सुशोभित थी।[2] मुंडेर पुरूषों द्वारा ले जाई जाती हुई लम्बी लहराती हुई फूलों की गोल माला से सजाई गई थी। नीचे के फर्श पर हँसी लाने वाली मुद्राओं में लड़कों और पशुओं की चित्र वल्लरी बनाई गई थी। अन्दर और बहुत बड़े पैमाने पर सजावट की गई थी। स्तूप का हर भाग पिछली नक्काशी से शोभित था।

स्तूप के निचले भाग की क्रासिंग की पत्थर की पटियों पर बहुत अच्छी संग तराशी की गई थी।

---

[1] ए0 रिया - साउथ इण्डियन एन्टीक्वटीज, मद्रास 1894, पृ0 45

[2] डी0 बराह - स्कल्पचर फ्रॉम अमरावती, 1954, पृ0 38

अमरावती में कुछ मूर्तियाँ भी मिली है। इनमें से दो बड़ी संगमरमर की 6 फुट 4 इंच की बड़ी मूर्ति है। अपार दर्शक कपड़ों की औपचारिक शैली में नक्काशी की गई है। ये मूर्तियाँ अजन्ता की 10वीं गुफा के खम्भों पर चित्रित बुद्धों के समान है।

अमरावती की वास्तुकला भारत में वास्तुकला का चरमोत्कर्ष था।[1] अमरावती के संगमरमर की मूर्तियाँ अत्यधिक सुन्दर परम्परागत जेवरों से युक्त प्राणी जीवन के आनन्ददायक अध्ययन की सामग्री उपस्थित करती है।[2]

गान्धार कला :-

गान्धार कला भी बुद्ध कला का एक अंग है, इसके सर्वश्रेष्ठ नमूने स्वात से प्राप्त हुए है। सारी मूर्तियाँ बुद्ध स्थल से मिली है और बौद्ध धर्म की है। गान्धार कला की सम्पूर्ण सामग्री विशुद्ध भारतीय बौद्ध सामग्री है। गान्धार कला में बुद्ध हर स्थान पर है। उसने चाहे जो भी रूप धारण किया हो चाहे वह सुन्दर राजकुमार, त्यागी तपस्वी, आदर्श बौद्ध भिक्षु हो या उसे किसी भी नाम से पुकारा जाये, सिद्धार्थ, श्रवण, गौतम, बुद्ध, शाक्य मुनि हर निर्माण कार्य में बुद्ध प्रभावी है।[3]

मूर्तिकला की निर्माण सामग्री साधारणतः नीली मिट्टी की स्लेट है। पत्थर पर अच्छी तरह प्लास्टर किया गया था। रंग और मुलम्में का खुला प्रयोग था।[4]

बहुत से सिर पाये गये हैं कुछ चूने के हैं और कुछ पकी मिट्टी के। वे दो और तीन इंच से लेकर आदम कद तक के हैं। तक्षशिला में पाई जाने वाली सभी वस्तुयें चूने से बनी है। इन

---

[1] फर्गुसन और बर्गस – द केव टैम्पल्स ऑफ इण्डिया, पृ0 103

[2] ई0वी0 हेवेल – इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंग्स (लन्दन 1908) पृ0 77

[3] एम0 फाउचर – बिगिनिंग ऑफ बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 74

[4] जॉन मार्शल – गान्धार आर्ट, पृ0 28

सिरों को बनाने के लिये सांचों का प्रयोग किया गया है। बौद्धों का विचार था कि पवित्र मूर्ति के अनेक प्रतिरूप बनाना पुण्य कार्य था, ये मिट्‌टी से बनाये जाते थे। (चित्र सं- 16)

बुद्ध के बोधिसत्वों या बौद्ध बनने वाले सन्यासियों तथा बौद्ध मत देवताओं की बहुत सी छोटी-छोटी प्रतिमायें मिलती है। गान्धार के विषय महायान सम्प्रदाय की धर्म पुस्तकें परम्पराओं तथा कहानियों से लिये गये हैं।[8] इससे महायान अनुयायियों के विश्वासों तथा आचरणों का पता चलता है। तस्वीरों व मूर्तियों द्वारा बौद्धमत को प्रकट करने के तरीके का भी पता चलता है। इन चित्रों में उत्तर भारत के जनजीवन का पता चलता है। उनमें असीमित वास्तविक विवरण सहित भूचित्रण, कस्बों घर की आन्तरिक अवस्थाओं, मार्गों, खेतों, वृक्षों तथा पशुओं के दर्शन होते हैं। इनमें उस समय के फर्नीचर गाडियों, हथियारों तथा औजारों का भी पता चलता है। अनेक चित्रों से रीति-रिवाजों तथा चाल-ढाल का पता चलता है। जनता के प्रत्येक वर्ग के लोग इन नक्काशियों पर अंकित है। गान्धार शैली में मानव जीवन के किसी भी अंग को अछूता माना गया है।[1]

लम्बे बालों तथा मूँछों के साथ बुद्ध की एक मूर्ति मिली है। बैठी हुई बुद्ध मूर्ति है।[2] घुघराले बालों, मूंछों और पैर तक लटकते हुए राजसी वस्त्रों के साथ बुद्ध की इस प्रतिमा को बुद्ध की सबसे अच्छी प्रतिमाओं में से माना जाता है।[3] इसमें इन्द्र की बुद्ध से भेंट दिखाई गई है। बुद्ध बौधगया के पास गुफा में बैठे थे। यह वास्तु का सबसे परिश्रम से तैयार नमूना है और सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

"स्वात की मूर्ति में गन्धर्व पंचशीला वीणा के साथ और उसके नौकरों की बुद्ध से भेट" को दिखाया है, जब वह इन्द्र शैलगुहा, बौद्ध गया के पास एक गुफा में होते हैं। गुफा का प्रवेश द्वार गुरू की शान को प्रकट करते हुए लपटों से घिरा है। ऊपर और नीचे पक्षी, पशु व वृक्ष स्थान के अंक

---

[1] ग्रुनवेडल- बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 93

[2] बर्लिन संग्रहालय में सुरक्षित

[3] यह स्वात के लोरियन हंगाइ से पाई गई है। 3 फुट 10 इंच× 2 फुट 8 इंच की है।

8 चित्र सं. - 17

चित्र सं- 17

चित्र सं- 16

लेपन को व्यक्त करते हैं। इन्द्र दायीं ओर है उनके पीछे सेवक छाता लिये खड़ा है। इसका मुकुट मथुरा में पाई जाने वाली मूर्ति के समान है। दूसरी ओर से कुछ अंश खण्डित है लेकिन वीणा दिखाई दे रही है।[1]

बुद्ध के अनेक रूप देखने को मिलते है। एक रूप में सिर से लपटें उठ रही हैं और पैरों से जल बहता दिखाई दे रहा है। इसमें जल और अग्नि का चमत्कार दिखाया गया है।[2]

एक अन्य मूर्ति में बुद्ध एक पेड़ के नीचे बैठे है। दूसरी मूर्ति में वे सिंहासन पर बैठे है। एक अन्य प्रतिमा में योगी की मुद्रा में पैर ऊपर किये कमल पर बैठे है। दाये कन्धे पर कोई वस्त्र नहीं है।[3]

लाहौर संग्रहालय में एक खण्डित मूर्ति है। यह 2 फुट 8.5 इंच की है, इसमें बुद्ध की उस मूर्ति को दिखाया गया है जबकि यह अत्यधिक तपस्या द्वारा ज्ञान प्राप्ति के लिये बोध गया में बैठे थे।

पेशावर से प्राप्त मूर्ति जो लाहौर संग्रहालय में है, इसमें राजा एक सिंहासन पर बैठा है। उसने बांया पैर एक तिपाई पर है और अपने बायें हाथ में भाला पकड़े हैं।[4]

बहलाल की खुदाई में एक अन्य मूर्ति मिली है, जिसमें राजा गद्दी पर है और उसकी पत्नि उसके साथ है। वह गान्धार शैली की सबसे कोमलता से बनायी गयी मूर्ति है।

---

1 ग्रुन वेडल – बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 102

2 यह जातक कथा में वर्णित कहानी है, कथा नं0 483

3 यह श्रावस्ती की घटना को प्रकट करती है जब बुद्ध ने अपना विराट रूप प्रकट करके सभी दिशाओं में उपदेश दिये थे।

4 वी0ए0 स्मिथ – ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, ऑक्सफोर्ड 1930, पृ0192

एक मूर्ति में बुद्ध के जन्म को दिखाया गया है। इसे बड़ी चतुराई से बनाया तथा प्रवीणता से खड़ा किया गया है। इनके वस्त्रों में भिन्नता एवं स्वतन्त्रता पायी जाती है। गान्धार शैली की यह पेचीदी पत्थर की मूर्तियों में सबसे अच्छी है।[1]

महान त्याग के बारे में एक मूर्ति है जिसमें दिखाया गया है कि बुद्ध ने किस प्रकार से संसार त्यागा था। एक अन्य मूर्ति में सिर मुड़े बोद्ध भिक्षु बुद्ध धर्म और संघ के त्रिशूल चिन्ह की पूजा करते हुए दिखाया गया है। ब्रिटिश म्यूजियम में लगभग 10 फुट 6.5 इंच की एक सम्पूर्ण चित्र वल्लरी है, यह्ट अर्द्ध ग्रीक शैली की अपोलो की तस्वीर जैसी है।[2]

गान्धार शैली के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारत में कला की क्रमिक उन्नति की मुख्य धारा में इसका अपना अलग स्थान है। गान्धार कला का मौर्य और शुंग युग की प्रारम्भिक कला से कोई सीधा पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है।[3] कलाकारों और विचारों का आयात विदेशी भारतीय शीथियन और कुषाण साम्राज्यों के विस्तार से निकटस्थ सम्बन्धित और निर्भर था। यह साम्राज्य ओक्सस के किनारों से लेकर गंगा के किनारे तक और सम्भवता नर्मदा तक फैला था किन्तु आज के दृष्टिकोण में इसे नहीं स्वीकारा जा सकता है। समस्त उपलब्ध प्रमाणों से यह पता चलता है कि गान्धार कला का विकास कुषाण साम्राज्य में हुआ। यह कहना गलत है कि भारतीय बौद्ध कला का आदर्श विदेशियों ने उपस्थित किया था। यह हो सकता है कि औजार विदेशियों के हाथों में रहे हों, लेकिन कला पर समस्त प्रभाव भारतीय ही रहा है।

यह कहा जाता है कि भारत की राजनीतिक अवस्था में गान्धार कला के प्रभाव को

---

[1] एम0 फाउचर – बिगिनिंग ऑफ बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 83

[2] कनिंघम – द स्तूप ऑफ भरहुत, 1879, पृ0 51

[3] डी0बी0 स्पूनर – हैल्डबुक टु द स्कल्पचर इन द पेशावर म्यूजियम, बम्बई 1910, पृ0 119

भारत के आन्तरिक भागों में प्रवेश नहीं करने दिया। कुषाण साम्राज्य का पतन हो गया और उसके बाद देश में पर्याप्त अराजकता फैल गयी। उसके बाद में आने वाले गुप्त वंश ने पंजाब को अपने राज्य में शामिल नहीं किया और इस प्रकार गान्धार विदेशी क्षेत्र के द्वारा पृथक रहा। इससे कुछ इन्कार नहीं किया जा सकता कि दूर पूर्व में कला को पर्याप्त सफलता मिली। यह चीनी तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान में बौद्धकला को जन्म देने वाली बनी। यह तथ्य समस्त चीनी तुर्किस्तान में गान्धार शैली को बहुत सी मूर्तियों तथा चित्रों के पाये जाने में सिद्ध होता है। चीन और जापान की कला पर भारतीय प्रभाव केवल भारतीय शिक्षा के प्रयोग तक ही सीमित रहा है। खोतन पर भी भारतीय कला का प्रभाव पड़ा था। 7वीं सदी के आरम्भ में बजना और उसका पुत्र, वैटशू–ए–शुंग खोतन के प्रसिद्ध चित्रकार चीनी दरबार में गये और चित्रकला की भारतीय चीनी शैली को जन्म दिया। चीन से बौद्ध कला का भारतीय रूप कोरिया पहुँचा और वहाँ से जापान। प्रो0 ग्रूनवेडल तथा अन्य लेखकों ने बताया है कि दूर पूर्व में बौद्ध कला के प्रचिलित रूप का आरम्भ गान्धार में हुआ था।[1]

गुप्त काल :–

गुप्त कला निश्चित रूप से हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है लेकिन इस काल में बौद्ध कला के भी कुछ नमूने प्राप्त है। गुप्तकाल की सर्वश्रेष्ठ मूर्तियाँ सारनाथ में खोदी गयी है। उनमें सबसे बढ़िया 3.25 फुट ऊँची बैठे हुए बुद्ध की सफेद बुलवे पत्थर की मूर्ति है। बुद्ध को उंगलियों के साथ मुद्रा स्थिति में दिखाया गया है। पायदान पर चक्र और पाँच शिष्यों को पूजा करते हुए दिखाया गया है। बायीं ओर एक बच्चे के साथ दिखायी गयी महिला सम्भवतः मूर्ति का पवित्र उपहार देने वाली है। प्रभा मण्डल को सुन्दर रीति से सजाया गया है। शैली सुसंस्कृत संयम को व्यक्त करती है। यह समस्त आडम्बर या राक्षसीपन से मुक्त है। नमूने की बनावट में श्रेष्ठ कलात्मक कारीगरी दिखाई गई है। वस्त्र बहुत अच्छे प्रकार से पहनाये गये हैं।[2] (चित्र सं- 18)

---

1 ग्रुन वेडल– बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 106
2 जे0 कमिंग – रिलीविंग इण्डियाज पास्ट, पृ0 128
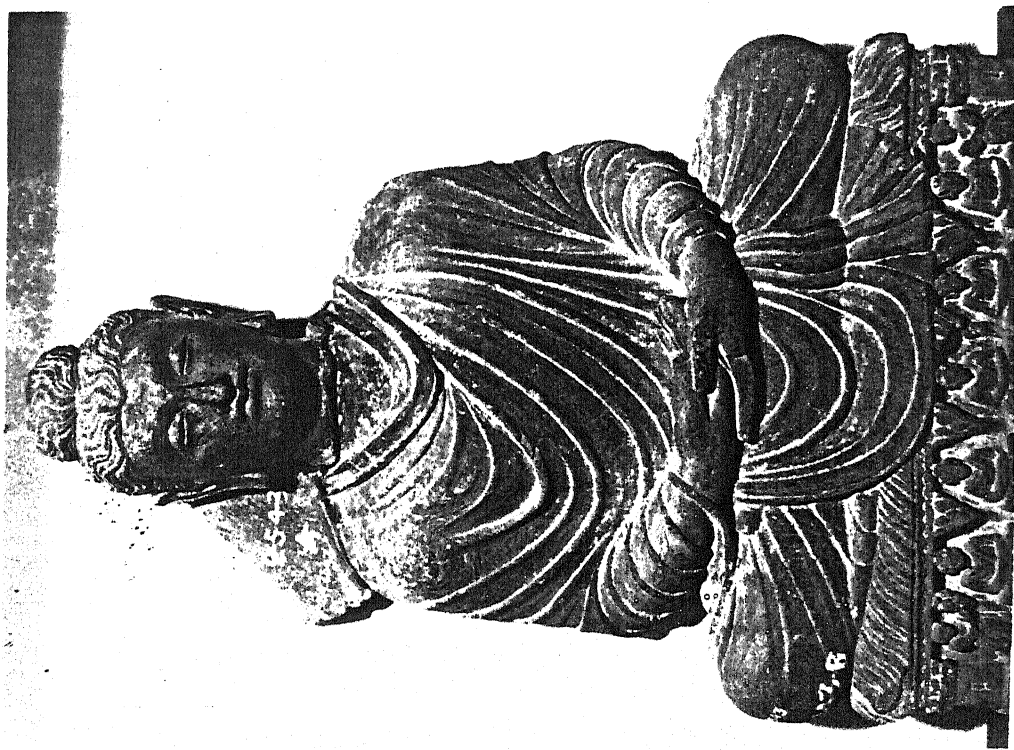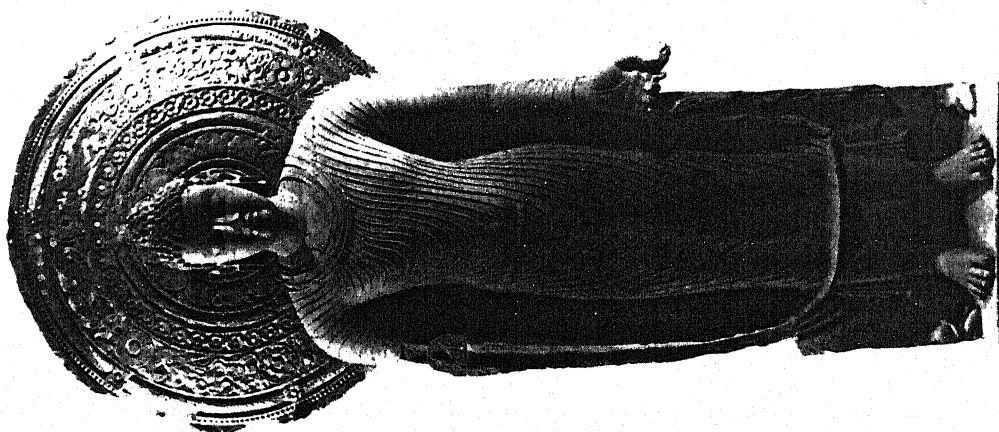
चित्र सं - 19

चित्र सं- 18

मथुरा के अजायबघर में 5वीं सदी के खड़े हुए बुद्ध की एक मूर्ति है। इसकी ऊँचाई 7 फुट 2.5 इंच है। यह अनेक बातों में सारनाथ की बैठी प्रतिमा से मिलती है लेकिन पहनावे में भिन्न है। शरीर पारदर्शक वस्त्र के पार चतुराई से दिखाया गया है। (चित्र सं: – 19)

बरमिंघम के अजायबघर और आर्ट गैलरी में बुद्ध की एक ताँबे की मूर्ति है। यह भागलपुर जिले में गंगा के किनारे सुलतानगंज में स्थित एक खण्डित विहार के हाल में पाई गयी थी और खोज करने वालों में से एक इसे इंग्लैंड ले गया और बरमिंघम अजायबघर को भेंट कर दी गयी। यह मूर्ति 7.5 फुट ऊँची है यह सारनाथ की मूर्ति जैसी है, इसके वस्त्र बहुत ही चिकने है और परत बहुत कोमलता से अंकित किये गये हैं। वस्त्र पारदर्शक है। मूर्ति में प्रयुक्त माल "बहुत शुद्ध ताँबा" है जो दो स्पष्ट परतों में ढाली गयी है। यह अनेक विभागों में बनाई गयी थी।[1]

मंकुवर के साथ वाले गाँव में एक बहुत ही पूर्ण बेठी हुई बुद्ध की असमान्य प्रकार की मूर्ति पायी गयी है। इस पर एक समर्पित लेख की तिथि 448–9 ई0 खुदी हुई है। इसका साफा बहुत विचित्र है। इसका झल्लीदार हाथ कुछ सम्प्रदायों के अनुसार बुद्ध का परम्परागत चिन्ह है। चक्र बुद्ध के धर्म चक्र का प्रतीक है, मुख के भाव अन्य प्रतिमाओं से भिन्न है। वस्त्रों में भारतीय जाकेट है जो सामान्य बुद्ध के कपड़ों से पूर्णतः भिन्न है।[2]

<u>अजन्ता के चित्र</u> :–

अजन्ता की दीवारों पर बने चित्र पूर्णतः बौद्ध मत से सम्बद्ध है। उनमें बौद्ध के अनेक चित्रों के अतिरिक्त गुप्त पदार्थो तथा चिन्हों का भी प्रतिनिधित्व शामिल है। अधिक पेचीदे चित्रों का

---

1 राजेन्द्र लाल मिश्र – प्राचीन भारत, पृ0 203

2 वी0एस0 अग्रवाल – गुप्तकालीन कला, पृ0 67

चित्र सं- 20

सम्बन्ध या तो बुद्धोजीवन की किसी घटना से है या उनका वर्णन जातक कथाओं में आया है। विभिन्न बौद्ध विषयों में अवलोकितेश्वर की प्रार्थना, बुद्ध के जीवन के दृश्य तथा जीवन चक्र सम्मिलित है।[1] (चित्र सं- 20)

गुफा 1 के छत के चौखटों में सजावट के आलेख में अजन्ता कलाकार की अद्वितीय चातुरी का इन शब्दों में वर्णन किया है– "छोटे चौखटों को वैसे ही विभिन्न एवं शानदार अभिलेखों से सजाया गया है जैसे वे काल्पनिक हो, कुछ को विभिन्न तस्वीरों से, रसिकता से पूर्ण, फारसी पगड़ी कोट तथा धारीदार जुराबों की विचित्र वेशभूषा फलों और फूलों के बीच में नाचते हुए, मद्यपान करते हुए या वाद्य बजाते हुए आपस में बात करते हुए दिखाया है। उसमें हाथी, कूबड़ वाला सॉड और बन्दर तोते, हंस तथा अकेला या जोड़े के साथ ऊँची कलंगियों अथवा पर्दे के समान लपेटी हुई दुमो युक्त लौकिक पक्षियों को दिखाया गया है। जेवरों का ऊपरी तथा नीचे का धरातल दिखाया है। कुछ में गुलाबी कमल का फूल खिला है, कुछ में आम, शरीफा, एक गोल फल तथा एक अन्य फल अंकित है।[2]

"इन चौखटों में जेवरों की एक के बाद एक काली या लाल जमीन पर चित्रित किया गया है। सबसे पहले चौखटे पर जमीन का रंग लगाया है और तब उस पर जेवरों को पूरी तरह से सफेद रंग से चित्रित किया गया है। उसे सफेद के ऊपर पतले पारदर्शक रंग से और भी विकसित किया गया है।"[3]

गुफा 10 के खम्भे पर बने बुद्ध के चित्र पाँचवीं सदी या उसके कुछ बाद के है। प्रभामंडल और वस्त्र गान्धार वास्तु कला के समान है। बरामदे के बायें सिरे की ओर बुद्ध के जीवन

---

[1] जी0 यजदानी – अजन्ता (लन्दन –1930) पृ0 71

[2] जे0 ग्रिफिथ – द पेन्टिंग्स ऑफ द बुद्धिस्ट केव टेम्पुल्स ऑफ अजन्ता, 1905, पृ0 53

[3] बुर्गस – नोट्स ऑन द बुद्धा रॉक टैम्पुल्स ऑफ अजन्ता, पृ0 71–9

चक्र का चित्रण सुन्दर है और छठीं शताब्दी में लोकप्रिय बौद्ध शिक्षाओं का प्रतीक है। अजन्ता चित्रों का माप 5 फुट 6 इंच × 5 फुट 1 इंच है। यह माना जाता था कि यह चित्र लंका के राजा विजय के आने और उसके गद्दी पर बैठने की कहानी का चित्र है जैसा पाली महावंश और दीप वंश में वर्णन है लेकिन यह वास्तव में सिंहल आवेदन विश्वसनीय प्रतिपादन है। गुफा 19 बड़े प्रयास से खोदी गई है। उसकी ड्योढ़ी और सामने की जगह खूबसूरत नक्काशी से सजी है। चित्रों में बुद्ध के अनेक चित्र है। उन्हें श्री फरगुसन ने "भारत में बौद्ध कला के सबसे पूर्ण नमूनों में से एक माना है।" गुफा 1 में अनेक बड़े दीवार चित्रों में बुद्ध के प्रलोभन शामिल है। इसी विषय को गुफा 26 में नक्काशी में प्रभावी रूप से व्यक्त किया गया है।

अजन्ता के दीवार चित्रों के बारे में ग्रीफ्थस ने लिखा है, "अनेक कठिनाईयों के होते हुए भी कार्य को इतनी सुन्दर रीति से किया, लोक सम्मति में इतना अनुरूप, आलेखन में इतना विस्तृत एवं सजीव, सौन्दर्य रूप में इतना स्पष्ट सुख से परिपूर्ण मानता हूँ कि मैं उसे इटली में प्राप्त प्रारम्भिक कला के समान रखता हूँ जिसकी सम्पूर्ण विश्व प्रशंसा करता है।... अजन्ता की कारीगरी प्रशंसनीय है, ब्रुश की एक बार से विभिन्न मोटाइयों की एक रेखा बड़ी शुद्धता से खींची जाती है, प्रायः स्पर्श बहुत साहसी एवं पुष्ट होता है, हाथ का कार्य बहुत विस्तृत होता है, कुछ मामलों में तो सबसे अच्छे पम्पई के चित्रों के समान रंग बहुत गाढ़े भरे गए है...वस्त्रों को भी बहुत समझदारी से बनाया गया है और यद्यपि परतें लोक सम्मति के अनुरूप हैं तथापि वे बेसिले पूर्वी कपड़े के सभी गुणों को व्यक्त करने में सिद्ध है...कला की शिक्षा के उद्देश्य से भारतीय कला विद्यार्थी के सामने अजन्ता की गुफाओं में पाये गये नमूनों से अधिक अच्छे नमूने नहीं रखे जा सकते। यहाँ की कला में जीवन है, मानवी आकृतियाँ भाव पूर्ण है, अंग चालन में शान एवं गति है, खिलते फूल, चहचहाते पक्षी, उछलते–कूदते या लड़ते हुए या सन्तोष के साथ भार ढोते हुए पशु है, ये सभी प्रकृति की अपने आदर्श के अनुसार बढ़ती हुई पुस्तक से लिए गए है और इस मामले में मुसलिम कला से पूर्णतः भिन्न है जो अवास्तविक, अप्राकृतिक है और इसी कारण विकास के अयोग्य है।"

श्री लारेंस विन्यन का कथन है, " अजन्ता की कला की विशेषता मजबूत बाहरी रेखाएं है जो एशिया की प्रारम्भिक शैली है, रंग बहुत प्रचण्ड एवं उत्तेजक है, आकृतियां और चेहरे उत्तेजित करने वाले हैं– उनमें शक्ति एवं व्यक्तित्व और जीवन की ठोस कल्पना है। हम अनुभव करते हैं कि कलाकारों को अपने विषय का पूरा ज्ञान था। उन्होंने चाव और शान से कार्य किया है... इस ओर भित्ति चित्रों के परिमाण से प्रबल और प्रभावशाली छाप पड़ती है। तो भी अजन्ता कला प्रारम्भिक स्तर से ऊँची नहीं उठी है। यद्यपि व्यक्तिगत चित्रों में जीवन की समस्त भावनाओं को कलाकारों ने दिखाया है तथापि उनमें उस प्रवृत्ति का अभाव है जिससे कला का विकास होता है जैसे एकता और सम्पूर्ण विषय का ज्ञान। उनकी रचनाएं भीड़–भाड़ की और बेमेल है। दूसरी ओर विस्तार में और एकाकी वर्गों और रूपों में शान, वैभव तथा चरित्र है.... अजन्ता चित्रों में जिस बात का कमी है और जो चीनी कला में मिलती है, वह है शक्तिशाली रचनात्मक प्रवृत्ति और सौन्दर्य का ज्ञान जिससे कला में पूर्ण एकता उत्पन्न होती है, लय और सन्तुलन के नियंत्रण का भाव जिससे सभी सुन्दर आलेखनों को प्रेरणा मिलती है।[1]

लंका :–

बौद्ध कला लंका में भी पायी जाती है। लंका में भारत से अधिक बहुत से बौद्ध स्तूप या दगवा मिलते हैं। जेतवन आराम एक पत्थर के प्लेटफार्म पर लगभग 8 एकड़ भूमि मैं फैला हुआ है। वह स्थान, जिसके चारों ओर दीवार बनी है, लगभग 14 एकड़ है। यह 251 फट ऊँचा है। अभयगिरि स्तूप प्रारम्भ में ईसा की एक सदी पूर्व बनाया गया था। थुप आराम अशोक के काल में बनाया गया था। श्री बैल ने तान्त्रिक महायान वादियों के समाज के प्रयोग के लिए लगभग 8वीं सदी में अनुरूद्धपुर में बने विजय आराम का वर्णन इस प्रकार किया है, "यहां आदर्श भूत संघम् या बौद्ध संस्थान अपने आप में पूर्ण बना था। उसमें पवित्र स्थान, सभा स्थल, पुरोहितों का निवास स्नानागार,

---

भण्डार–गृह, जोहड़ आदि थे।

"मठ उठे हुए चौकोर आंगन में बना था। यह उत्तर और दक्षिण में 288 फुट तथा पूर्व और पश्चित में 268 फुट था, चारों ओर दीवार थी और विशेष स्थानों पर द्वार थे। उसके एक दगबा और तीन विहार थे और उत्तर की ओर एक खुला हाल था। मन्दिर के बाहर पहले एक रास्ता था, उसके बाद 12 छोटे कमरे। चारों ओर खाई थी। मुख्य भिक्षु का निवास–स्थान, एक स्नानागार, दक्षिण और पश्चिम में कुछ अन्य भवन थे। कुल 12·5 एकड़ क्षेत्र घिरा था। उसके चारों ओर 200×300 गज की पत्थर की चौकोर दीवार थी जिसके चिन्ह अभी भी देखे जा सकते हैं, निवास स्थान से आंन्तरिक भाग को सीधी सड़क जाती थी।"

लंका के बौद्ध मन्दिर भारत के मन्दिरों से भिन्न है। आमतौर से उनके ईंट या पत्थर के चौकोर भवन हैं। उनको प्रायः पांच–पाचं के ग्रुप में बनाया जाता है। एक बड़े केन्द्रीय मन्दिर के आमने–सामने चार छोटे मन्दिर बनाए जाते हैं। बौद्ध भवनों में हिन्दू देवताओं को सम्माननीय स्थान दिया जाता है। विष्णु को लंका कर रक्षक माना जाता है और बुद्ध के बाद पूजा जाता है। पोलोनरूवा मन्दिर को श्री बेल "लंका में बौद्ध मूर्ति कला का सबसे अच्छा विद्यमान नमूना" मानते हैं।

ललित आकलन कला है। कालिदास ने "ललिते कलाविधौ" का जो रघुवंश में उल्लेख किया है वह इसी प्रसंग में है। अभिराम अंकन चाहे वह वाग्विलास के क्षेत्र में हो चाहे राग रेखाओं में, चाहे वास्तुशिल्प में हो, वह कला है।

प्रकृति जो देती है वह कलाकार नहीं देता। न कलाकार प्रकृति का यथातथ्य रूपायन करता है। यह कार्य छायाशिल्पी का है। कला प्रकृति को अपनी दृष्टि से देखती है। कलाकार दृश्य में पैठकर, प्रायः उससे एकीभाव होकर उसे देखता और सिरजता है। वह प्रकृति को अपनी तूलिका, छेनी अथवा लेखनी से संवार देता है, नंगी प्राकृत स्थिति में कलावन्त जो अपने माध्यम से अन्तर डाल देता है, वही कला है। प्रकृति रात बनाती है, कलावन्त दीप बनाता है।

कला के अनेक रूप हैं जिनें प्रमुख है– मूर्तिचित्रण, चित्रकला व स्थापत्य।

भारतीय कला का विसतार बड़ा है, प्रायः पांच सहस्राब्दियों लम्बा और इस काल प्रसाद में जितना और जैसा उसने सिरजा है वह कला समीक्षक या इतिहासकार के लिये एक समस्या प्रस्तुत करता है। सिन्धु सभ्यता के बाद ई0पू0 दूसरी सहस्राब्दि के बाद तो निःसन्देह वैदिक उदासीनता के कारण कला की प्रगति टूट सी जाती है और उस सभ्यता तथा मौर्यकाल की कृतियों के बीच एक दीर्घ कालान्तर पड़ जाता है। प्रायः डेढ़ हजार साल का, पर मौर्य युग से जिस कला साधना का प्रारम्भ होता है वह अद्यावधि अटूट चली आती है यद्यपि उसके रूप प्रकारों और अभिप्रायों में आने वली अभारतीय जातियों के प्रभाव से अन्तर पड़ता जाता है।

भारत ही एक ऐसा देश है जहां के निवासी अपने देवी देवताओं को मूर्ति का रूप प्रदान करके उनमें अपने ईश्वर की झलक देखते हैं।"[1] हमारे हिन्दू भाई प्राचीन काल से ही मूर्तियों की पूजा करते चले आये हैं हालांकि मूर्तिपूजा के विरोध में अनेक सन्तों ने प्रचार किया है परन्तु फिर भी

---

1 प्राचीन भारतीय कलायें, असगर अली कादरी, पृ0 156

भारत में मूर्तिपूजा प्रचिलित है और आज भी लाखों संख्या में हिन्दू मूर्तिपूजक हैं।

आज भी भारतीय मूर्तिकाल के नमूने संसार के अन्य देशों को अच्छी दृष्टि से देखे जाते हैं।

भारत प्राचीन काल से ही मूर्तियों का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। मूर्तिकला वह कला है, जिसमें मूर्ति की सभी विशेष्ताओं का ज्ञान होता है।

"जो क्रिया जिस उपादान के अनुकूल हो एवं जिस प्रक्रिया में जो लिखता हो उत्पन्न की हुई रमणीय आकृति को मूर्ति कहते हैं।[1] किन्तु आज मूर्ति का अर्थ हमारे यहां इतना संकुचित हो गया है कि हम उसे पूजा की वस्तु मान बैठे हैं। मूर्तियों कई प्रकार से बनती– सोनें की मूर्तियां, चांदी की मूर्तियां, ताँबे की मूर्तियां, पीतल की मूर्तियां, अष्टधातु की मूर्तियां काँच की मूर्तियां, कड़े तथा मुलायम पत्थरों की मूर्तियां, मसाले की मूर्तियाँ, लाल की मूर्तियां, गंधक की मूर्तियां, हाथी दांत की मूर्तियां ,शंख की मूतियाँ, सीप की मूतियाँ, अस्थि की मूर्तियाँ, सींग की मूर्तियाँ, लकड़ी की मूर्तियाँ, कागज की मूर्तियां।

संसार में मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाती रहा है उतना अन्य कोई प्रतीक नहीं। त्रास और कुतूहल से भगवान और धर्म का उदय हुआ परन्तु उनसे बहुत पूर्व मूर्ति की काया सज गई थी। भगवान का उदय हो चुकने पर भी व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिये एक माया चाहिये थी और मानव ने जैसे प्रेम और श्रद्धा मानव अथवा व्यक्ति के प्रति ही विकसित किये थे, उस दिशा में भी उसे कुछ अपना सा ही चाहिए थ और प्रतिमा अपने ही अनुरूप उसने रच डाली। आत्मीयता मूर्त हुई।[2]

प्राथमिक चिन्ताकुल मानव की इस प्रकार मूर्ति पहली अभिसृष्टि थी। प्रशान्त सागर से

---

[1] भारतीय मूर्तिकला, राय कृष्णदास पृ0 12

[2] – भारतीय मूर्तिकला, का इतिहास – श्रीशचन्द्र कौशल पृ० - 38

अटलांटिक तक सारी भूमि मूर्ति पूजती और उससे डरती थी। भय जब स्थाई हो गया तब उससे मानव परचा और उसको धीरे-धीरे सुन्दरतर करने लगा, प्रिय आत्मीय जैसा। मूर्ति में कला बसी। भारत के इतिहास में मूर्ति उतनी ही पुरानी है, जितना पुराना उसका जाना हुआ इतिहास है। हमारी प्राचीनतम सभ्यता के भग्वावशेष सिन्धु घाटी में मिले हैं हड़प्पा मोहन जोदड़ों आदि में, परन्तु आश्चर्य है कि वह सभ्यता कला के शैशव से हमारा परिचय नही कराती, उसकी पराकाष्ठा से कराती है। एक से एक सुन्दर मूर्तियां, एक से एक मर्महर मुहर, एक से एक अभिराम प्रतीक बनते हैं और सहसा सारा छिन्न-भिन्न हो जाता है, उमगता जीवन अपनी संधियों से बिखर जाता है। सभ्यता की श्रंखला सहसा टूट जाती है।[1]

फिर प्रायः डेढ़ हजार वर्ष बाद भारतीय रंगमंच का पर्दा उठता है और उसपर चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक आ खड़े होते हैं। उनकी सुथरी निखरी कला, असाधारण प्रौढ़ता लेकर आती है और उसके विकास की मंजिलें ढूढ कर भी हम नहीं पाते। ऐसा नहीं कि बीच का काल सर्वथा अनुर्वर रहा हो। प्राड्मौर्य काल में निश्चय ही कला से सम्बन्धित प्रयास हुए हैं। बर्तन भाड़े की भूमि पर्याप्त निष्ठा से कोरी चिकनायी गयी है। और जब तक मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है जिसका पता इक्के-दुक्के मिलजाने वाले प्रतीकों से लग जाता है। उदाहरणार्थ, सातवी-आंठवी ई0पू0 के लौड़िया नन्दनगढ़ की मृतक समाधि में मिली नग्न नारी की स्वर्ण प्रतिमा प्रकट करती है कि किसी न किसी मात्रा में निश्चय उस दिशा में सफल प्रयास होते रहें है परन्तु निःसन्देह वह प्रयास इतना प्रभूत प्रसबल नहीं जितना मौर्य अथवा उससे शीघ्र पूर्व का युग है। शीघ्रपूर्व का वह काल मिटट्ी की ठीकरों पर उभरे चित्रों का विशेष धनी है। इनके अतिरिक्त पत्थर की मूर्तियाँ भी बनीं जो विशालकाय यक्षो-यक्षणियों की है। परखम, बेसनगर आदि की यक्ष-यक्षणियों की मूर्तियां इस प्रकार की है- शक्ति की सीमा, पूजा के लिये

---

1 भ0श0 उपाध्याय- भारतीय कला की भूमिका, पृ0 32

रचीं। उनमें से मनसा देवी की मूर्ति आज तक मथुरा में पूजी जाती है।[1]

भारत ने मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है। सौन्दर्य, समाधि, कल्पना और भावबोधकता में उसका किसी अन्य देश की कला क्षमता कर सकती है, यह कहना आसान नही है। अन्य कलाओं में सौन्दर्य की कमी नहीं, व्यंजना की भी असीम क्षमता है। व्यापक प्रभाव की भी वह धनी है पर ये सारी प्रवृत्तियां एकत्र कम मिलती हैं और सचेत ज्ञान से हों अथवा छवि के आकर्षण से भारत नें मूर्ति का त्याग नहीं किया विपत्तियों के बाबजूद। उपासना अब तत्व बोध को स्थान दे चुकी है।[2]

मूर्तिकला मूर्तिकार की इस अवस्था का प्रकाशन कहा जाता है।[3] यह केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं बन सकती है वरन् एक साधना है। मूर्तिकला सौन्दर्य है और सौन्दर्य परमात्मा भी कहा जाता है। परमात्मा सभी वस्तुओं में विद्यमान है। उसकी इस विद्यमानता का प्रकाशन ही मूर्तिकला का वह सुन्दर रूप है जो हमारी ऑखों को प्रत्येक दृष्टिकोण से अच्छा लगता है। मूर्तिकार अपनी अनुभूति के अनुसार अपनी अन्तरात्मा की तृप्ति के लिये जब इस सौन्दर्य का मूर्तिरूप गढ़ता है तो उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि उसको क्या और भी करना है वह स्वयं तो सौन्दर्य में मुग्ध है। उस समय तो उसकी आत्मा समस्त ब्रह्म जगत को छोड़कर एक अलौकिक स्थिति में पदार्थों में लीन रहती है। उस अवधि के लिये उसकी अनुभूति मूर्तिकला धर्म के बहुत ही पास जाकर खड़ी होती है।

मूर्तिकला तथा धर्म का एकदूसरे से गहरा सम्बन्ध है। मूर्तिकला तथा धार्मिक जीवन का

---

[1] वा0श0 अग्रवाल– भारतीय कला पृ0 29

[2] अली असगर कादरी– प्राचीन भारतीय कलायें पृ0 24

[3] प्राचीन भारतीय लायें, एस0एम0ए0ए0 कादरी, पृ0 40

इससे अधिक और क्या महत्व हो सकता है कि भगवान बुद्ध को मूर्ति का रूप देकर उसकी पूजा बौद्ध धर्म में भी प्रचिलित हो गई और अपनी इसी विशेषता के कारण वह संसार का एक प्रसिद्ध तथा महान धर्म बन गया।[1] भारतीय मूर्तिकला आलस्य पूर्ण क्षणों के व्यतीत करने का साधन नहीं कही जाती है। किसी की भी मूर्ति को देखकर हृदय में खुशी की भावनायें अवश्य उत्पन्न होती हैं, क्योकि उसमें रस की कमी नही रहती तथा साथ ही साथ वह हृदय की भावनाओं को सामने लाकर इस लोक का सृजन भी किया करती हैं यही कारण है कि मूर्तिकलाअसुन्दर को भी सुन्दर रूप में गृहण किया करती है। काली देवी की कुरूपता और भयानकता में भावना का जो सौन्दर्य होता है वह उसको असुन्दर होते हुए भी मूर्तिकला के संसार में सुन्दर बना देती है। आनन्द की इस महत्ता के कारण ही व्यक्ति के लिये उसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। आज के युग में इसका महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।[2]

"उदयांचल से उठकर सूर्य जब अपना दूसरा पैर उठाता है तब उसका पूरा तेज आकाश पर छा जाता है। कला का वैभव भी उसके दूसरे चरण अर्थात् भावों को मूर्तिरूप देने में ही है। शिल्पी अपने अनगढ़ शिलाखण्डों की धैर्य के साथ आराधना करता है, उसकी उस निष्ठा से वे पाषाण मानों द्रवित होकर श्री और सौन्दर्य के रूप में प्रमाणित हो जाते हैं। उनमें कलाकार की भावना प्राण का संचार करती है। शिल्प के वे प्रतीक रसिकों और कलाविदों के लिये रसके अनुपम स्रोत बन जाते हैं, जो रसज है सरल हृदय हैं उनके हृदय में ही कला रस संचार का द्वार खोलती है और वे ही कला की वाणी के अर्थ को प्राप्त करते हैं। मूर्तिकला के आचार्य उसके बाह्य रूप को समझ सकते हैं पर रस के लिये मूर्तिकला की वाणी अपने अंतरंग को प्रकट कर देती है।[3]

---

[1] वोगल– बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया, सीलोन एण्ड जावा, 1936, पृ0 37

[2] एच0 गोट्ज– आर्ट ऑफ इण्डिया, पृ0– 66–68

[3] भगवत शरण– भारतीय कला एवं संस्कृति, पृ0 42

भारतीय मूर्तिकला ने अपने अर्थो को व्यक्त करने के लिये अनेक मनोहर वस्त्रों का निर्माण किया है। त्रिमूर्ति के पीछे दार्शनिक चिन्तन का कितना रहस्यमय संकेत है। प्रभाव से लेकर त्रैगुण्य तक के विराट भावों की अभिव्यक्ति के लिये मूर्तिकला ने त्रिमूर्ति यह छोटा सा इंगित बनाया और वह सबके लिए सन्तोषप्रद हुआ।[1] त्रिमूर्ति की प्रतिमा मानों भारतीय दर्शन की प्रतिमा है। तत्वज्ञान के आंगन में खड़े होकर जब हम एकैव मूर्तिविभेद त्रिधा सा उच्चारण करते है, तब कला में विरचित त्रिमूर्ति की प्रतिमा उस अनुभव को प्रत्यक्ष रूप दिखा कर हमें अपूर्व सन्तोष प्रदान करती है। धारापुरी के कैलाश मन्दिर में स्थापित त्रिमूर्ति की प्रतिमा भारतीय दर्शन की अमर प्रतिमा की भाँति हमारे सामुद्रिक देहली द्वार पर प्रतिष्ठित है। दर्शन ही हमारे राष्ट्र की आत्मा है। अतएव इस भव्य त्रिमूर्ति के रूप में मानों राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी स्वयं मूर्तिमयी होकर रत्नाकर के प्रवेश द्वार पर सब का स्वागत करती है। इसी प्रकार शिव जी का ताण्डव भी मूर्तिकला का मंजा हुआ सूत्र है। दुर्धर्ष सृजन शक्ति के स्पन्दन की एक केन्द्र पर लाकर उसकी कल्याणमयी कल्पना शिव का ताण्डव नृत्य है, जिस मूर्तिकार ने सर्वप्रथम इस गम्भीर दार्शनिक भावों को कला की लिपि में व्यक्त किया है, उसकी ध्यान शक्ति को धन्य है।[2]

इसी प्रकार कमलों के वन में विराजमान देवी पद्‌माश्री, जिसे दिशाओं के अधिपति दिग्गज अविजित घटों से अभिषेक कराते हैं, सर्वभूतधात्री पृथ्वी के मंगल विद्यार्थिनी उर्वरा शक्ति का प्रतीक है। कारण त्रिलोकी अवध्य हाती है और जगती तल पर जीवन का अविछिन्न प्रवाह चला करता है। पृथ्वी के जलाशयों में जो पद्‌भवन फूलते हैं उनकी भी जब तक आकाश के मेघों से प्रतिवर्ष संयुक्त होती है, तभी तक प्रजापति का चलाया हुआ चक्र सकुशल रहता है। इस विराट यज्ञ चक्र के गम्भीर भाव को व्यक्त करने वाली पद्‌मश्री की कलात्मक वाणी को पाकर हमारा समाज सन्तुष्ट हुआ। साँची

---

[1] रायकृष्ण दास – भारतीय मूर्तिकला, पृ0 19

[2] पृथ्वी कुमार – प्राचीन भारत की कला, पृ0 78

और भरहुत के तोरणों पर चिन्हों के द्वारा ही मूर्तिकला में जीवन के अर्थों को अभिव्यक्त करने का विधान किया गया था, उसमें पद्माश्री तथा श्री लक्ष्मी के अनेक मूर्तियों का मण्डन है। मूर्तिकला के ये अभिप्राय एक बार जन्म लेकर देश और काल के साथ फूलते रहते हैं। इनके आयुष्मान जीवन अथवा विकास का अध्ययन भारतीय मूर्तिकला के इतिहास का रोचक पक्ष है। जब तक उसमें जीवन या प्राण भरा रहता है, तब तक मांगलिका या पूज्य समझा जाता है।[1]

"जीवन के स्वति भाव का द्योतक स्वास्तिक चिन्ह है। यह विश्व स्वास्तिक का ही प्रकार है। स्वास्तिक के विपयीस या उलटने से विश्व का विघटन हो जाता है।[2]

इस प्रकार देव प्रतिमाओं और चिन्हों के द्वारा भारतीय मूर्तिकला ने अपनी परिभाषा का विकास किया। अनेक प्रकार के सौम्य और रौद्र भावों की अभिव्यक्ति के लिये शान्त और क्षुब्ध रूपों का आश्रय लिया गया। मनुष्य समाज ने अपने पारिवारिक कल्याण की छाया को इन समग्र रूपों में देखने का प्रयत्न किया। देवों का रूद्र रूप भी जीवन का कठोर सत्य है। अमृत के साथ मृत्यु भी मनुष्य से मैत्री करना चाहती है। उसी की सत्ता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये अनेक प्रकार की संहार मूर्तियों का निर्माण हुआ। कलाकार शिल्पी उसी अनुशासन को स्वीकार करके चले हैं और उन्होंने कल्पना को तरांगित करके विविध रौद्र रूपों की सृष्टि की है।[3]

"मानव के सूने प्रदेश के भावों से और लोक की मूर्ति रूपों से भरना यही कलात्मक विष्णु जी का महान विक्रम है। विष्णु जी पार्थिव लोकों को अपने त्रिविक्रम से नापते है। इसका अभिप्राय क्या है जिन लोकों की यात्रा मानवी चरणों ने पहले न की हो उनको अपने रथ चक्रों की परिधि में

---

[1] प्राचीन भारतीय कलायें, कादरी, पृ0 42

[2] भा0 विद्या भवन सीरीज, वोल्यूम–।।, बम्बई द्वारा प्रकाशित, पृ0 114

[3] वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 79

लाना यही पथिकृत कर्म या महान पराक्रम गिना जाता है। जहाँ इस प्रकार की नयी रचना का भाव रहता है, वहीं विष्णु जी का विक्रम विद्यमान है। भूमापन की ही वैदिक संज्ञा विक्रमण है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नयी भूमि को आत्मसात करना, नये प्रदेशों में निर्माण का सूत्र डालना ही विक्रम है। कल्पना के लोक में नवीन–नवीन भावों की सृष्टि करना राष्ट्रीय चिन्तन का उत्थान पक्ष है। उसी जगत में पुराण कारों के बहुमुखी गाथाओं के भव्य प्रासाद खड़े किये। साहित्यकारों के नवीन आदर्श और चरित्र के रूप बाँधे और इतिहास भी साहित्य का सखा बना पर इतिहास और साहित्य का सख्यभाव साहित्य की गति और मानवी जीवन को आगे बढ़ाने के लिये होना चाहिए।[1] पुराण और साहित्य जब कल्पना के रीते प्रदेश में भावों के नवीन ठाठ बनाते हैं और इतिहास का सत्य उनमें बसता है, तभी तीनों का वरदान पाकर मूर्तिकला समाज के जीवन को अनेक रूपों से भर देती है। स्थापत्य शिल्प, चित्र, नाट्य, संगीत इनके अनेक रूप है।"

शिल्पी और चित्रकार, साहित्य पुराण और इतिहास की प्रेरणाओं को अपने ढंग से ढाल कर प्रस्तुत करने का आयोजन और प्रयत्न करते हैं। अमूर्त भाव किस प्रकार सफलता से व्यक्त किये जा सकते है ? इस प्रश्न से सभी शिल्पियों को दीर्घकाल तक जूझना पड़ता है, तब कहीं जाकर मूर्तिकला की परिभाषा के वे सूत्र उसके हाथ लगते हैं जिनके द्वारा मूर्तिकार की भाषा राष्ट्र के गूढ़ चिन्तन को व्यक्त करने योग्य बनती है। शिल्पी की भाषा बड़ी अर्थवती होती है। यह सृष्टि देवशिल्प है। इसके शिल्पी को बोलकर कुछ भी कहना नहीं पड़ता फिर भी उसकी शिल्प लिपि के अक्षर सभी देश और काल में अपने अभिप्राय को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। मानुषी शिल्प से भी अभिप्राय प्रकाशन का यह कार्य सिद्ध होता है। मूर्तिकला की लिपि का आविष्कार कलाविदों की उत्कृष्ट साधना का परिणाम होता है।[2]

---

[1] रायकृष्ण दास – भारतीय मूर्तिकला, पृ0 21

[2] वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ0 82

भारतीय मूर्तिकला में सौन्दर्य विधान के लिये अनेक अलंकरणों का प्रयोग हुआ है। देवी के मूर्त रूप मूर्तिकला के शरीर है तो भाँति-भाँति के अभिप्राय अलंकरण उस शरीर के बाह्य मण्डन है। इस सजावट के बिना मूर्तिकला सभ्रान्त नहीं बनती। पत्र और पुष्प के संभारों से मूर्तिकला का शरीर श्री सम्पन्न बनाना आवश्यक है। लताओं और वृक्ष वनस्पतियों ने कला के स्वरूप को अनेक प्रकार से संवारने में सहायता दी है। पत्रलता या पत्रावली[1] के अनबन भाँति के कटावों ने गुप्तकला को शोभा प्रदान की है। दिगम्बर शिलापट्टों को परिधान पहनाने के लिये मूर्तिकार के पास पत्र लताओं का अचूक साधन था, जिसका उपयोग उसने अनेक प्रकार से किया है। अशोक वृक्षों पर पड़े हुए झूले था उनके नीचे अशोक दोहद के दृश्य वनस्पति जगत के साथ मानवी परिचय और सौहार्द भाव के उदाहरण है। जीवन में जैसा प्रकृति का सानिध्य था उसी की छाया भारतीय मूर्तिकला में पायी जाती है।

मूर्तिकला श्री सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौन्दर्य व श्री का निवास रहता है। जिस सृष्टि में श्री नहीं वह रसहीन होती है, जहाँ रस नहीं वहाँ प्राण भी नहीं रहता है, जिस जगह रस, प्राण और श्री तीनों एकत्रित रहते है, वहीं मूर्तिकला रहती है।[2]

कहा जाता है कि आनन्दानुभव के लिये विश्वकर्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है। कहीं से किसी प्रकार रस से न्यून नहीं है।[3]

एक अखण्ड रस सृष्टि में सर्वत्र ओत प्रोत है। उसके मधुर सरोवर शत सहस्त्र संख्या में चारों ओर भरे हुए है। उनसे रसानुभव के लिये प्राण सदा उत्सुक रहता है। प्राण को रस अत्यन्त प्रिय है। रस की दुर्घर्ष धारायें जब प्रकट होती है, प्राण तृप्त होता है।

---

1 ये शब्द गुप्तकाल की परिभाषा में पत्रों की कटावदार बेलों के लिये प्रयुक्त हुए है।

2 रसेन तृप्तः न कुतश्चनोवः

3 रीता शर्मा – प्राचीन भारत, पृ0 128

रसानुभव के अनेक स्रोत है। रूप की शोभा चरित्र आदि रस ग्रहण करने के अनेक स्रोत है।

कला और साहित्य भी रसानुभव का अत्यन्त प्रिय द्वार है जिस युग को मूर्तिकला की क्षीर धात्री प्राप्त होती है, वह युग रस से धन्य हो जाता है। मूर्तिकला के अंक में पोषित समाज को सृष्टि सम्बन्धी श्री प्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।

विविध शैलियाँ और प्रकार :-

भारतीय मूर्तिकला में भी अन्य देशों की कलाओं की ही भाँति युग के साथ कला की शैली बदलती गई है। इन बदलते लक्षणों से हम युग विशेष की कला पहचान सकते हैं। इससे शैलियो के अध्ययन के लिये हमें इतिहास के युगों की ओर संक्षिप्त संकेत करना होगा। कला का इतिहास युगों के इतिहास से सम्बद्ध है। मूर्तिकला के विचार से इस देश के इतिहास के युग इस प्रकार है- (अ) प्राडमौर्य (ब) मौर्य (स) शुंग (द) शक कुषाण (य) गुप्त (र) पूर्व मध्य (ल) उत्तर मध्य (व) प्रागाधुनिक (श) वर्तमान

इनके अतिरिक्त एक ही काल में दो शैलियाँ भी चलती रही जैसे शक कुषाण युग के मध्य ही गान्धार शैली का चरम विकास हुआ। इसी प्रकार उसके पूर्व देशी कला के बीच मौर्य युग की असाधारण राजकीय कला अपनी विशिष्ट छवि और अनुपम पालिश परिष्कार लिये सहसा इस धरा पर आ उतरी।

प्राडमौर्य :-

प्राडमौर्य युग चौथी सदी ईसवी पूर्व से पहले का है। उस काल की सामग्री तीन सभ्यता की सामग्री है, प्रायः 2000 ई0पू0 से पहले की केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि कांसे की नर्तकी, पत्थर के नर्तक, सांचों की उभरी मुहरों के पशुओं की आकृतियाँ अपने दमखम और शक्ति में

आज की ताजगी लिये हुए है। उनकी गतिमानता कला के जिज्ञासुओं को चकित कर देती है। इसका छन्द अद्भुत आकर्षण है। उनका व्यक्तित्व स्मृति पर बरबस उठ आता है। मनुष्य और पशु औषधि व पशु जैसे एक ही काया में सिर ले गये हैं। अनेक बार तो उन्हें एक में ही सटे, एक में से एक निकले आते देखकर लगता है जैसे उन्हें आज के किसी अतियथार्थवादी ने सिरजा है।[1]

अगला युग केवल इस बात का बोध कराता है कि कला जहाँ-तहाँ सांस ले रही है और सर्वथा मरी नहीं है। लौड़िया नन्दनगढ़ वाली स्वर्ण प्रतिमा, इसी युग की है।

उससे अगला युग मौर्य काल से बिल्कुल पहले का है, प्रायः पांच सदी ई0पू0 का इस काल की मूर्तियाँ दो प्रकार की है- मिट्टी की और पत्थर की। मिट्टी की पूजार्थ बनायी मूर्तियाँ हाथ से ही बना ली गई है। इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक प्रसाधनों से भी मण्डित है। पत्थर की मूर्तियों की विशालता देखते ही बनती है। जिस निपुणता और कुशलता से मुद्राओं के वृषभों की शक्ति सिन्धु सभ्यता के सांचों के उभार में मूर्त होती थी वह कब की भुलायी जा चुकी है। उसका स्थान अब पत्थर ने ले लिया है, पर पत्थर की कलाकारिता मोहन जोदड़ों और हड़प्पा की प्रस्तर मूर्तियों की सजीवता से सर्वथा भिन्न है स्थूल और भोड़ी। परखम आदि की यक्ष मूर्तियों में शक्ति कायिक विशालता और स्थूलता से भरी गयी है। रूपायन का आकर्षण उनमें तनिक भी नहीं है।[2]

मौर्य युग :-

इसी पृष्ठभूमि से मौर्यकाल की कला सहसा उभर आती है। उसका रूपायन, आवयवीय यथार्थता, आकर्षण सौन्दर्य सभी अभूतपूर्व है। अशोक के स्तम्भों के शीर्ष पशुमंडित है। सिंह, गज, वृषभ, अश्व आदि उन पर बने हैं। पत्थर घर्षण और लेप से दर्पणवत् चिकना कर दिया गया है। पशुओं के अंगाग पत्थर के होकर भी जैसे सांचे से ढलकर निकले लगते हैं। लगता है जैसे वे पत्थर

---

[1] वी0ए0 स्मिथ - अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 173

[2] वी0ए0 स्मिथ - हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ0 98

के नहीं धातु के बने हो। उस जगत में उनका सा कुछ भी नहीं है। फिर भी उनका विकास पड़ोस के अनुकार्य से हुआ है, अपादान के ईरानी वृषभों के अनुरूप उन्हीं की परम्परा में। वही अवयवकारिता, वही प्रस्तर परिष्कार वही पॉलिश। सम्भवतः ईरानी कलावन्तों का भारतीय प्रतीकों अभिप्रायों के रूपायन में योग मिला।[1] (चित्र सं. - 21)

सारनाथ के शीर्ष स्तम्भ के सिंह इस देश की मूर्तिकला में अकेले हैं। उनसा न पहले कुछ था न बाद में कुछ हो सका।[2] उनकी शालीनता, प्रकृति विरूद्ध शांत मुद्रा उस अशोक की राजनीति के अनुरूप ही थी, जिसने ऐश्वर्य और राजत्व की परम्परा ही बदल दी। उचित ही था कि भारतीय उस शीर्ष की आकृति अपनी मुद्रा में ढाल ले। वह पॉलिश जो अशोक के स्तम्भों पर, उनके शीर्ष पशु आकृतियों पर, उसके दरीगृहों की दीवारों पर थी, मौर्यकाल के पश्चात् जो खाई तो फिर तो इस देश की भूमि पर न लौटी।[3] उनका विकास ईरान की मूर्तियों का दर्पण स्वच्छ पॉलिश से हुआ था। अशोक के पशु ईरान और असुर देश की पशु परम्परा में है : नि नवे खोसराबाद के मानव मस्तक वृषभों की परम्परा में, अपादान के शीर्ष स्तम्भ वृषभों की परम्परा में। अशोक की पत्थर वाली मूर्तिकला, पशुओं की अंगागीय यथार्थता उनकी शान्त मुद्रा, निष्कंप शालीनता और अनुपम पॉलिश से पहचानी जाती है।[4]

मौर्य कालीन मिट्टी की ठीकरों की रूपकारिता सर्वथा स्वदेशी है। उसकी रूप सज्जा भरी और अनन्त है। अधिकतर नारी की सजी उभरी हुई मूर्ति अनेकानेक चुन्नटों वाला घाघरा पहने, केशों का छत्र धारण किये और इस अभिराम निधि की अनन्तता सिद्ध है। सांचे का उपयोग भरपूर होने

---

[1] ए0के0 कुमार स्वामी – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ0 117

[2] आर0एन0 रे – मौर्य एण्ड शुंग आर्ट, 1945, पृ0 40

[3] स्टैला, क्रैमरिश – इण्डियन स्कल्पचर लन्दन, 1933, पृ0 79

[4] श्रीराम गोयल – प्रियदर्शी अशोक, पृ0 87
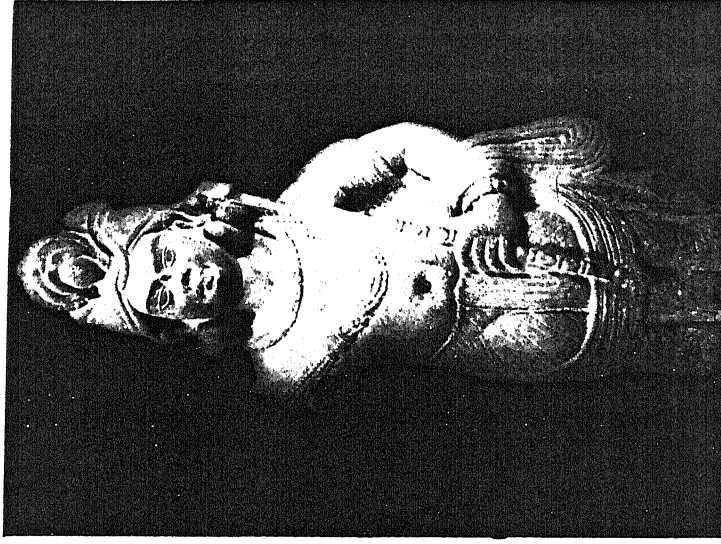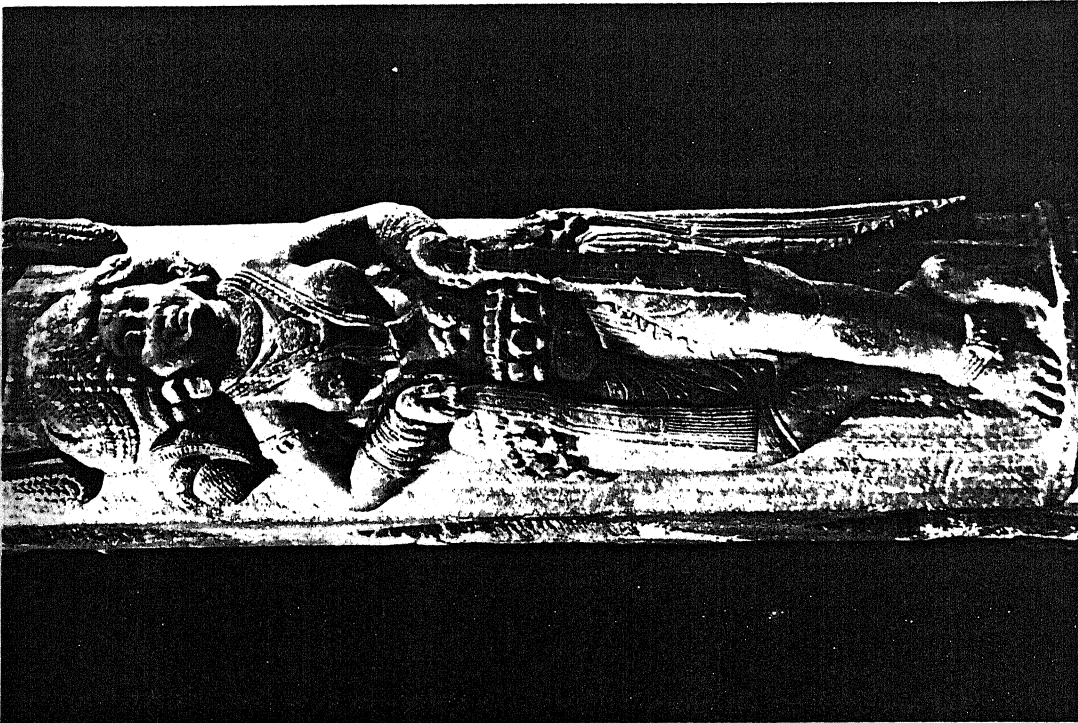
चित्र सं- 21

चित्र सं- 22

लगा। उभरी हुई आकृतियाँ जैसे पहचानी हुई लगती है।[1]

शुंग युग :- (चित्र सं- 22)

कला की आकृति, उसकी शैली बदल जाती है। उसकी प्रकृत यथार्थता का स्थान प्रतीकता ले लेती है।[2] आकृतियों का अपना मान, अपना आदर्श निरूपित होता है और यह कला जिस आधार से उठती है उसका इतिहास रक्तरंजित है। मौर्यो के पिछले राजा अपने पूर्वजों का पौरूष कायम न रख सके। उनकी क्लीवता और साम्प्रदायिक संकीर्णता ने वक्षु काठे में बसे ग्रीक यवनों को अभियान का अवसर दिया और फलस्वरूप जब शालिसूक सौराष्ट्र में बलपूर्वक प्रजा को जैन बना रहा था सिन्ध और मध्यमिका (चित्तौड़ के निकट नगरी) में देमित्रियस (खारवेल के हाथी गुम्फा लेख का दिमित) का "धर्ममीत" कहकर स्वागत किया गया। मगध जीतकर गृह शत्रु से निपटने वह स्वदेश की ओर लौटा। शत्रु प्रबल था, उसके राज्य वाख्त्री से न हिला, उलटे काबुल और पंजाब पर भी उसने अधिकार कर लिया। विवश होकर उसे सिन्ध और पूर्वी पंजाब पर ही सन्तोष करना पड़ा। इस प्रकार पूर्वी पंजाब से भूमध्य सागर के तट तक, पार्थवों का छोटा राज्य बीच में छोड़, सारी भूमि ग्रीक यवनों के अधिकार में थी और पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल को छोड़ प्रायः डेढ़ सौ वर्षो तक पश्चिमी भारत गंगा से काबुल तक ग्रीक यवनों के ही अधिकार में बना रहा। यही पुष्यमित्र शुंग जो पहले मौर्यराज वृहद्रथ का पुरोहित और सेनापति रह चुका था अपने राजा को मारकर मगध की गद्दी पर बैठा और इस प्रकार आगे का युग उसी के कुलनाम से शुंग युग कहलाया।[3]

शुंग कला इस देश की सिन्धु सभ्यता के बाद पहली राष्ट्रीय कला थी। प्रतीक स्थिर हो गये, रसात्मक सौन्दर्य के मान स्थिर कर लिये गये, अनायास नहीं सचेत रूप से। सौन्दर्य आवयवीय न रहा। अशोक कालीन कला की प्राकृतिकता छोड़ दी गई। यथार्थ के अनुकरण से कलावत विरत हुआ।

---

[1] वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 180

[2] राय कृष्णदास – भारतीय मूर्तिकला, पृ0 32

[3] वी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 325

उसकी मूर्तियाँ तनिक ठिगनी होने लगी और सामने से कुछ चपटी। कोर कर सर्वतोभद्रिका मूर्ति बनाने की अपेक्षा अधिकतर मूर्तियाँ उभार कर छद परम्परा में, कथा प्रसंग में, अर्ध चित्र शैली में रूपायत होने लगी। वैयक्तिकता सामाजिकता में बदल गयी। जातक आदि कथायें पत्थरों पर उभर आयी, व्यक्ति उन कथाओं के अंग बन गये। यक्ष यक्षणियों की उभरी अकेली मूर्तियों के नीचे उनके निजी नाम लिखे होने पर भी वे अकेली न थी, कथा परम्परा के अवयव थी। उभरी चपटी वृक्षिकायें, शाल भजिकाओं की अग्ररूपिणी सी वृक्ष के नीचे उसकी शाखा को छूती सी खड़ी हुई। वाहन उसका वामन पुरूष था – मकर अथवा गज। उनके पदों के बीच शुंगकालीन धोती का त्रिकोणात्मक कोण भूमि को छूने लगा। हाथ पैरों में कड़े भर गये, ग्रैवेयक और तारहारों से वक्ष ढक गया, केश मोती की लड़ियों से सज गये। पुरूषों की पगमध्य तिकोनी धोती के ऊपर उत्तरीय फबने लगा और उष्णीस (पगड़ी) की दोहरी ग्रन्थि ललाट के ऊपर बिंबाकार मण्डित हुई।[1]

मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रतीकों की जैसे बाढ़ आ गई। भरहुत और सांची के स्तूपों की वेष्टनी (रेलिंग) इसी शुंग काल में बनी। पुष्यमित्र आरम्भ में बौद्ध विरोध के कारण बौद्धों के प्रति असहिष्णु रहा था, परन्तु शासन प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात् उसने असाधारण असहिष्णुता की नीति बरती। अपनी नई रुचिरता, नयी गतिमानता, नयी आकृति, बुद्धि के साथ जो संपदा अशोक के बाद मूर्ति क्षेत्र में शुंगकाल में रूपायित हुई वह सदियों अप्रतिम रही। शुंगराज की पैत्रक विदिशा नगरी के ही गजदंतकार कलावंतो ने अशोक के भरहुत और सांची के स्तूपों के चतुर्दिक वेष्टनी और तोरण पर जो मानव भावसत्ता का स्रोत फूट पड़ा है वह सर्वथा अलौकिक है। उभरी आकृतियाँ सजीव हो उठी है। गज, अश्व, कपि, मृग जैसे मानव की भाषा बोलते हैं उसके भावसागर में डूबते उतराते है।[2] फुल्ले के भीतर प्रफुल्ल मानव मस्तक प्रसन्न अंकित है। सांची के तोरण पर, उसके द्वार स्तम्भों पर भी,

---

[1] भगवत शरण उपाध्याय – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 54

[2] सर जॉन मार्शल – ए गाइड टू सॉंची, पृ0 38

जीवन लहरा उठा है। स्तूप की सचेत गतिमान गजों द्वारा मानवीय पूजा, उनका आकृति आकुल दृश्य अपने वेग और अंकन की मानुष तीव्रता से दर्शक को जड़ बना देते हैं।

तब अभी बौद्धों में हीनयान सम्प्रदाय की महत्ता थी। बुद्ध की मूर्ति नहीं बनती थी। तथागत की उपस्थिति का बोध प्रतीकों से कराया जाता था– धर्म चक्र कोरों से प्रवर्तित करते। बोधि वृक्ष से, बुद्ध की पादुका से, छत्र से, स्तूप से और जातक कथाओं से भिन्न प्रतीक तब की बौद्ध कला में प्रायः यही है।[1] भरहुत की वेष्टनी पर एक अद्‌भुत सुन्दर कथा खुदी है। जेतवन खरीदने की सुन्दर कथा। बुद्ध को श्रावस्ती में जो उपवन सुन्दर लगा वह जेत था। तथागत ने उसके सौन्दर्य्र का बखान किया है। उपासक सेठ अनाथ पिंडद ने उसे खरीदकर संघ को दान कर देने की इच्छा प्रकट की। जेत से उसका मूल्य पूछा, जेत ने असम्भव मूल्य मांगा – उतने सुवर्ण जितने से भूमि ढक जाये। अनाथपिंडद जब उतना धन देने को तत्पर हो गया तो जेत मुकर गया। अभयोग विचारार्थ न्याय साभा में पहुँचा। जेत को अपना पहला मूल्य स्वीकार करना पड़ा। सेठ ने जेतवन की भूमि सोने से पाटकर मूल्य चुका दिया और जेतवन संघ को दान कर दिया। वही चित्र भरहुत की वेष्टनी पर अंकित है। बैलगाड़ियाँ सिक्कों से भर–भरकर आ रही है, सिक्के भूमि पर बिछाये जा रहे हैं। थके खुले बैल आराम कर रहे हैं। इस प्रकार जीवन और साहित्य की कथायें इन कलाकृतियों में उतर आयी है, अनेक प्रतीकों ने साहित्य में स्थान पाया है। जातकों की कथाओं का कला में असीम मूर्तन साहित्य और कला के इस घने सम्पर्क और आदान–प्रदान को व्यक्त करता है।[2]

शुंग काल की मृण्मय मूर्तियों की सम्पदा भी अपार है। कुछ अनोखी नारी मूर्तियाँ तो पाटलिपुत्र में मिली जो पटना के संग्रहालय में सुरक्षित है।[3] कौशाम्बी में तो इस काल की असंख्य

---

[1] वॉमल – बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया, सीलोन . एण्ड जावा, 1936, पृ0 119

[2] बी0एन0 बरूआ – भरहुत, पृ0 26–28

[3] एल0ई0 वार्गीटर – एन्शिएन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन , पृ0 143

मूर्तियाँ मिली है जिनकी वेश सज्जा अत्यन्त सुन्दर है, अकेली खड़ी नारी मूर्ति के ठीकरे तो अत्यन्त संख्या में उपलब्ध ही है, वहाँ के अनेक ठीकरे ऐसे भी प्राप्त हुए हैं जिन पर ऐतिहासिक चित्र उभरे हैं। ऐसा एक मिट्टी का अर्धचित्र उदयन का है। चांड प्रद्योत महनसेन की कैद से उसकी कन्या, अपनी प्रियसी वासवदत्ता के साथ वह उज्जयनी से गज से भाग रहा है। प्रद्योत की सेना उसका पीछा कर रही है। आगे उदयन से चिपकी वासवदत्ता बैठी है, पीछे बैठा उदयन का अनुचर, नकूली से स्वर्ण मुद्रायें बरसा रहा है जिन्हें पीछा करने वाले सैनिक उठाने लगे हैं और गज भागा जा रहा है। इस पुरानी कथा की ओर कालिदास ने अपने मेघदूत के "उरयनकथाकोविदग्रामवृद्धान"[1] मे संकेत किया है।

शंगुकला के केन्द्र श्रावस्ती, भीटा, कौशाम्बी, मथुरा, बोधगया, पाटलिपुत्र, भरहुत, सांची आदि थे। बोधगया में भी वेस्टनी अंकन उसी काल का है। मथुरा में अनेक शुंग कालीन उभरी मूर्तियां मिली है, अनेक जातक कथायें भी स्तम्भों परे उत्कीर्ण है। वहां की स्तम्भ यक्षी तो विशेष आकर्षक है, प्रायः तीन ओर से कोरी हुई आकृति वाली, नर्तन के लिये जैसे भूमि पर पग मारने को उद्यत। उसी प्रकार वहां की बलराम की पहली हल मूसलधारी मूर्ति लखनऊ के संग्रहालय में रखी है।[2]

कला और साहित्य इतने समकक्ष थे कि दोनों में समान प्रतीकों अंकन हुआ। यहां उदयन की कथा इतनी लोक प्रिय थी कि इसका संस्कृत साहित्य में बार-बार चित्रण हुआ। "भास" का नाटक "स्वप्नवासवदत्ता" तो केवल इसी प्रसंग को लेकर लिखा गया है।[3] एक और ठीकरा गाड़ी की आकृति का है जिसमें पिकनिक हो रही है। थालियों में फल आदि खाद्यान्न है और लोग बैठे हैं। कौशाम्बी में इस प्रकार के अनुक ठीकरे मिले हैं एक अन्य प्रकार की गाड़ियों में अधिकतर मेंढे जुते हैं। अत्यन्त सुन्दर मेंढ़ों और मकराकृतियों का वहाँ बाहुल्य है। ये और नारी अंकित ठीकरे सभी सांचे में

---

1 पूर्व मेघदूत, पृ0 30
2 वी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 332-33
3 भ0शरण उपाध्याय- भारतीय कला की भूमिका, पृ0 76

ढले हुए हैं खाली भूमि सर्वत्र खिले फूलों से भर दी गयी है। शुंग ठीकरों पर फूलों का बड़ा उपयोग हुआ है। नारी आकृतियाँ भी, जो ठीकरों पर उभरी हुई है, कमलवंड धारण किये हुए हैं। इन आकृतियों की प्रसन्न मुखमुद्रा तो देखते ही बनती है। उस काल के बच्चों को खिलौनों की कितनी संपदा प्राप्त थी और वह सम्पदा भी कितनी सुरूचि से प्रस्तुत थी। ये ठीकरें पीछे से सपाट हैं और इनके सिरे छिदे हुए हैं, जिससे लगता है कि दीवार पर चित्रों की भाँति नागरिक इन्हें टाँगते भी थे। मिट्टी कलांकन तो शुंगकाल में पत्थर से कही अधिक हुआ, शुंगकालीन स्थानों में मिट्टी हटाते ही ढेर कि ढ़ेर ठीकरे निकल पड़ते हैं। शक कुषाणयुगीन कला का वर्णन करने से पूर्व शुंगकाल की चंवरधारिणी की ओर संकेत कर देना अनुचित न होगा। पत्थर की सर्वतोभद्रिका कोरी नारी मूर्ति चंवर धारण किये प्रकृत ऊँचाई मे भंगिम मुद्रा में खड़ी है । उसे दीदारगंज की चंवरधारिणी कहते हैं और वह पटना के संग्रहालय में सुरक्षित है। उसकी पॉलिश देखकर लगता हैं कि मौर्यकालीन पॉलिश शुंगकाल में ही छिटकी फुटकी चली, पर साधारणतः उस काल के प्रायः प्रारम्भ में ही वह लुप्त हो गई।[1]

शक कुषाण युग :-

शक कुषाण काल ई0पू0 प्रथम शती में आरम्भ होकर प्रायः तीसरी शती तक चला। शक, अभीर (और अभीरों के पूर्वी पड़ोसी गुर्जर) ई0पू0 दूसरी शती में ही इस देश की ओर सरकने लगे थे और शक तो पहली सदी ई0पूर्व में सिन्ध में बस भी चुके थे। धीरे-धीरे उन्होंने ग्रीक यवनों और पहलवोंसे भारत छीन लिया। शीघ्र सिंध, तक्षशिला, मथुरा, मालवा, और महाराष्ट्र के पाँच केन्द्रों में उनके राज्य स्थापित हुए। कुषाण उनके शीघ्र ही बाद बाखत्री काबुल, कश्मीर, पंजाब और मध्य प्रदेश के पश्चिमी भाग के स्वामी बन गये। उनके राजा कनिष्क ने पाटलिपुत्र तक धावा किया था। उसका प्रथम शती ईसवीं का चलाया शक संवत् आज भी इस देश का मान्य संवत् है।[2]

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल - भारतीय कला, पृ0 183

[2] रेम्पसन - एन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 146

शुंगों के बाद कुषाणों के युग में भी कला की अपार सम्पदा प्रसूत हुई। पत्थर और मिट्टी दोनों का असाधारण मात्रा में उपयोग हुआ। तब की मृण मूर्तियाँ भी असीम संख्या में उपलब्ध है। विविध प्रकार के विषय तब के सांचे में ढले।[1] पंचवाण और किन्नर मिथुन ठीकरों पर उभरे। कुषाणकाल के तब अनेक विशिष्ट केन्द्र थे– मथुरा, सारनाथ और अमरावती। अमरावती आन्ध्रों के साम्राज्य में थी और यद्यपि उसकी कला आन्ध्र कहलानी चाहिए, कला के कुषाण लक्षणों के कारण साधारणतः वह भी कुषाण ही कहलाती है।[2] सारनाथ की कला मथुरा का ही विस्तार थी। उधर पश्चिम में तक्षशिला आदि भी मूर्तियों का आकार सिद्ध हुए। पेशावर तो कनिष्क की राजधानी ही था। इन सबमें प्रधान सम्भवतः मथुरा ही थी। पत्थर कोरने की कला तब तक असमान्य विकास पा चुकी थी। अर्ध चित्रों के उभार अब तक कुछ और उठ आये थे। धोती और पगड़ी बाँधने की शैली बदल गयी थी। धोती का तिकोना छोर पैरों के बीच लटकने के बजाय वह आज की मध्यदेशीय शैली में बांधा जाने लगा था। उष्णीय की सामने वाली दो ग्रन्थियों के स्थान पर एक ही पत्र कलंगी पगड़ी के बीच लहराती थी।[3] आकृतियाँ अपना चपटापन छोड़ कुछ गोलाकार हुई यद्यपि अभी वे गुप्तकाल की अंडाकार आकृतियों की पूर्ववर्ती थी।

मथुरा के अनेक टीलों से उस काल की कला की अनन्त सामग्री उपलब्ध हुई है पर जैन, बौद्ध स्तूपों की वेष्टनियों के ऊपर जो चित्र उभरे हुए है, उनका संभार निजी है। उन पर कलावंतो ने अनन्त कला निधि बिखेर दी है। जो प्रतीक सबसे अधिक इन वेदिकाओं पर उभारे गये हैं उनमें प्रधान शालभंजिकायें अथवा यक्षिणियाँ हैं। है तो वे भरहुत की यक्षियों की ही प्रसार, परन्तु उनकी भावभंगी सर्वथा अब बदल गयी है। भरहुत की मूकता से दूर प्रसन्न जीवन की हिलोर इनके मानस और अंगांग में उठ रही है।[4] उद्दीपन के सारे साधन लिये ये वेदिका स्तम्भों पर उतर आयी हैं। आप जैसे

---

[1] आर0ए0 जयराजभाय – ओरिएन्टल इन्फ्युएन्स इन वेस्टर्न आर्ट, पृ0 75

[2] ए0एल0 बाशम – द वन्डर दैट वाज इन इण्डिया, पृ0 46, 1954

[3] पर्सी ब्राउन – इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू)

[4] बी0एन0 बरूआ – भरहुत, पृ0 38

इनमें से अनेक की पहचान लेते हैं इतने सजीव सामाजिक चित्र है ये। उस काल का विलास जैसे इनमें छलका पड़ता है। साधारणतः ये नग्न है, वृक्ष के नीचे खड़ी है। काम के वाहन शुक को कन्धे पर बैठाकर दाना चुगाती उसकी चोंच की चोट से शिथिल नीवीबंध को सहलाती, शुक सारिका का पिंजर लिये, कन्दुक उछालती, वीणा बजाती, स्नान करती, पुष्प चयन करती ईरानी शैली के वस्त्र पहने, दीपवहन करती, दोहन सम्पन्न करती– उनकी इतनी भावभंगिमायें हैं कि गिनायी नहीं जा सकती।[1]

कला और साहित्य में तो अनेक प्रतीक समान विषय के रूपायित हुए। तरूणी का अपने नूपुरमडित चरण से छूकर रक्ताशोक की लाल कलियों से भर देना, आसव के कुल्ले से बकुल को मुफलित कर देना, पत्नी अथवा प्रेयसी का पति अथवा प्रणयी द्वारा केश प्रसाधन आदि, कलाकार और कवि दोनों के समान रूप से प्रिय अंकन अभिप्राय थे। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने इस दोहद का चित्र खींचा है। स्तम्भों पर उभरी यक्षी अथवा शालभंजिका मुद्रा का तो उस महाकवि ने इतना अभिराम अंकन किया है, इस माधुर्य से कुषाण कला को साहित्य में उतार लिया है कि उसे उद्धत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता–

"स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रांतवर्णक्रमवूसराणाम् ।

स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ।।

चित्र उजड़ी अयोध्या का है। धूल से जिनके वर्ण धूमिल हो गये हैं, उन स्तम्भयोषिताओं (स्तम्भों पर बनी शालभंजिका आदि मूर्तियों) के खनों के उत्तरीय अब सर्पो की छोड़ी केंचुलीयाँ ही बन गयी है।[2]

इसी प्रकार की एक समानान्तरता प्रसाधन सम्बन्धी है। मथुरा और अन्यत्र के कुषाणकालीन द्वार स्तम्भों पर खाने काट–काटकर प्रसाधन के अनेक चित्र बने हुए है। वामन के सिर पर फूलों, गजरों का थाल है। गजरे और फूल निकाल निकालकर पति अथवा प्रणयी प्रणयनी के केश

---

1 रायकृष्ण दास – भारतीय मूर्तिकला, पृ0 41

2 रघुवंश, 16, 17

सजा रहा है, उसकी वेणियां गूंथ रहा है, पत्र विशेषक उसके कपोलों पर अंकित कर रहा है। समकालीन कवि अश्वघोष ने उस छवि को अपने सौन्दरनन्द मे मुखरित कर दिया है। नन्द अपनी हाल की विवाहिता सुन्दरी के कपोलों पर लता की टहनियों और पत्रों की अभिराम रच रहा है। बुद्ध आते हैं, देहली में अपना भिक्षा पात्र बढ़ाते हैं, कोई ध्यान नहीं देता, सभी व्यस्त है। सभी चाकर, स्वामी–स्वामिनी के विलास के साधन अंगराग, फेनक, अनुलेप, सुवासित, जल, मदिरा आदि प्रस्तुत करने में लगे हैं। तथागत रिक्त पात्र लिये आगे बढ़ जाते हैं। नन्द सुन्दरी के ललित प्रसाधन में रत उधर देखता है तो स्थिति समझ लजा जाता है। सुन्दरी से बुद्ध को लौटा लाने की अनुमति मांगता है। सुन्दरी अनुमति देती है पर कहती है जाओ पर गाल का गीलापन सूखने से पहले लौट आओ, पर न कभी बुद्ध लौटे और न नन्द ही लौटा, प्रसाधन की पृष्ठभूमि मुरझा गयी।[1] कुषाणकालीन कलाकार तक्षण का धनी है कलागत कथा का धनी है।

जल बहाने वाली पनाली तक को[1] उसने कोमल चित्रों से भर दिया, उसे मकरसुख प्रदान किया, गुंजलक भरते मकरों से उसका वहिरंग उभार दिया (मकरमुख प्रणाली) पनाली का सम्बन्ध जल के आधार के कारण मकर से होना ही चाहिये। नाद तक कलाकार की छेनी से अछूते न बचे। उसने बहिरंग भी नाना आकृतियों से सुशोभित हुए। मकर–तोरणों के विशेष अभिप्राय अमित संख्या में कोरें गये। हार सम्पन्न हुए। नाग–नागी मूर्तियां भी दक्ष यक्षी मूर्तियों की ही भांति सौकड़ों सहस्त्रां की संख्या में मथुरा की धरा पर कोरी गयीं। अब केवल पत्थर की भूमि पर आकृति उभार कर ही कुषाण तक्षक संतुष्ट न हो सका। उसने कोर कर स्वतन्त्र मूर्तियों बनायी।[2] हीनयान के प्रतीकों का स्थान महायान के उदय ने अब स्वयं बुद्ध और बोधिसत्वों को दे दिया था। सहस्त्रों मूर्तियाँ, खड़ी–बैठी, बुद्ध और बोधिसत्वों की कोरी गयीं। किसने बुद्ध की पहली मूर्ति दी यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता परन्तु सम्भवतः पहली मूर्ति बुद्ध की, गांधार शैली में इसी काल में बनी ऐसा अनेक कला

अश्वघोष
1 लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित
2 रायकृष्ण दास – भारत की मूर्तिकला, पृ0 43

समीक्षकों का विश्वास है। जो भी हो बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं से बल के भारत का आंगन भर गया। जिन और बुद्ध की समाधिस्थ मूर्तियां पद्मासन में बैठी साहित्य का धन बनीं। कालिदास ने शिव की समाधि में उन्हें अमर कर दिया।[1] चारों ओर से कोर कर पृष्ठभूमि से मुक्त, छात्र के नीचे अथवा पीछे प्रभामण्डल के आधार से सटी बुद्ध, जिन की मूर्तियाँ सर्वत्र पूजी जाने लगीं। ऐसी कोरी मूर्तियां राजा भी अपनी बनवाने लगे। मथुरा के पास देवकुल गांव से कुषाण राजाओं की सिंहासनस्थ अनेक मूर्तियां मिली है, जिनसे लगता है कि वह स्थान उन राजाओं की अपनी गैलरी के रूप में प्रयुक्त हुआ था। स्वयं कनिष्क की मूर्ति मस्तकहीन है, पर है वह पुरूषाकार, ईरानी–शक–कुषाण वेशभूषा में लम्बा कुर्ता, लम्बा कसीदाकढ़ा चोगा, सलवार और घुटनों तक के ऊँचे मध्य एशियाई बूट, जूते, पहने यही लिबास उस बैठी प्रतिमा का भी है जो भारत की पहली सूर्यमूर्ति है। सिर पर उसके ईरानी पगड़ी भी है। एक हाथ में कटार दूसरे में कमल का फूल शेष सब कनिष्कवत् है। यदि कमल उसके कर में न होता तो उससे कुषाण राजा का भ्रम हो जाना स्वाभाविक था।[2] सूर्य की भारतीय मुद्रा की मूर्तियाँ बहुत पीछे की हैं सात–आठ सौ वर्ष पीछे की, खड़ी, धोती, उत्तरीय और किरीट मुकुट पहने। कुछ आश्चर्य नहीं जो शक कुषाणों ने ही इस देश में प्रतिमा के रूप में सूर्य की पूजा प्रचिलित की हो। कुषाण धर्म के विषय में बड़े सहिष्णु थे। कनिष्क के वंशज बौद्ध और ब्राह्मण धर्मावलम्बी दोनों हुए। स्वयं कनिष्क बौद्ध हो गया था पर सारे धर्मों का आदर करता था और उसके सिक्कों पर प्रायः समस्त धर्मों के देवताओं, ग्रीक से ईरानी और भारतीय बुद्ध शिव तक की आकृतियाँ उभरीं।[3]

गान्धार शैली :

गान्धार प्रदेश (पाकिस्तान का पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश, कबीलाई भूखंड से तक्षशिला तक) में ग्रीक (यवन) कलाकारों ने अपनी शैली से जिन भारतीय विषयों, अभिप्रायों प्रतीकों का कलात्मक

---

1 कुमार सम्भव, 3/45
2 एच0जी0 रॉलिन्सन– इण्डिया ए शॉर्ट कल्चरल हिस्ट्री पृ0– 71
3 विल डूयरेन्ट– अवर ऑरिएन्टल हैरीटैज, पृ0– 122

रूपायन किया उन्हें गान्धार शैली से अभिहित किया जाता है। इस शैली में ग्रीक तक्षक और कलावन्त का योग भारतीय विषयों में मिला है। इसी से इस कला को ग्रीक–बौद्ध, ग्रीक–रोमी, आदि अनेक संज्ञाएं दी गयीं हैं। पर इसका भौगोलिक गांधार–शैली नाम ही विशेष प्रचिलित हुआ। इस शैली की असंख्य मूर्तियां उस प्रदेश में उस काल में कोरी और उभारी गयीं जो अपनी यूरोपीय आकृति से तत्काल पहचानी जा सकती है।[1]

गांधार प्रदेश भारत का पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त था। इसमें पेशावर का जिला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर आदि शामिल थे। उसकी राजधानी पेशावर थी। इस शैली की मूर्तियाँ काबुल और खुत्तन तक मिली है। इस शैली का नाम कनिष्क से विशेषतः सम्बन्धित है। वैसे ग्रीकों का अधिकार गान्धार प्रदेश पर दूसरी सदी ई0पू0 में ही हो गया था और अपनी ग्रीक मूर्तियाँ वे तभी से कोरते भी रहे थे परन्तु जिस विशिष्ट शैली से (जिसमें ग्रीक कौशल का सम्बन्ध भारतीय तथ्यों से है) उसका उदय अधिकतर पीछे हुआ और उसकी चरम परणिति कनिष्ठ के शासन काल में हुई। इससे उसका काल प्रसार हम ईसवी सन् 50 और 200 के बीच रख सकते हैं। इसके प्रधान प्राप्य स्थल युसुफजई इलाके शहरे बहलोल, जमालगढ़ी, तख्तेबाही आदि है।[2]

इस शैली की सभी मूर्तियाँ केवल बौद्ध स्थलों से उपलब्ध हुई हैं। अभी तक ऐसी कोई मूर्ति इस शैली की नहीं मिली जिसमें जैन अथवा ब्राह्मण धर्म के प्रतीक निरूपित हों। हाँ बौद्ध प्रतीकों के साथ उनके सारे विषय भारतीय अवश्य हैं। उसमें बुद्ध मूर्तियों की प्रचुरता और प्रधानता है। इस बात में वह शैली भरहुत, सांची अथवा बोधगया की प्राचीन केन्द्रीय कृतियों से सर्वथा भिन्न हैं, समकालीन मथुरा और अमरावती की मूर्तियों के अनुकूल शाक्यमुनि गौतम, प्रव्रजित बुद्ध, इस शैली और कलाक्षेत्र के प्रधान नायक हैं। उन्हीं का जीवन, उन्हीं की आचरित घटनायें इसमें विशेषतः और क्रेन्द्रतः रूपायित

---

[1] बिल डूयरेन्ट– अवर ऑरिएन्टल हेरीरेज, पृ0 122

[2] स्मिथ, बी0ए0, हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट, पृ0 112, चित्र 62

हुई हैं। सामग्री पत्थर या पलस्तर है, चूना मिट्टी का 'स्ट्टको' भी बुद्ध की मूर्तियों की प्रधानता के अतिरिक्त इसी शैली को सम्भवतः बुद्ध की पहली मूर्ति कोरने का श्रेय है। इससे पहले की भारतीय परम्परा और शैली में, भारतीय तक्षक द्वारा कोई बुद्ध मूर्ति उपलब्ध नहीं। लाहौर संग्रहालय की खड़ी बोधिसत्व मूर्ति[1] अद्भुत सुन्दर है। शहरे बहलोल में मिली कुबेर और हरीति की संयुक्त मूर्ति[2] भी दर्शनीय है। सिक्री की खड़ हारिति दोनों कन्धों पर एक–एक बालक धारण किये मातृ गौरव की असमान्य प्रतिमा है।[3] इन्द्र शैल गुहा में समाधिस्थ बुद्ध शान्ति की प्रतिमा है[4] और प्रसिद्ध तपस्वी गौतम[5] की कायिक कृषता तप के फल को मूर्त करती है। बर्लिन संग्रहालय की ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्ति भी अपनी शान्त मुद्रा के लिये विशेष ख्यातिलब्ध हुई।[6] लाहौर के संग्रहालय की सिंहासनस्थ खड्गधारी कुबेर की ऊँची मूर्ति भी इस यवन भारतीय कला की अभिराम सन्धि प्रस्तुत करती है।[7] इनके अर्धचित्रों [रिलीफ] के उभार और प्रगति में भी असाधारण बल है एक पाटिका पर चार कतारों में राक्षसों और साधारण मानव सैनिकों की सेना का मार्च दिखाया गया है जो अत्यन्त प्रकृत लगता है।[8]

इस प्रकार की हजारों लाखों मूर्तियों और पद्धिकायें बुद्ध के जीवन से अलोकित प्रस्तुत हुई। मथुरा की शुद्ध भारतीय कुषाण शेली भी गंधार शैली से प्रभावित हुए बिना न रही। सिलेनस, आसवपायी कुबेर, आदि की अनेक मूर्तियां उस शैली, अथवा उससे प्रभावित शैली में बनी।[9] गुप्तकाल

---

1 स्मिथ, वी0ए0, हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट, पृष्ठ– 112, चित्र– 62
2 " " " " पृष्ठ– 115, चित्र– 64
3 " " " " पृष्ठ– 115, चित्र– 65
4 " " " " पृष्ठ– 109, चित्र– 65
5 " " " " पृष्ठ– 116, चित्र– 69
6 " " " " पृष्ठ– 187, प्लेट– 26
7 " " " " पृष्ठ– 113, प्लेट - 28
8 डा0 क्रैमरिश– इण्डियन स्कल्पचर, पृ0 78
9 स्मिथ, वी0ए0, हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट, पृ0 135, प्लेट– 1 3

तव, कम से कम सीमा पदेश इन मूर्तियों के निर्माण का युग बना रहा था। इनकी विशेषता है यूरोपीय आकृति, शुंग कुषाण काल की चिपटी गोली शैलीगत   तनिक कृतिम आकृति से भिन्न स्वाभाविक रूप काया। वेश साधारणतः ग्रीक–यवन, परिधान के वस्त्र चुन्नटदार गुप्तकालिक कला ने इसी पीठ से सम्भवतः आकृतियों की प्रकृत अंडाकारिता प्राप्त की। उसने परिधान की चुन्नटों को भी हल्का कर उन्हें अलंकारिक रूप दे दिया। गुप्तकाल के कलावंतों ने इस शैली का भारतीकरण कर उसे सब प्रकार से भारतीय बना लिया।[1]

<u>अमरावती</u> :–

अमरावती मद्रास के समीप है और कुषाण काल में आन्ध्र सातवाहन नृपतियों के अधिकार में थी। उसका स्तूप तो प्राचीन है, प्रायः दूसरी सदी ईसवी पूर्व का परन्तु उसकी वेदिका दूसरी तीसरी सदी ईसवी की है।[2] स्तूप का सारा शरीर संगमरमर की चित्रखचित पट्टिकाओं से ढक दिया गया है। रेलिंग भी संगमरमर की है, अन्य प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के केन्द्रों से इस विषय में भी अमरावती की मूर्तियाँ भिन्न है और आकृतियों की बंकिम भंगिमा, उससे भी बढ़कर यष्टिकायिकता में अमरावती की आकृतियाँ अपनी जोड़ नहीं रखती।[3] पतली दुबली लचीली शक्तिम पुरूष की काया वस्तुतः अभिराम सिरीष वृक्ष सी लगती है और नारी की काम्य काया उससे लिपटी लता सी शरीर पर लम्बी धोती, उत्तरीय और कुषाण कालीन पगड़ी बहुत फबती है। कुषाण मूर्तियों में आभूषणों की भरमार है। प्रायः शुंगकालीन भूषा की ही भाँति पर अमरावती के आभूषणों में संख्या की न्यूनता और सुरूचि की व्यापकता है, कांति आभूषणों से दबी नहीं उमग उठी है। (चित्र – 25)

---

[1] डी0वी0 हैवेल – इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंग्स, पृ0 89

[2] आर0के0 मुकर्जी– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 148

[3] वी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 334

चित्र सं. - 25

चित्र - २४
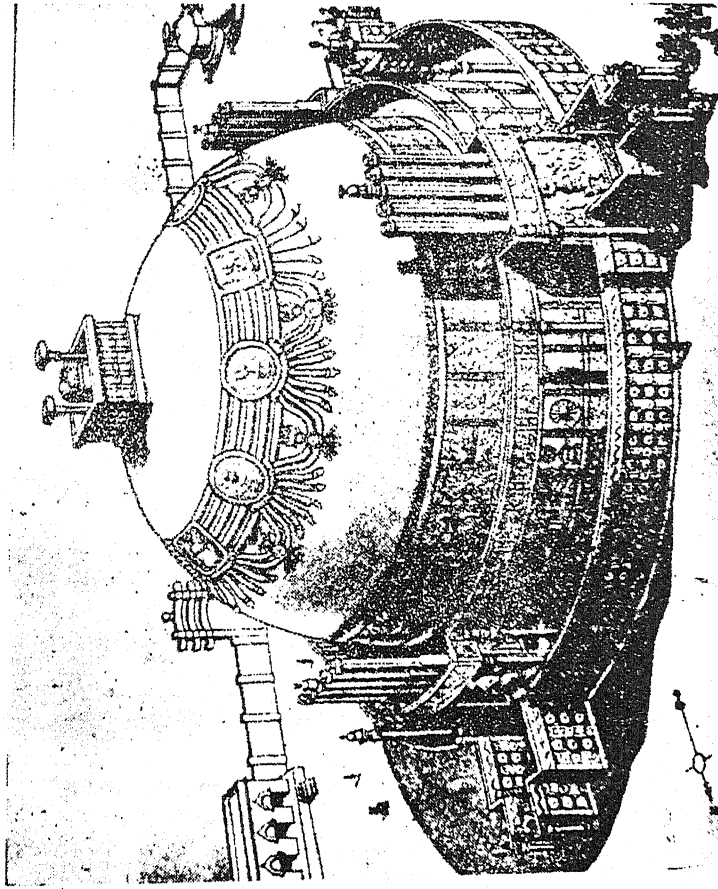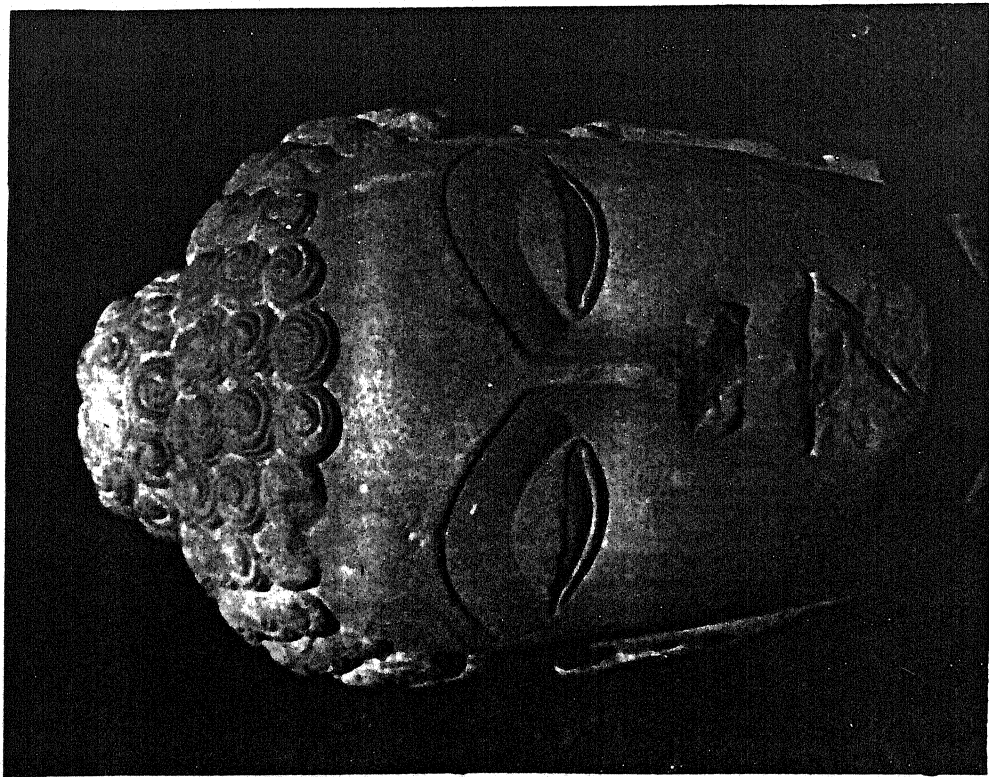
अमरावती वेदिका के वर्तुलों में बड़ी छवि अटी हुई है। विशेषकर दरबार और स्तूप पूजन के दृश्य तो बड़े ही आकर्षक है। उनके व्यक्तियों में अपनी वैयक्तिकता होते हुए भी उनकी सामूहिकता स्तुल्य है। बड़ी गति है इनके अंकन में। इसी प्रकार एक वर्तुल का विकसित कमलार्ध असाधारण सौन्दर्य प्रस्तुत करता है। रेलिंग की ऊपर की पट्टिका का एक दृश्य गजरावाहकों का है। गजरा बहुत मोटा है और वाहकों की शक्तिम् आकृति के बावजूद भार का प्रभाव प्रकाशित है। नीचे की रेखा पुष्पनाल और सिंह की आकृतियों से पुलकित है। एक बिचली पट्टिका पुर गंजलके भरते मकर और कुसमित कमल का अभिराम मूर्तन है। अमरावती की कला में पशुओं और पुष्पों का बड़ा अद्‌भुत चयन हुआ है। मानव की उनसे गहरी सहानुभूति प्रकटित है।[1]

गुप्त युग :-

गुप्त युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहलाता है, इसका यह नाम सार्थक ही है। उस काल में कला और साहित्य ने जिस चोटी का स्पर्श किया, वह किसी दूसरे युग में नहीं हो सका। सुरूचि और सूक्ष्मता उस काल के साहित्य और कला का प्राण बन गई। कालिदास ने तभी अपनी साहित्यिक से भारती विभूषित की। गुप्त काल का कलाकार भी अपनी परम्परा में मूर्धाभिषिक हुआ। भारतीय कला की उसके साहित्य की भाँति तभी चरम परिणिति हुई। भारतीय कला का वह एश्वर्य गुप्त सम्राटों की संरक्षा से फला।[2] (चित्र सं.-25)

गुप्त युग महान और यशस्वी सम्राटों का युग था। व्यापार और सुरक्षा से देश समृद्ध हुआ। पंजाब, मध्य प्रदेश, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र सब उन्हीं के हाथ में थे। मेहरौली स्तम्भ यदि चन्द्र गुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का है, तो उस राजा ने बंगाल के सीमा प्रान्त तक सारी भूमि रौंद डाली

---

[1] पर्सी ब्राउन – इण्डियन आर्कीटेक्चर, बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू, पृ0 125

[2] आर0सी0 मजूमदार – द क्लासिकल एज, पृ0 63

थी। इस बड़े भूखण्ड के एक शासन में होने से वहाँ समृद्धि का होना भी स्वाभाविक था, जब राजा योग्य और कला तथा साहित्य प्रेमी थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों की तो बड़ी प्रसिद्धि है।[1]

गुप्तकाल नई संस्कृति का युग था। एक तो उससे पहले ही एक प्रकार की राष्ट्रीय जाग्रति द्वारा भारशिव नागों ने कुषाणों की शक्ति नष्ट कर दी थी। दूसरे स्वयं गुप्तों ने देश को नई राजनीति, नयी राष्ट्रीयता प्रदान की। उनके पहले का भारत विदेशी आक्रान्ताओं का शिकार रहा, दोनों के बीच गुप्तों का एश्वर्य फला फूला और उनकी संरक्षित संस्कृति नयी वेशभूषा में सजी।[2] स्मृतियों में बतायी गई व्यवस्था नये सिरे से खड़ी हुई। पुराणों का धर्म और विश्वास जादू की भाँति देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया। पुराणों के देवता अपनी तैतीस कोटि संख्या लिये भारत की धरा पर उतरे और उसी परिणाम में भारतीय कलाकारों ने उन्हें मूर्ति किया। शिव और पार्वती, शेषशायी विष्णु और लक्ष्मी, मकरारूढ़ गंगा और कच्छपारूढ़ यमुना आदि अपने अपने परिवार के साथ निरूपित हुए और बुद्ध तथा उनका परिवार भी विशेष मर्यादा और परिष्कार से कला की मूर्धा पर विराजे। उस युग का प्रधान कला केन्द्र काशी के समीप का सासाथ बनी।[3]

उस काल की कृतियों में एक नई ताजगी आई। आकृतियाँ सर्वथा स्वाभाविक कर ली गई। न तो वे शुंगकाल सी चिपटी रहीं, न कुषाण काल सी गोल, बल्कि गान्धार शैली सी अंडाकार, प्रकृत हो गई। अब कलाकार उन्हें कला के प्रतिष्ठित सौन्दर्य भावों से नहीं, सीधे प्रवाहित जीवन से लेने लगा। बुद्ध जिनकी समाधिस्थ मूर्तियों के उलटे अँगूठे अपनी काष्ठरूपता छोड़ मांसल हुए। पुरूष और नारी ने नया केशकलाप धारण किया। कंधों तक पुरूषों के कुंतल लटकने लगे। बनायी नकली लटें भी प्रयुक्त होने लगीं। नारी ने कुषाण काल के केश प्रसाधन में प्रयुक्त सामने का वृत्त बनाना छोड़कर अलग

---

[1] रामशरण शर्मा – प्राचीन भारत की भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनायें, पृ0 263

[2] के0एम0 शेमबाचनेकर – द ग्लेमर अबाउट गुप्ताज, बम्बई, 1953

[3] सी0कार – क्लासिकल इण्डियन स्कल्पचर, पृ0 118

जाल धारण किया। सीमंत की रेखा खींच वह ''सीमन्तिनी'' बनी। उसके आभूषण सुरूचिपूर्वक चुने हुए अलासंख्यक होने लगे। वस्त्र सुथरे और परिष्कारजनित काया परसने लगे। बुद्ध के परिधान की चुन्नटें अलंकरण बन गई। जीवन के अंगांग में रसी कला कौतुक और निखार लिये विहंसी।[1]

कुषाणकालीन प्रभा मण्डल स्फुरूत्प्रभा मण्डल बना।[2] सादी भूमि अंधकार वेधते वाणों से भर गई कमलों, कुमदों के सौरभ से उमगी। शिव और पार्वती का प्रायः प्राचीनतम् रूप तब सजा। कौशांबी में मिले पांचवी सदी के बने प्रस्तरखण्ड में खड़ी शिव और पार्वती की मूर्तियाँ असाधारण संमोल की धनी है। ललितपुर में देवगढ़ का गुप्ताकलीन मन्दिर है। उसके खानों में जड़ी मूर्तियाँ प्रभूत शोभा से युक्त है। एक में योग मुद्रा में कोरी शिव की प्रतिमा दर्शक को चकित कर देती है, सृजन में अप्रतिम है। खोह की प्रसिद्ध शिवमूर्ति भी तभी है।[3] शिव परिवार के गण अपनी विविध चेष्टाओं में निरूपित प्रयाग संग्रहालय में प्रदर्शित है। शेषशायी विष्णु की उसी देवगढ़ वाली मूर्ति अद्‌भुत शांत पौरूष से युक्त है। हाथ पर टिका सिर बड़ा आकर्षक लगता है। नीचे परिचारक देवताओं की पंक्ति है। इनके मस्तक घुंघराले केशों से मंडित है। उदयगिरि गुफा की वाराहमूर्ति चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की बनवायी है जब शकों को जीतकर वह वहाँ गया। वाराह की आकृति का शक्तिम उभार और अनायास पृथ्वी की रक्षा चन्द्रगुप्त द्वारा शकों से भारत की रक्षा का प्रतीक है।[4]

बुद्ध की मूर्तियों में प्रधान सारनाथ की बैठी और मथुरा की खड़ी मूर्तियाँ है। सारनाथ वाली मूर्ति धर्मचक्र प्रवर्तन वाली मुद्रा मे बैठी है। उसकी शान्त और तुष्ट मुद्रा प्रसाद की छाया में जैसे खिल उठी है। भारत की सुन्दरतम् मूर्ति मथुरा के बुद्ध की है, जो सवासात फुट ऊँची अभयमुद्रा में

---

[1] भगवत शरण – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 125

[2] रघुवंश – 3,60,5,51,14,14, कुमार सम्भव – 124

[3] शैल प्रतिमायें, भोपाल, पृ0 133–34

[4] रायकृष्ण दास – भारत की मूर्तिकला, पृ0 53

खड़ी है। उसके हाथ खण्डित है पर प्रकट है कि दाहिना हाथ प्राण्यिों को अभयदान कराता उठा हुआ था। कितनी शान्ति इस मूर्ति के मुख पर विराज रही है। मनुष्य ने भाव बोध के विचार से इतनी सफल मूर्ति कभी नहीं कोरी।[1] मथुरा की यह खड़ी बुद्धमूर्ति ﴾ए.5﴿ सुरूचि परिष्कार, आवयवीय अनुपात, व्यंजना और सहानुभूति में अप्रतिम है, संसार के बुद्धों में बेजोड़।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ भी पत्थर की कला की ही भाँति सुन्दर है। राजघाट, गढ़वा, कोसम, मथुरा सर्वत्र मिट्‌टी की बनी ये मूर्तियाँ मिली है।[2] सिर पर इनके घुंघराले केशों का क्रतिम परिधान है जिसकी घुंघराली लटें कंधों पर लटकती है। भीतर गाँव के मन्दिर से मिली रामायण महाभारत की कथा व्यक्त करती अनेक डेढ़ फुट की सांचे में ढली मिट्‌टी की मूर्तियाँ अब लखनऊ म्यूजियम में संग्रहीत है। जीवन की अपूर्व छटा उनके ऐश्वर्य में छिटकती है। छोटी मूर्तियों की दीवारों पर रसिक नागरिक टांगते थे, इससे उनका पिछला भाग सपाट है और चोटी के गोल अथवा तिकोने चूड़े में डारी के लिये एक सुराख बना है।[3]

गुप्तकाल में पय्राप्त मात्रा में सुन्दर बुद्ध मूर्तियाँ ताँबे पीतल आदि धातु की भी ढाली गई। इस प्रकार की एक साढ़े सात फुट ऊँची अभयमुद्रा में खड़ी भागलपुर जिले के सुल्तानगंज में मिली थी जो अब बर्मिघम म्यूजियम में है। इस प्रकार गया जिले के कुर्किहार गाँव में बुद्ध की धातु की मूर्तियों की एक राशि ही मिल गई, जिसमें कुछ गुप्तकाल की भी थी।[4]

जिस युग ने कालिदास सा कवि और अजन्ता बाध–सिन्तन–वासल की सी चित्रकला उत्पन्न की उसकी मूर्तिकला कैसे अविकसित रह सकती थी? गुप्त कलाकारों ने बड़ी निष्ठा और लगन

---

[1] पर्सी ब्राउन – इण्डियन आर्किटेक्चर, बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू, पृ0 110

[2] आर0के0 मुखर्जी – प्राचीन भारत, पृ0 183

[3] वासुदेवशरण – गुप्ताकलीन कला, पृ0 86

[4] वी0ए0 स्मिथ – हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ0 268

से कला की ऊँचाइयाँ नापी। साधारण से साधारण कृतियों में उनकी सुरूचि और कुशलता व्यापी। गुप्तयुग की कला भारतीय सृजन की चूणामणि है।[1]

गुप्त साम्राज्य की शक्ति हूणों ने तोड़ दी। साम्राज्य के टूट जाने पर अनेक विदेशी जातियाँ इस देश में घुस आई। हूणों के अतिरिक्त आभीरों और गुर्जरों की भी नई धारायें प्रविष्ट हुई और यहाँ की सामाजिक व्यवस्था टूट गई। हूणों ने स्वयं यहाँ की हजारों मूर्तियाँ तोड़ डाली। इन जातियों के आगमन के बाद ही भारत में राजपूत राजकुलों का उदय हुआ, यही नये युग का आरम्भ काल है। प्राचीन और मध्य युग का यही सन्धिकाल है।[2]

भारतीय मूर्तिकला और लोकजीवन :-

भारतीय मूर्तिकला के उदार चित्रपट पर लोक के सर्वांगीण जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा है। बाणभट्ट के शब्दों में हम अपनी मूर्तिकला की इस विशेषता को त्रिलोकी संपुंजन कह सकते है। हमारी भारतीय मूर्तिकला समग्र जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है। लोक का सम्पूर्ण परिचय भारतीय मूर्तिकला को समझने की कुंजी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मूर्तिकला की सहायता से हम लोक के विश्वरूपी जीवन को समझने का साधन प्राप्त करते हैं। (चित्र सं-26)

लोक के महान नायक मूर्तिकला के प्रधान पुरूष होते हैं। तप और समाधि के द्वारा मनुष्य देवों से बराबरी की टक्कर लेते है। ऐसा जान पड़ता है कि देवत्व की प्राप्ति मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। कहा यह जाता है कि देवता मनुष्यों के समान संगीत नृत्य में रूचि रखते हैं, उनके जीवन की गतिविधि में संगीत और नृत्य से ग्रहण के लिये उतना ही स्थान है जितना मनुष्यों के जीवन में। लोक के आदर्श से दूर पड़े हुए देवकला के लिये मान्य नहीं।[3]

---

[1] आर0सी0 मजूमदार – द क्लासिकल एज, पृ0 120

[2] भ0श0 उपाध्याय – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 127

[3] प्राचीन भारतीय कलायें, एस0एम0ए0 अली कादरी, पृ0 144

चित्र सं- 26

देवों के जीवन में देवियों को बराबरी का भाग मिला है। नारी की कमनीय मूर्ति के बिना मूर्तिकला ही नहीं विश्व की समस्त विधान अविकसित रहता है। नारी का लावण्य मूर्तिकला का ललाम भाव है। वह रस बनकर मूर्तिकला में ओत–प्रोत हुआ है और अपने अस्तित्व से मूर्तिकला को दर्शनीय बनाता। स्त्री चित्रण के बिना भारतीय मूर्तिकला केवल दर्शन की अनुगामिनी बनकर रह जाती है। भारतीय मूर्तिकला में जितने देव है उतनी ही बहुसंख्यक देवियाँ है। देवताओं के साथ उनके अनेक पार्श्वचर वाहन आयुध पुरूष आदि परिग्रह को भी मूर्तिकला में स्थान प्राप्त है।[1] "यक्ष, नाग, किन्नर, सुपर्ण, गिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदि अनेक देवयोनियों की कल्पना मूर्तिकला की रूप समृद्धि के लिये आवश्यक थी। ज्ञान अथवा कर्म के क्षेत्र में जो चक्रवर्ती पद के धरातल तक ऊँचा उठ चुके है, उन महात्मा या राजाओं का अंकन मूर्तिकला का प्रमुख विषय है। महापुरूषों के जीवन का मूर्तिरूप भारतीय मूर्तिकला का अपना स्वरूप ही है। उसकी उस विशेषता की छाप संसार की अन्य कला शैलियों पर भी पड़ी है।"[2]

जिस प्रकार साहित्य धर्म और विज्ञान का लोक के व्यापक जीवन में प्रवेश आवश्यक है उसी प्रकार जीवन के संस्कार और समाज की स्थिति के लिये मूर्तिकला की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि मूर्तिकला कुछ सौन्दर्य प्रेमियों के विलास या कुतूहल तृप्ति का साधन मात्र है, तो लोक की बड़ी हानि समझी जानी चाहिए। वस्तुतः मूर्तिकला जीवन के सूक्ष्म और सुन्दर पट का वितान है, जिसके आश्रय में समग्र लोक अपनी उत्सवानुगामी और संस्कारक प्रवृत्तियों को तृप्त करता हुआ उच्चमन की शान्ति और समन्वय का अनुभव कर सकता है।[3] वस्तुतः मनुष्य अपने अन्तिम कल्याण के लिये यह चाहता है कि जितना स्थूल जड़ जगत उसके चारों ओर घिरा हुआ है उसे सुन्दर रूप में वह ढाल ले।

---

[1] राय कृष्णदास – भारत की मूर्तिकला, पृ0 67

[2] बाणभट्ट – उज्जयनी वर्णन

[3] रालिन्सन – इण्डियन आर्ट, पृ0 179

स्थूल के ऊपर जो मानस और आध्यात्म जगत है, उसको चरित्र और ज्ञान के द्वारा हम आकर्षक और सौन्दर्ययुक्त बनाते हैं। इस विविध सौन्दर्य के बीच में ही जीवन पूरी तरह से रहने योग्य बनता है। जिस समय जीवन के चरित्र और मनोभाव हमारे चारों ओर विकसित होकर अपनी लहरियों से वातावरण को भर देते हैं और उनकी तरंगें हमारे अन्तर्मन को आल्हादित और प्रेरित करती है, उस समय यह अतयन्त आवश्यक हो जाता है कि स्थूल पार्थिव वस्तुओं के जो अनगढ़ रूप हमें घेरे हुए हैं, वे फूट निकले। मूर्तिकला का प्रत्येक उदाहरण जगमगाते दीपक की तरह अपने चारों ओर प्रकाश की किरणें भेजता रहता है। वह वायु में निरन्तर सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न करके मनुष्य के मन को स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रेरित करता है। समाज जिस प्रकार की मानव संस्कृति को अपने चरित्र, बल, व्रतों की साधना से अपने लिये बनाता है, उसी के अनुरूप मूर्तिकला का निर्माण करना भी समाज स्थिति के लिये आवश्यक है।[1]

मूर्तिकला और जीवन का सम्बन्ध केवल कहने की बात नहीं है बल्कि मनुष्य कला के द्वारा अपने जीवन के ध्येय से साक्षात् देखने के लिये सच्चा और सशक्त प्रयत्न करता है। जब इस प्रकार का प्रयत्न पूरे समाज पर छा लेता है, तभी मानों संस्कृति के पूरे विकास का चक्र पूरा होता है। स्थूल जगत के विकसित मनोभाव और आदर्शो के अनुसार सुन्दर रूप में परिणत कर लेना मूर्तिकला है जिसका सम्बन्ध जीवन के हर एक ओर से है। मनुष्य का शरीर, उसके वस्त्र, केश विन्यास, उसका शयनासन घर पात्र तथा अन्य सब वस्तुयें, जिनका उसके दैनिक जीवन से सम्बन्ध है, मनुष्य के विकसित मन के संसार से प्रभावित होने की अपेक्षा रखती है। जब तक यह प्रभाव सच्चे रूप में प्रकट नहीं हो लेता, मनुष्य के मन का द्वन्द जीवन की समस्या की तरह बना रहता है और मन को सन्तुलन नहीं मिलता।[2] यदि वर्तमान लोकजीवन अपने विकास और स्वाभाविक मार्ग को प्राप्त करना चाहता है तो उसे अवश्य ही मूर्तिकला के प्रति अपने व्यवहार को शिथिल कौतुक का विषय न रखकर उसे जीवन

---

[1] कादरी – भारतीय कलायें, पृ0 148

[2] वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 48

के सत्य के रूप में बदलना पड़ेगा। यदि हम विज्ञान, साहित्य, धर्म और दर्शन के विकास को मानव मन की उन्नति के लिये आवश्यक समझते है और उसके लिये लोक में अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं, तो हमें मूर्तिकला के लिये भी – जो नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र, शिल्प आदि के द्वारा जीवन की कर्मात्मक प्रवृत्ति को प्रकाश में लाती है– अवश्य विचार पूर्वक प्रयत्न और आयोजन करना चाहिए। ज्यों ज्यों लोक में मूर्तिकला का क्षेत्र विकसित होगा मूर्तिकला के द्वारा रस गृहण करने का मानव चैतन्य हम में प्रबुद्ध होगा, त्यों त्यों हमारे मन में सूक्ष्य नियमों को गृहण करने की शक्ति प्राप्त होगी, जिनसे जीवन एक सामान्य घटना न रहकर सृजनात्मक शक्ति के नये वेग से संचालित होने लगता है।[1]

भारतीय मूर्तिकला की भावना और उसके रस की अभिज्ञता का प्रचार आवश्यक धर्म है। राष्ट्रीय उत्थान की दृष्टि से भी कला की उन्नति आवश्यक है। उत्थान और विक्रम के मानसिक परमाणु ही कलात्मक वस्तुओं का रूप गृहण करके हमारे समक्ष उपस्थित होते है। महामल्लपुरम् के जिस शिल्पी ने गंगावतरण के लिये तपश्चर्या करते हुए भागीरथी की मूर्ति उत्कीर्ण की उसने युग की अनेक प्रेरणाओं को उस अवतरण के द्वारा प्रकट किया है।[2]

लोक की रक्षात्मक प्रवृत्ति को ज्ञान के द्वारा पुनः विकसित करना और मूर्तिकला के प्रति उदार एवं उदयात्मक भावना को जाग्रत करना वर्तमान काल की आवश्यकता है। कलाओं के बहुमुखी उत्थान से हम अपने विस्मृत आत्म चैतन्य को शीघ्र ही फिर प्राप्त कर सकते हैं। शिव के ताण्डव की शक्ति को अपने ही अगों में हम पुनर्जीवित देख सकते हैं। बज्र के द्वारा दानवों का दलन करने वाली बज्रिन द्वन्द्व की त्रिलोकरक्षी महिमा को अपने रंगमंच पर प्रत्यक्ष करके कितना आत्म कल्याणा

---

[1] रालिन्सन– इण्डियन आर्ट, पृ0 180

[2] रायकृष्ण दास– भारतीय मूर्तिकला, पृ0 79

किया जा सकता है। प्राचीन बीण गाथायों के स्वरों को अपने संगीतमय कण्ठ से फिर से भरकर हम अतीत के साथ तन्मय हो सकते हैं। अपने कुशल मूर्तिकारों की मूर्तियों को फिर से साक्षात देखकर हमारे समाज में अनन्दित जीवन के लिये नये अध्यायों को प्रारम्भ हो सकता है।

लोक में मूर्तिकला के पुनरूत्थान के लिये यह भी आवश्यक है कि हम सहानुभूति की दृष्टि से लोक का सूक्ष्भावलोकन करें। जो कला के भाव जहां बचे हैं उनको पहचाने और उनकी रक्ष करें। इस दृष्टि से एक साधरण वस्तु भी जो लोक की खान में बच गई है हमारे लिये अमूल्य निधि बन सकती है। इस प्रकार मूर्तिकाल की लोक व्यापिनी सामग्री से भाँति के नमूनों और शब्दों का संग्रह किया जा सकता है। जब तक मूर्तिकला की यह नींव पक्की नहीं बनाई जाती तब तक केवल नवीन निर्माण कृतकार्य नहीं हो सकता। सर्वत्र नवनिर्माण प्राचीन विधि को साथ लेकर ही सफल हो सकता है। मूर्तिकला के हर एक क्षेत्र में नवीन का प्राचीन से सम्बन्ध स्थापित करने की संस्कृति के प्रवाह की, जो दुर्घर्ष धारा इस देश में किसी समय थी उसके साथ हमारा जीवन फिर से संयुक्त होकर भविष्य के पथ पर प्रगतिशीत हो सकता है। प्राचीन और नवीन का यह समन्वय ही समाज के लिये श्रेयस्कर है।

भारतीय मूर्तिकला की विशेषतायें :

भारतीय मूर्तिकला को अच्छे ढ़ंग से समझने के लिये उसकी आत्मा व लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। भारतीय मूर्तिकार के लिये यह एक पवित्र साधना है तथा उसकी रस अवस्था का अलौकिक आनन्द भी है। भारतीय मूर्तिकार उसमें ईश्वरीय रूप के दर्शन करता है। इसीलिये तो वह उसके लिये मनोरंजन का एक साधन बनकर उसकी पवित्र आत्मा तक में समा गया है।

भारतीय मूर्तिकार के दृष्टिकोण के अनुसार भारती मूर्तिकला रस अवस्था के प्रकाशन होने के कारण काल्पनिक हैं इसी कारण वह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक रूप से प्रभावित होता हुआ दिखाई

भी नहीं देता है। भारतीय मूर्तिकला अधिकतर भाव लोक की काल्पनिकता के सहारे चलती हुई दिखाई पड़ती है।[1]

यह कल्पनाप्रिय है और उसके शरीरशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त विदेशों के मूर्तिकला के सिद्धान्तों से भिन्न है। पश्चिमी मूर्तिकार अपनी मूर्ति के प्रत्येक अंग को उभारता है तथा वह वैयक्तिक रूप की मूर्ति रूप प्रदान करता हुआ दिखाई देता है। वह विषयगत वैयक्तिकता पर विशेषरूप से ध्यान देता है। परन्तु जब भारतीय मूर्तिकला का अध्ययन किया जाता है। तो ये सब बातें जिनके दर्शन हमें पश्चिमी मूर्तियों में होते हैं, भारतीय मूर्तियों में बिल्कुल भी नहीं दिखती।

भारतीय मूर्तिकला में तो विभिन्न दृष्टिकोंणों के अनुसार आकृतियों को सामान्य बनाया गया है। जैसे शरीर के गठन के लिये देव, असुर, बाल आदि भाग है और उनकी रचना अलग-अलग अनुपात के अनुसार होती है। भंगिमाओं के अनुसार अभग, समभंग, त्रिभंग, अतिभंग आदि विभागों को पूर्ण रूप से सही अनुपात से मूर्तिरूप प्रदान किया है।[2]

भारतीय मूर्तिकला की प्रकृतियों में अलंकारिकता के भी दर्शन होते है। सत्य के साथ-साथ उसमें सुन्दरम् का भी भाग रहता है। ये दोनों एक दूसरे से मिलकर अलंकारिकता उत्पन्न करते हैं। यह बात अनुभव में आई है कि वस्तु का ज्यों की त्यों मूर्तिरूप सुन्दर दिखाई नहीं देता है, इसीलिये मुख्य भाग के साथ-साथ उसमें गोण भाग केवल सुन्दरता उत्पन्न करने के लिये प्रयोग होता है। ये दोनों भाग मिलकर मूर्ति को सुन्दर बना देते हैं। भारतीय मूर्तिकार अपने मूर्तियों में अलंकारिकता को दिखाने का सफल प्रयत्न करता है। भारतीय मूर्तिकला में उपमाओं का प्रयोग इसका वह सुन्दर उदाहरण

---

[1] डी0बी0 स्पूनर- ए हैण्डबुक टू द स्कल्पचर, पृ0 42-44

[2] कादरी- प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 147

है। जो सबकी आँखों को अच्छा लगता है। भारतीय मूर्तिकल्प में शरीर शास्त्र की रचना सिद्धान्तों के आधार पर होती है। और शरीर के भिन्न-भिन्न भागों के लिये विभिन्न उपमानों का प्रयोग होता है।[1] इनमें अलंकारिकता का समावेश करके उनको सुन्दर बनाने का प्रयत्न भारतीय मूर्तिकार अच्छे ढंग से करता है। इसी कारण उसकी मूर्तियों में अच्छी अलंकारिकता के दर्शन होते हैं।[2]

हमारे देश का मूर्तिकार अपनी मूर्तियों में बाहरी यथार्थ की ओर कम और अन्दर यथार्थ की ओर अधिक ध्यान देता हुआ दिखाई पड़ता है। इसी कारण दर्शकों को भारतीय मूर्तिकला के सुन्दर तथा उत्तम नमूने देखने को मिलते हैं। शास्त्रों में रस निष्पत्ति की जो बात कही जाती है उसका अन्त:प्रकृति से सम्बन्धित चेष्टाओं व हाव भावों से सीधा सम्बन्ध है। हमारे देश की मूर्तियों में शारीरिक अंग भंगमाओं व मुद्राओं का अंकन तथा तदनुकूल रसों का सृजन पूर्ण रूप से दिखाई देता है।

विदेशी मूर्तिकार बहुधा एक मूर्ति को एक निश्चित दृष्टिकोण से गढ़ता है। परन्तु भारतीय मूर्तिकार अपनी मूर्ति को काल्पनिक दृष्टिकोण से ही गढ़ता है।[3]

भारतीय मूर्तियों की बसबसे उत्तम व सुन्दर उनकी रेखायें हैं जो दर्शकों को बहुत ही सुन्दर दिखाई देती हैं और बस लोगों को अच्छी लगती हैं। आधुनिक युग में भी भारतीय मूर्तिकला की सबसे बड़ी विशेषता उसका रेखांकन स्वीकार किया गया है। भारतीय मूर्तिकला की रेखायें गतिशील व सशक्त हैं, जिनमें अच्छे भावों के दर्शन होते हैं। भारतीय मूर्तियों की रेखायें सर्वशक्तिमान होती हुई दिखाई देती है। इसी कारण तो भारतीय मूर्तिकार अपनी रेखओं के सहारे प्रत्येक मुद्रा को सरलतापूर्वक

---

1 जैसे- आँख के लिये कमल की पंखुड़ी।
कमर सिंह के समान। इत्यादि।

2 रा0स0 शुक्ल- भारत की महान कला (लेख प्रतियोगिता दर्पण में प्रकाशित)

3 प्राचीन भारत का इतिहास- महाजन, पृ0 408

गढ़ने में सफल दिखाई देता है। रेखायें ही उसकी मूर्तियों में सर्वत्र एक सूक्ष्मता के रूप में दिखाई देती हैं तथा वो उसको आत्म सोन्दर्य भी प्रदान करती है।[1]

भारतीय मूर्तिकारों ने अपनी मूर्तियों में छाया प्रकाश के सिद्धान्तों का भी प्रयोग किया है। स्थानीय गोलाई के सहारे छाया प्रकाश के प्रकट करने में भारतीय मूर्तिकार बड़ा ही सफल दिखाई देता है। क्योंकि उसके दृष्टिकोंण में प्रकाश विश्रृंखल टुकड़े कभी भी मूर्तिकला का उचित मापदण्ड नहीं का जा सकता है, इसी कारण तो अनिवार्य रूप से आत्मा प्रकाश की अपेक्षा रहती है।

भारत के हिन्दू नागरिक मूर्तिपूजक हैं। वे अपने देवताओं की मूर्तियां गढ़कर उन्हें पूजते रहे हैं इसी कारण भारतीय मूर्तिकला का धर्म से अभिन्न सम्बन्ध है। इसी कारण से भी हम भारतीय मूर्तियों में सुन्दर भावों के दर्शन करते है। भारतीय मूर्तिकला के विकास के पीछे धार्मिक प्रेरणाओं का प्रमुख भाव है। बौद्ध धर्म की मूर्तियों ने संसार के अन्य भागों की सभ्यता पर अधिक प्रभाव डाला है। "भारतीय मूर्तिकला प्राचीन काल से आधुनिक काल तक धार्मिक रंग में रंगी हुई दिखाई देती है।"[2]

भारतीय मूर्तिकला के अंग :-

"इस सृजन मूर्तिकला की आत्मा है पर आत्मा सौन्दर्य से ही काम नहीं चलता उसके अन्य भागों के विषय में भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है, जो मूर्तिकला के नियम निर्माण के सिद्धान्तों का अभ्यास करने की शिक्षा देती है। इन्हीं का पालन करने से सुन्दर मूर्तिकला का विकास होता है। इसी कारण भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों पर ही विशेष रूप से ध्यान देना पड़ता है क्योंकि इन दोनों में गहरा सम्बन्ध है। एक मूर्तिकार कितना ही भावुक क्यों न हो यदि उसकी रचनाओं में लावण्य

---

[1] क्रेमरिश – इण्डियन स्कल्पचर, पृ0 38

[2] प्राचीन भारतीय कलायें, असगर अली कादरी (149)

नहीं है, तो उसका मूर्ति रचना का तरीका दोषित है जिसके कारण उसकी मूर्तियों में यदि अभीष्ट सौन्दर्य नहीं आ सका व प्रभावोत्पादकता तथा आकर्षण के सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं हुआ तो उसकी मूर्तियों का कोई विशेष मूल्य नहीं होगा। इस कारण भारतीय मूर्तिकला के तत्वों का पूर्ण रूप से ज्ञान करना आवश्यक है।

प्राचीन काल में व चित्रकला के 6 अंगों का भी उल्लेख मिलता है।[1] ये अंग रूप, भेद प्रमाण, लावण्य योजना, सादृश्य तथा वर्णिका अंग है। बौद्ध मूर्तियों में इन 6 अंगों का वर्णन पूर्णरूप से मिलता है।

सब तरह की आकृतियों तथा उनकी विशेषताओं की पहिचान। भारतीय मूर्तियों में इस सिद्धान्त की छाप दिखाई देती है, भारतीय मूर्तियाँ सामान्य होती है क्योंकि व्यक्ति की सामान्य विशेषताओं को लेकर ही इनको गढ़ा जाता है और उनको उनकी विशेषताओं के आधार पर विभिन्न वर्गो में विभाजित किया जाता है। शिल्प शास्त्र में एक साधारण व्यक्ति आसन लगाये बैठता है, उसको तथा उसके आसपास की आकृतियों को मूर्तिरूप में परिवर्तन करने के लिये अलग नियम है, जिनका पालन आकृति के अनुसार किया जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार हमारी भारतीय मूर्तिकला की विशेष रूप से उन्नति हुई और भारतीय मूर्तिकला ने बौद्धकाल में अधिक उन्नति की। आसन लगाये महात्मा बुद्ध जी, योगी की मूर्तियाँ, आभूषणों से लदी हुई नारियाँ तथा देवियाँ अनोखे ढंग से गढ़ी गई है जिनको देखकर हृदय को प्रसन्नता होती है। हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियाँ सुन्दर व सजीव है, जिन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से गढ़ा गया है।

मूर्तिकला मनुष्य के भाव जगत की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है। अच्छी मूर्तियों को गढ़ने के लिये उनको सिद्धान्तों के आधार पर गढ़ा जाता है। भारतीय शास्त्रों में पाँच प्रकार की प्रतिमाओं का

---

[1] वात्स्यायन द्वारा लिखित कामसूत्र में यह उल्लेख है। इससे पूर्व की पुस्तकों में ऐसे कम उल्लेख है।

उल्लेख है, जोकि निश्चित अनुपात में है –

(अ) नर मनुष्य : दस ताल सिर की लम्बाई 1 इकाई स्वीकारी गई है। यह एक ताल कहलाती है।

(ब) क्रूर भयानक : बारह ताल ।

(स) असुर : राक्षसी सोलह ताल ।

(द) बाल : पाँच ताल ।

(य) कुमार : उमा, वामन आदि ।

इनके अतिरिक्त एक और माप मापदण्ड है, जो उत्तम नवताल कहलाता है। प्रतिमा के नौ भाग किये जाते हैं। प्रथम भाग माथे के बीच से ठोड़ी तक, द्वितीय भाग हड्डी से छाती तक, तृतीय भाग छाती से नाभि तक, चौथा भाग नाभि से कूल्हे तक, पाँचवां व छठा भाग कूल्हे से घुटने तक, सातवाँ व आठवां भाग घुटने से टखने तक तथा नवें भाग में गला, घुटने की टोपी, पैर तथा माथे से चाँद का भाग गिना जाता है। शरीर की चौड़ाई की दृष्टि से सिर एक भाग, गर्दन लगभग डेढ़ भाग, एक कन्धे से दूसरे कन्धे तक की चौड़ाई तीन भाग, घुटने डेढ़ भाग, पैर डेढ़ भाग, हाथ साढ़े चार, जिसमें कंधे से कोहनी दो भाग, कुहनी से कलाई डेढ़ भाग, हथेली एक भाग, सम्पूर्ण मुख के तीन बराबर भागों में से एक बीच माथे से आँख की पुतली तक द्वितीय आँख की पुतली से नाक की नोंक तक, तृतीय भाग नाक की नोंक से ठोड़ी तक होता है। नारी की आकृतियाँ मनुष्य की प्राकृतियों से चौथाई भाग छोटी होती है। इससे उनकी शरीर रचना में कुछ अन्तर दिखाई देता है।[1]

शरीर पर पड़े हुए मानसिक भावों के चिन्ह एक मूर्तिकार के लिये बड़े महत्व के हैं, जो भाग के अनुसार शरीर के प्रत्येक अंग में उत्पन्न हो जाते हैं। भारतीय मूर्तिकला में इन चिन्हों को सामान्य बनाने के लिये प्राकृतिक उपमाओं का व्यवहार हुआ है। भारतीय मूर्तियों के चेहरे दो प्रकार के

---

[1] एच0 गोट्ज – आर्ट ऑफ इण्डिया, पृ0 138

दिखाई देते हैं प्रथम मुर्गी के अण्डे के आकार का जिसके प्रयोग सात्विक भाव लाने के लिये होता है। दूसरा पान की पत्ती के आकार वाला – इस तरह के चेहरे नैपाल व बंगाल में पाई जाने वाली मूर्तियों में अधिक संख्या में देखने को मिलते हैं। इसका प्रयोग चंचलता लाने के लिए किया जाता है।

आँख की रचना विभिन्न भागों को दिखाने के लिये विभिन्न प्रकार से की जाती है। सफरी मछली की आँखें चंचलता और अस्थिरता के लिये, खंजन पक्षी की आँखें प्रसन्नता के लिये, हरिण की आँखें सरलता और निरपराधिता के लिये तथा कमल की आँखें सात्विक शान्ति व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होती है। धनुषाकार भौंहों का प्रयोग नारियों के लिये तथा नीम की पत्ती के आकार वाली भौहों का प्रयोग मनुष्य के लिये किया जाता है।[1]

भाव विशेष में अंगों की निश्चित क्रियायें होती है। इसके अनुसार आकृतियाँ समभंग, त्रिभंग और अतिभंग होती है। समभंग मूर्ति सीधी खड़ी बिना किसी ओर झुके हुए दिखाई जाती है। अभंग में थोड़ा भंग होता है, कूल्हे वाला भाग उल्टी अथवा सीधी और सिर दाई या बाई ओर झुका होता है। त्रिभंग में तीन भंग होते हैं। नीचे का भाग कूल्हे से पैरों तक, सीधी ओर या बाई ओर गले से कूल्हे तक– बायें या दांयी ओर, सिर दाये या बायें को, अति भंग त्रिभंग का ही अतिरंजित रूप है। इसमें त्रिभंग के स्थानों को अधिक बांयी ओर या दांयी ओर कभी–कभी आगे पीछे हटा दिया जाता है।

यह तत्व मूर्तिकला के अप्रत्यक्ष अर्थ से सम्बन्ध रखता है। लावण्य योजना के लिये किन निश्चित सिद्धान्तों का पालन किया जाये यह कहना कुछ कठिन है। फिर भी भारतीय मूर्तिकला में इस तत्व को ढूंढ़ कर उन अप्रत्यक्ष मानो की परीक्षा की जा सकती है। शरीर का प्रत्येक भाग भारतीय मूर्तिकला में अच्छे ढंग से दर्शाया गया है।[2]

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की मूर्तिकला, पृ0 79

[2] कादरी – भारतीय कला, पृ0 53–54

सादृश्य से अर्थ आकृतियों की अनुरूपता से है। भारतीय मूर्तिकला में सादृश्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय मूर्तिकला की विशेषताओं को अच्छे ढंग से समझने के लिये इसके इतिहास को पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य और मूर्तिकला :-

यह संसार जिसके हम निवासी है न जाने कब से है? इसकी प्रत्येक वस्तु मनुष्य के लिये निर्मित है। मनुष्य अपनी योग्यतानुसार इन्हें काम में लाता है। आज तो हम अपने चारों ओर अनेक चीजें देखते हैं। एक समय ऐसा भी था जब ये सब नहीं था।

मनुष्य की कहानी, मनुष्य से पहले शुरू होती है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पहले संसार की वस्तुयें बनी या मनुष्य उत्पन्न हुआ परन्तु यह बात सभी इतिहास के विद्वानों ने स्वीकार कर ली है कि पृथ्वी पहले एक आग का गोला थी। लाखों करोड़ों वर्ष पश्चात् दुनिया बदली और बराबर बदलती रही। मानव जन्म के काफी समय पश्चात् उसकी बुद्धि ने विकसित होना आरम्भ किया। बुद्धि बढ़ने के साथ-साथ अनुभव के क्षेत्र भी बदल गये और उसे सुन्दर वस्तुएं, चित्र और मूर्तियाँ जो उसको देखने को मिली अच्छी लगने लगी और उसने भी उनकी नकल करना चाही और अब उसका ध्यान सुन्दर मूर्तियों और सुन्दर चित्रों की ओर अधिक हुआ। उसके मनोगत चित्रों से चित्रशाला भरने लगी और उसकी अन्तरात्मा अपनी अनुभूति को किसी गतिपूर्ण साधन द्वारा प्रकट करने को अधीर हो उठी।[1]

धीरे-धीरे चित्रों ने भाषा को जन्म दिया। प्रारम्भ में जब भाषा का जन्म नहीं हुआ था तब मनुष्य के पास भाव व्यक्त करने का चित्रकला ही एक साधन था। भावों का चित्रकला तथा

---

1 छवि भाग-1, भारत कला भवन बनारस

मूर्तिकला में ऊँचा स्थान है। जितने ही सुन्दर रूप में हमारा चित्र था मूर्ति हमारे भाव व्यक्त कर सकेगी उतनी ही सुन्दर कहलायेगी। भाषा के जन्म ने कला तथा मूर्तिकला को वह उन्नति दी जिसने भारतीय सभ्यता में चार चाँद लगा दिये। यह ठीक है कि कलाकृतियों में कलाकार की अनुभूति की सहानुभूति अभिव्यक्त रहती है। कवि, चित्रकार, मूर्तिकार ऐसे महान व्यक्ति है जो संसार के निवासियों में हलचल मचा सकते हैं। कभी हंसा सकते हैं तो कभी आठ–आठ आंसू रूला भी सकते हैं।

चित्र सं - 27

भारतीय चित्रकला :-

कला सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौन्दर्य व श्री का निवास रहता है।[1]

कहा जाता है कि आनन्द के अनुभव के लिये विश्वकर्ता ने सृष्टि की रचना की। यह स्वयं हमसे तृप्त है। कला तथा साहित्य भी रसानुभव का एक अत्यन्त प्रिय द्वार है। कला के अंग में पोषित समाज की सृष्टि सम्बन्धी श्री प्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।[2]

जहाँ नई रचना का भाव रहता है, वहाँ विषय का विक्रम विद्यमान रहता है। भूमापन की ही वैदिक संज्ञा विक्रमण है। कल्पना के लोक में नये-नये भावों की सृष्टि करना राष्ट्रीय चिन्तन का उत्थान पक्ष है। स्थापत्य, शिल्प, चित्र आदि अनेक रूप है- सधर्मा सभा में देवों की तरह प्रत्यक्ष दर्शन देने लगते हैं और उनके सानिध्य में चित्रकला का भवन जगमगाने लगता है। कला की लिपि का आविष्कार कलाविदों की उत्कृष्ट साधना का परिणाम होता है।

भारतीय कला में सौन्दर्य विधान के लिये अनेक अलंकरणों का उपयोग हुआ है। सजावट के बिना कला सभ्रान्त नहीं बनती। लताओं और वृक्ष वनस्पतियों ने कला के स्वरूप को अनेक प्रकार से संवारने में सहायता दी है।[3] चित्र सं. 27

किसी एक तल पर, जो सम हो- यह समता खमदार भी हो सकती है (जैसे कुम्भ आदि का बाहरी भाग और कटोरी, रकाबी आदि का भीतरी भाग एवं लदावदार पाटन आदि) पानी तेल

---

1 एम०ए०ए० कादरी - प्राचीन भारतीय कलायें, पृ० 62

2 रीता शर्मा - प्राचीन भारत, पृ० 209

3 वी०एस० अग्रवाल - भारतीय कलायें, पृ० 134

किवा किसी अन्य माध्यम से घोले अथवा सूखे एक व एकाधिक रंग की रेखा एवं रंगामेजी द्वारा किसी रमणीय आकृति के अंकन को और उसी प्रसंग में निम्नोन्वत तथा एकाधिक तल और पहलू दर्शाने को चित्रण कहते हैं और ऐसी प्रस्तुत वस्तु को चित्र। उक्त आधारभूत सतह मुख्यतः भित्ति पत्थर, काठ, पकाई या कच्ची मिट्‌टी के पात्र व फलक हाथी दाँत, चमड़ा, कपड़ा, तालपत्र व कागज होती है।[1]

प्राचीन भारत में विशेष रूप से दीवारों पर चित्रण होते हैं, अतः इस काल की आधारभूत सतह भित्ति होती थी।[2]

चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य में उस समय से है जब वह वनों में विचरण करने वाला प्राणि मात्र था। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिये उसने संस्कृति के जिन अंगों की शुरूआत की उनमें चित्रकला भी एक थी। नदी घाटी सभ्यता के अवशेषों में भी दीवार पर अंकित कई आकृतियाँ मिलती है। शायद यह सिलसिला उस समय से चला आ रहा है जब मानव धातुओं से अनभिज्ञ था और राजनैतिक इतिहास का भी प्रारम्भ नही हुआ था।[3]

चित्र मूलतः विषय, शैली तथा सामग्री की दृष्टि से अपने समय के मानव जीवन के प्रतीक होते हैं। ये अपने इर्दगिर्द के जगत की स्मृति को बनाये रखते हैं और इनके माध्यम से अमूर्त भावना को मूर्त रूप प्राप्त होता है। यदि देखा जाय तो ये मनोवृत्तियाँ समूची मानव उन्नति की मूल है।

भारतीय कला के उदार चित्रपट पर लोक के सर्वांगीण जीवन का प्रतिबिम्ब बड़ा है। हमारी भारतीय चित्रकला जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करती है। कला की ही सहायता से हम लोक विश्व रूपी जीवन को समझने का साधन प्राप्त करते हैं। पत्र और पुष्पों से तो भारतीय कला के अनेक अलंकरण और अभिप्रायों की सृष्टि हुई है। भारतीय चित्रकला की उपकरण की सामग्री नाना प्रकार के आभूषणों तथा नेपथ्य को भी अच्छा स्थान प्राप्त हुआ है, जिनको हमने अनेक प्रकार के छोटे बड़े

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की चित्रकला, पृ0 3

[2] एस0 क्रेमरिच – ए सर्वे **ऑफ पेन्टिंग्स, पृ**0 44

[3] रामशरण शर्मा– प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनायें, पृ0 169

रूपों में देखने का प्रयत्न किया।[1]

कला सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। प्रत्येक कलात्मक रचना में सौन्दर्य व श्री का निवास रहता है। कहा जाता हे कि आनन्द के अनुभव के लिये विश्वकर्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं हम संतृप्त है, कला तथा साहित्य भी रसानुभव का एक अत्यन्त प्रिय द्वार है। कला के अंग में पोषित समाज को सृष्टि सम्बन्धी श्रीप्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।

चित्रकला श्री व सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है। जिस सृष्टि में श्री नहीं वह रसहीन होती हे, जहाँ रस नहीं वहाँ प्राण भी नहीं रहता है जिस जगह रस प्राण और श्री तीनों एकत्र रहते हैं, वहाँ चित्रकला रहती है। कहा जाता है कि आनन्दानुभव के लिये विश्वकर्ता ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है।

रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः ।

एक अखण्ड रस सृष्टि में सर्वत्र ओत-प्रोत है। उस के रस अवस्था का अलौकिक आनन्द है। यूरोप के चित्रकारों तथा साधारण जनता के लिये वह एकदम लौकिक है। उसकी सौन्दर्य लिप्सा का एक उपकरण तथा मनोरंजन का अंग बनाई जाती है।[2]

भारतीय चित्रकला भारत के चित्रकार के लिये प्रकाशन होने के कारण काल्पनिक है। भारतीय चित्रों में अलंकारिता की छाप है। सत्य के साथ उसमें सुन्दरता भी हैं। भारतीय चित्रण में उपमाओं का प्रयोग एक उदाहरण है। इसमें आँखें कमल की पंखुड़ी के समान, कमर सिंह की भाँति बताई जाती है।

ऋग्वेद में चमड़े से बनें अग्नि के चित्र का उल्लेख आता है, अतः भारतीय चित्रकला

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल – भारतीय कलायें, पृ0 138

[2] वी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 530

का प्रथम प्रमाण इसी चित्र को मान लेना अनुचित न होगा। पाणिनि ने भी संघ राज्यों के अंग और लक्षणों की चर्चा की है। ये लक्षण या चिन्ह पशु, पक्षी, पुष्प, नदी व पर्वत आदि ही छोटे थे। इसी प्रकार जो पशुओं को चिन्हित करने के लिये लक्ष्ण बताये हैं वे भी बिना रेखांकन के सम्भव नहीं है। इसीलिए पाणिनि के समय में भी चित्रों का प्रचलन रहा होगा और चूंकि उनका काल ई0पू0 8वीं या 4–5वीं शती माना जाता है, तो इस समय तक चित्रों का पर्याप्त प्रचार हो चुका होगा। बुद्ध के समय तक तो चित्रकला इतनी प्रचलित हो चुकी थी कि उन्हें अपने अनुयायियों को इसमें प्रवत्त न होने के आज्ञा देनी पड़ी थी। तीसरी चौथी शती ई0पू0 के बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक और थेर–थरी गाथा में चित्रों के अनेकों उल्लेख है किन्तु उनके जो नमूने प्राप्त हुए है वे न के बराबर ही है। दूसरी शती ई0पू0 और इसके बाद के अनेकों चित्र प्राप्त होते हैं। चित्रों में अनेकों सिद्धान्त है चित्रों में विविधता है तथा देखने से लगता है कि इन चित्रों को बनाने का उद्देश्य क्या था।[1]

भारतीय कला में दर्शकों को जीते जागते चित्र मिलेंगे। दृश्य चित्रण काल्पनिक होता है। भारतीय चित्रकार दृश्य रचना एक विशेष दृष्टि बिन्दु से करके अनेक दृश्य बिन्दुओं में दृश्य को खूब घूम फिरकर देखकर करता है।[2]

भारतीय चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषतायें उसकी रेखायें है। इनमें भाव है तथा वे सर्वशक्तिमान होती है। इन्हीं के द्वारा प्रत्येक मुद्रा को अच्छे ढंग से अंकित किया गया है, जिनमें एक प्रकार की सूक्ष्मता बनी रहती है।[3]

भारतीय चित्रकला का रंगविधान सादा है। रंग लेप के समान चढ़ाये जाते हैं तथा उनमें छाया प्रकाश के नियमों का भी पालन होता है। स्थाई गोलाई भी उत्पन्न की जाती है। भारतीय

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की चित्रकला, पृ0 9

[2] एल0पी0 शर्मा – प्राचीन भारत, पृ0 232

[3] वी0ए0 स्मिथ– हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया, पृ0 128

चित्रकला का धर्म से अभिन्न सम्बन्ध है।

जिस प्रकार साहित्य, धर्म और विज्ञान का लोक के व्यापक जीवन में प्रवेश आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन के संसार और समाज की स्थिति के लिये चित्रकला की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि चित्रकला कुछ सौन्दर्य प्रेमियों के विलास या कुतूहल तृप्ति का साधन मात्र है, तो लोक की बड़ी हानि मानी जानी चाहिए। वस्तुतः चित्रकला जीवन के सूख्म और सुन्दर पट का वितान है जिसके आश्रम में समग्र लोक अपनी उत्सवानुगामी और संस्कारक प्रवृत्तियों को तृप्त करता हुआ उच्च मन की शान्ति और समन्वय का अनुभव कर सकता है।[1] वस्तुतः मनुष्य अपने अन्तिम कल्याण के लिये यह चाहता है कि जितना स्थूल जड़ जगत उसके चारों ओर घिरा हुआ है, उसे सुन्दर रूप में वह ढाल लें। स्थूल के ऊपर जो मानस और आध्यात्म जगत है उसको चरित्र और ज्ञान के द्वारा हम आकर्षक और सौन्दर्य युक्त बनाते हैं। इस द्विविध सौन्दर्य के बीच में ही जीवन पूरी तरह से रहने योग्य बनता है, जिस समय जीवन के चरित्र और मनोभाव हमारे चारों ओर विकसित होकर अपनी लहरियों से वातावरण को भर देते हैं और उनकी तरंगे हमारे अन्तर्जगत को आल्हादित और प्रेरित करती है, उस समय यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि स्थूल पार्थिव वस्तुओं के जो अनगढ़ रूप हमें घेरे हुए हैं वे भी चित्रकला के प्रभाव से द्रवित हो जायें और उनमें से रूप सौन्दर्य और श्री के सोते फूट निकलें। चित्रकला का प्रत्येक उदाहरण जगमगाते दीपक की तरह अपने चारों ओर प्रकाश की किरणों भेजता रहता है। वह वायु में निरन्तर सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न करके मनुष्य के मन को स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रेरित करता है। समाज जिस प्रकार की ज्ञान से संस्कृति को अपने चरित्र, बल, ब्रतों की साधना से अपने लिये बनाता है, उसी के अनुरूप चित्रकला का निर्माण करना भी समाज स्थिति के लिये आवश्यक है।

चित्रकला और जीवन का सम्बन्ध केवल कहने की बात नहीं है बल्कि मनुष्य कला

---

[1] एस0 क्रेमरिच– सर्वे ऑफ पेन्टिंग्स, पृ0 83

के द्वारा अपने जीवन के ध्येय का साक्षात् देखने के लिये सच्चा और सशक्त प्रयत्न करता है।[1] जब इस प्रकार का प्रयत्न पूरे समाज को छा लेता है तभी मानों संस्कृति के विकास का चक्र पूरा होता है। स्थूल जगत के विकसित मनोभाव और आदर्शों के अनुसार सुन्दर रूप में परिणित कर लेना ही चित्रकला है। जिसका सम्बन्ध जीवन के हर एक ओर से है। मनुष्य का शरीर उसके वस्त्र, केश विन्यास, उसका शयनासन घर, पात्र तथा अन्य सब वस्तुयें जिनका उसके दैनिक जीवन से सम्बन्ध है मनुष्य के विकसित मन के संस्कार से प्रभावित होने की अपेक्षा रखती है। जब तक यह प्रभाव सच्चे रूप में प्रकट नहीं हो लेता मनुष्य के मन का द्वन्द्व जीवन की समस्या की तरह बना रहता है और मन को सन्तुलन नहीं मिलता। यदि वर्तमान लोक जीवन अपने विकास और स्वाभाविक मार्ग को प्राप्त करना चाहता है तो उसे अवश्य ही चित्रकला के प्रति अपने व्यवहार को शिथिल कौतुक का विषय न रखकर उसे जीवन के सत्य के रूप में बदलना पड़ेगा। यदि हम विज्ञान, साहित्य धर्म और दर्शन के विकास को मानव मन की उन्नति के लिये आवश्यक समझते हैं और उसके लिये लोक में अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं तो हमें चित्रकला के लिये भी, जो नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र आदि के द्वारा जीवन की कर्मात्मक, प्रवृत्ति को प्रकाश में लाती है। ज्यो ज्यों लोक में चित्रकला का क्षेत्र विस्तृत होगा और चित्रकला के द्वारा रसगृहण करने का मानस चैतन्य हममे प्रबुद्ध होगा, त्यो–त्यों हमारे मन में उस सूक्ष्म नियमों को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होगी, जिनसे जीवन एक सामान्य घटना न रहकर सर्जनात्मक शक्ति के नये वेग से संचालित होने लगता है।[2]

भारतीय चित्रकला के अंग :–

इस सृजन चित्रकला की आत्मा है परन्तु आत्मा सौन्दर्य से ही कार्य पूर्ण नहीं होता

---

[1] पर्सी ब्राउन– इण्डियन पेन्टिग्स, 1930, पृ0 28

[2] राधाकुमुद मुखर्जी– प्राचीन भारत, पृ0 98

उसके अन्य भागों के विषय में जानकारी भी आवश्यक होती है।[1]

नियम निर्माण के सिद्धान्त का अभ्यास व पालन ही सुन्दर चित्रकला के विकास में सहायक है। इसी कारण भावपक्ष तथा कलापक्ष, दोनों पर ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता है क्योंकि इन दोनों में गहरा सम्बन्ध है। एक चित्रकार कितना ही भावुक क्यों न हो, यदि उसकी रचनाओं में लावण्य नहीं है तो उसका चित्र का अंकन विधि दोषित मानी जायेगी। जिस कारण से उसके चित्रों में अभीष्ट सौन्दर्य नहीं आ सका और यदि प्रभावोत्पादकता व आकर्षण के सिद्धान्तो का अनुसरण नहीं आ सकता तो ऐसे चित्रों का कोई मूल्य ही नहीं है।[2]

<u>चित्रों का अंग</u> :– चित्रकला के 6 अंग बताये गये हैं।[3]

(1) <u>रूप भेद</u> :–

आकृतियों में भिन्नता है। इसमें मानव आकृति के लक्षण तथा अभिजात भी सम्मिलित है। लक्षण से तात्पर्य हिन्दू सामुद्रिक की उन विशेषताओं से हैं, जिनके होने से मनुष्य राजा, महापुरूष योगी वा योद्धा इत्यादि होता था।

(2) <u>प्रमाण</u> :–

इसे चित्रकला की भाषा में अंग कद वा कद कैड़ा कहते हैं। इसके मायने अंगों में समविभक्त हो कद के अनुपात में अंग छोटे बड़े न हो। प्राचीन चित्रकारी में देवता तथा उच्च एवं निम्न वर्ग के मानवों को इन्ही प्रमाणों के आधार पर ही अलग–अलग रखा जाता था।

---

[1] कादरी– प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 168

[2] अग्रवाल– भारतीय कला पृ0 116

[3] वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर में टीका की है, चित्रकला की व्याख्या मे उसने जो श्लोक दिया है ये 6 अंग उसी के आधार पर बताये गये हैं।

(3) भाव :-

भारतीय चित्रकारी और यह सबसे बड़ी विशेषता है। भावचित्र में चित्रकार और चित्र के विषय की कल्पना के द्वारा एक तानता हो जाती है, इससे चित्र में जो बात उत्पन्न होती है वही भाव है अर्थात– "चित्रकार चित्रित किये जाने वाले विषय की सम्यक अनुभूति और उसके प्रति सम्यक स्हानुभूति के कारण उसकी ऐसी आकृति अंकित करने में समर्थ होता है जिसमें वाह्य सादृष्य ही नहीं अन्तस्तल का अर्थात् स्थूल शरीर का ही नहीं प्रत्युत सूक्ष्म शरीर का भी काल होता है।" भारतीय चित्रकला में भाव तो है परन्तु बनावटी पन नहीं है। चित्रकार के चित्रों को देखकर भी दर्शकों को आनन्द की अनुभूति होती है। चित्रकार अपनी कृति के द्वारा दर्शक के मन में जो भावोदय करता है वहीं साहित्य शास्त्र का "रस" है।

शरीर पर पड़े हुए जो मानसिक भावों के चिन्ह होते हैं वे एक चित्रकार के लिये बड़े महत्वपूर्ण होते हैं ये शरीर के प्रत्येक अंग में उत्पन्न हो जाते हैं। भारतीय चित्रकला में इन चिन्हों को सामान्य बनाने के लिये प्राकृतिक उपमाओं का व्यवहार हुआ है। भारतीय शैली के चित्रों के चेहरे दो प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। प्रथम मुर्गी के अण्डे के आकार का जिसका प्रयोग सात्विक भाव लोने के लिये होता है। दूसरा पान की पत्ती के आकार वाला, इस तरह के चेहरे नैपाल व बंगाल में अधिक संख्या में देखने को मिलते हैं इनका प्रयोग चंचलता लाने के लिये किया जाता है।

आँख की रचना विभिन्न भावों को दिखाने के लिये विभिन्न प्रकार से की जाती है।[1] भवें भी भावानुसार विभिन्न प्रकार की होती है। धनुषाकार भौहों का प्रयोग नारियों के लिये तथा नीम की पत्ती के आकर वाली भौहों का प्रयोग पुरूष के लिये किया जाता है।

---

[1] सफरी मछली की आँखें चञ्चलता और अस्थिरता के लिये, खञ्जन पक्षी की आँखें प्रसन्नता के लिये, हिरण की आँखे निरपराधिकता के लिये तथा कमल की आँखे सात्विक शान्ति व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होती है।

भाव विशेष में अंगों की निश्चित क्रियायें होती हैं। इसके अनुसार आकृतियाँ समभंग, अभंग, निभंग और अतिभंग होती है। सम भंग चित्र सीधा खड़े बिना किसी ओर झुके हुए दिखाया जाता है। अभंग में योग भंग होता है। कुल्हे वाला भाग उल्टी अथवा सीधी ओर तथा सिर दाईं या बाई ओर झुका होता है। त्रिभंग में तीन भाग हैं– नीचे का भाग कूल्हे से पैरों तक सीधी ओर या बाई ओर गले से कूल्हे तक, बायें या दाई ओर सिर दाये या बायें को। अतिभंग त्रिभंग का ही अतिरजित रूप है। इसमें त्रिभंग के स्थानों को अधिक बायी ओर या दायी ओर कभी–कभी आगे पीछे हटा दिया जाता है।[1]

(4) लावण्य योजना :–

भाव के साथ लावण्य योजना का होना परमावश्यक हे। भाव का सम्बन्ध तो आन्तरिक विकारों से है किन्तु लावण्य वाहृय सौन्दर्य का व्यंञ्जक है इसलिये चित्र में भाव के साथ लुनाई की सृष्टि भी होनी चाहिए अर्थात भवों के साथ उसमें शारीरिक सुन्दरता का भी होना चाहिये यही चित्र की लावण्य योजना होती है। लावण्य योजना के लिये चित्र में समुचित निवेश भी होना चाहिये चित्र में आकृतियां इस प्रकार ठीक ठिकानें बैठाई जाये कि उसमें प्रभाव एवं रमणीयता उत्पन्न हो। लावण्य योजना चित्रकला के अप्रत्यक्ष अर्थ से सम्बन्धि रखती हो, इसके लिए किन निश्चित सिद्धान्तों का पालन करना होता है यह कहना कठिन है फिर भी भारतीय चित्रकला में इस तत्व को ढूंढ कर उन अप्रत्यक्ष मानों की परीक्षा की जा सकती है। शरीर का प्रत्येक भाग भारतीय चित्रकला में अच्छे ढंग से दर्शाया गया है।

(5) सादृश्य :–

सादृश्य से अर्थ आकृतियों की अनुरूपता से है, जिसका कि भारतीय चित्रकला में बड़े ऊँचा स्थान है। चित्र चाहे काल्पनिक है या सत्य उसे ऐसा होना चाहिये कि देखने वाला चित्र

---

[1] भगवत शरण उपाध्याय, प्राचीन भारतीय कलायें पृ0 112

में अंकित छवि को तुरन्त पहचान लें।

(6) वर्णिका भंग :-

वर्णिका भंग का अर्थ है रंगों का हिसाब। चित्र बनते समय यह ध्यान रखा जाये कि बेमेल रंगो का प्रयोग न हो।

बौद्ध चित्रों की रचना में इन छहों अंगों के दर्शन होते हैं।

भारतीय चित्रों में सभी तरह की आकृतियों तथा उनकी विशेषताओं की पहिचान स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। भारतीय चित्रकला सामान्य होती है क्योंकि इसमें व्यक्ति की सामान्य विशेषताओं को लेकर ही अंकन होता है। उनको उनकी विशेषताओं के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। चित्रकला में इस नियम का बड़ा ही महत्व है। एक साधारण व्यक्ति आसन लगाये बैठा है उसे तथा उसके आस पास की आकृतियों को चित्रों के रूप में परिवर्तित करने के अलग-अलग नियम है। जिनका पालन आकृति के अनुसार किया जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार हमारी चित्रकला ने बौद्धकाल में उन्नति की। बौद्ध चित्र शैली के चित्र देखने योग्य हैं।[1]

चित्रकला मनुष्य के भाव जगत की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है अच्छे चित्रों को अंकित करने के लिये सर्वप्रथम उन्हें सिद्धान्तों के आधार पर बनाया जाता है। भारतीय शास्त्रों में पांच प्रतिमाओं का उल्लेख है और उनके निश्चित अनुपात हैं :-

(1) नर मनुष्य, दस ताल, सिर की लम्बाई ? स्वीकारी गई है, इस कारण इसे एक ताल कहा गया है।

(2) क्रूर भयानक, बारह ताल

---

[1] रायकृष्ण दास, भारत की चित्रकला, पृ0 12

(3) असुर : राक्षसी, सोलह ताल

(4) बाल, पाँच ताल

(5) कुमार– उमा वामन आदि।

इनके अतिरिक्त एक और मापदण्ड है जो उत्तम नवताल कहलाता है। प्रतिभा के नौ भाग किये जाते हैं। प्रथम भाग माथे से बीच ठोड़ी एक, द्वितीय भाग हड्डी से छाती तक तृतीय भाग छाती से नाभि तक, चौथा भाग नाभि से कूल्हे तक, पांचवा छटवा भाग कूल्हे से घुटने तक, सांतवा आठवां भाग घुटने से टखने तक तथा नवें भाग में गला, घुटने की टोपी पैर तथा माथे से चाँद का भाग गिना जाता है। शरीर की चौड़ाई की दृष्टि वसे सर एक भाग गर्दन लगभग आधा भाग, एक कन्धे से दूसरे कन्धे की चौड़ाई तीन भाग, घुटने आधा भाग, पैर सवा, हाथ साढ़े चार जिसमें कन्धे से कुहनी 2 भाग, कुहनी से कलाई आधा भाग, हथेली एक भाग, सम्पूर्ण मुख के तीन बराबर भागों से एक बीच माथे से ऑख की पुतली तक, दूसरा ऑख की पुतली से नाक की नोंक तक तृतीय भाग नाक की नोंक से ठोड़ी तक का होता है। नारियों की आकृतियाँ पुरूषाकृतियों से चौथाई भाग छोटी होती हैं। बच्चों की गर्दन कम लम्बी सिर अनुपात से कहीं बड़े होते है। इससे उनकी शरीर रचना में कुछ अन्तर दिखाई नहीं पड़ता है।[1]

<u>चित्रों के प्रकार</u> :–

विधान भेदानुसार प्राचीन कालीन भारत में कुल तीन प्रकार के चित्र बनते थे।

(1) भिन्ति चित्र : जो दीवारों पर बनते थे

(2) चित्रपट : जो कपड़ों पर बनते थे और शायद चमड़े पर भी बनते थे। इन चित्रों को वैसे तो लपेटकर ही रखा जाता था पर कभी–कभी दीवारों पर भी टांगा जाता था।

---

1 भ0श0 उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका, पृ0 149–50

(3) चित्रफलक : ये चित्र लकड़ी, कीमती पत्थरों और हार्थी दांत[1] पर बनाये जाते हैं।

इनमें से 11वीं 12वीं शताब्दी के पूर्व केवल भित्ति चित्र ही प्राप्त है। 11वी शती से चित्रित बालपत्र, पोथियाँ और पटरे मिलते हैं। चित्रपत्र तथा भित्ति चित्र की प्रथा अब केवल तिब्बत तथा नेपाल में ही जीवित है। चित्र फलक की परम्परा किसी ग्रन्थ के चित्रित पटरों के रूप में ही शेष है। भारत में भी वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में मूर्ति के पीछे चित्रपट टांगने की प्रथा है जिसे पिछवई कहते हैं।[2]

चित्र के इन प्रकारों के धूलि चित्र भी उस यम बनते थे जिनके अवशेष स्वरूप आजकल साँझी (मराठी–रंगोली) है। इसमें भाँति–भाँति रंगों के चूर्ण जमीन पर डालकर आकृतियां बनती हैं मुख्यतः अलंकारिक अंकित की जाती है।

मुगल काल में जिस प्रकार अनेक चित्रों को एक जिल्द में बांध देते थे अथवा आजकल अनेक फोटोग्राफों का एलबम बना लेते हैं, इस प्रकार का कोई चित्राधार भी प्राचीन काल में होता था।

प्राचीन काल में धार्मिक अभिव्यक्ति के साथ–साथ ऐतिहासिक दृश्यों का संरक्षण, जीवन की घटनाओं का संरक्षण, मृत व्यक्तियों की आकृतियों का सरंक्षण, रसों का उद्दीपन, प्रेम की

---

1 अफगानिस्तान में हाथी दाँत के कुछ उत्कीर्ण प्राचीन मूर्तिफलक मिले है जोकि भारत में ही बने थे। ये चित्र शुंगकाल से लेकर गुप्तकाल तक वहाँ गये थे। इनका आकार हथेली के बराबर है तथा इस पर दो स्त्री चित्र अंकित है। ये साफ तरीके से चित्रित नहीं है, इन पर सिर्फ बारीक रेखाओं से आकृति स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। सम्भव है आरम्भ में इन पर रंग भी रहा हो। इन चित्रों में अजन्ता के उत्कृष्ट स्त्री चित्रों का पूर्वाभास मिलता है। राहुल, सोवियत, भूमि, पृ0 750

2 भारत की चित्रकला, रायकृष्णदास, पृ0 15

अभिव्यक्ति, पति–पत्नी का चुनाव तथा विवाह संस्कार की सम्पन्नता एवं घरों का अलंकरण इत्यादि के लिये भी चित्रों का उपयोग होता था। इसके अतिरिकत संकेत चित्रों का भी अंकन होता था। पूजा इत्यादि धार्मिक चित्रों के अन्तर्गत ही आते हैं। उन चित्रों में मूर्तियाँ न बनाकर उपास्य देवता के प्रतीकों से उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती थी।[1]

गृहस्थों के घरों में उत्कट रसों के चित्रों का बनाना व रखना अमांगलिक कहा गया है। ऐसे चित्र केवल राजसभाओं व देव मन्दिरों में बनते थे अर्थात् ये स्थान उस समय के सार्वजनिक चित्रालय थे।[2]

भारतीय चित्रकला की विशेषतायें :–

भारतीय चित्रकला को समझने के लिए उसकी आत्मा व लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। भारतीय चित्रकला के लिये यह एक पवित्र साधना है तथा उसकी रस अवस्था का अलौकिक आनन्द भी है। भारतीय चित्रकार उसमें अलौकिक रूप के दर्शन करता है, इसी से वह उसके लिए मनोरंजन का एक साधन बनकर उसकी पवित्र आत्मा तक में समा गया है। भारतीय चित्रकार अपने चित्रों में – कल्पनाप्रियता, सामान्य रूपों के विकास, अलंकारिता, अन्तः प्रकृति के अंकन, काल्पनिक दृश्य योजना, रेखांकन, छाया प्रकाश तथा शार्मिकता आदि विशेषताओं को दिखाने का प्रयत्न करता है।[3]

भारतीय चित्रकला के दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय चित्रकला इस अवस्था के प्रकाशन होने के कारण काल्पनिक है, इसी कारण वह पूर्णरूपेण वैज्ञानिक रूप से प्रभावित होती नहीं दिखाई

---

[1] रोमिला थापर – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 68

[2] ओम प्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 157

[3] ई0बी0 हैवेल – इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेटिंग्स, पृ0 136

देती। भारतीय चित्रकला अधिकतर भाव लोक की काल्पनिकता के सहारे चलती हुई दिखाई देती है।[1]

भारतीय चित्रकला कल्पना प्रिय है और उसके शरीर शास्त्र सम्बनधी सिद्धान्त विदेशों की चित्रकला के सिद्धान्तों से भिन्न है। पश्चिमी चित्रकार अपने चित्रों के प्रत्येक अंग को उभारता है तथा वह वैयक्तिक रूप को चित्र का रूप प्रदान करता हुआ दिखाई देता है। वह विषयगत वैयक्तिक कला पर विशेष रूप से ध्यान देता है, परन्तु जब भारतीय चित्रकला का अध्ययन किया जाता है तो ये सब बातें जिनके दर्शन पश्चिमी चित्रों में होते हैं, भारतीय चित्रों में बिल्कुल नहीं दिखाई देते हैं।[2]

भारतीय चित्रकला में तो विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार आकृतियों को सामान्य बनाया गया है जैसे शरीर के गठन के लिये देव, असुर बाल आदि भाग है और उनकी रचना अलग–अलग अनुपातानुसार होती है। भाव भंगिमाओं के अनुसार अभंग, समभंग, त्रिभंग, अतिभंग आदि विभागों को पूर्णरूप से सही अनुपात से चित्ररूप प्रदान किया गया है। लोक की रसात्मक प्रवृत्ति को ज्ञान द्वारा पुनः विकसित करना और मूर्तिकला के प्रति उदार एवं उदयात्मक भावना को जाग्रत करना वर्तमान काल की आवश्यकता है। कलाओं के बहुमुखी उत्थान से हम अपने विस्मृत आत्म चैतन्य को शीघ्र ही फिर प्राप्त कर सकते हैं।[3]

लोक में चित्रकला के पुनरूत्थान के लिये यह भी आवश्यक है कि हम सहानुभूति की दृष्टि से लोक का सूक्ष्म अवलोकन करें, जो–जो कला के भाव जहाँ बचे हैं, उन्हें पहचाने और उनकी रक्षा करें। इस तरह से एक साधारण वस्तु भी जो लोक की खान में सुरक्षित बच गई है हमारे लिये अमूल्य निधि बन सकती है। इस प्रकार चित्रकला की लोक व्यापिनी सामग्री से भाँति–भाँति के नमूनों और शब्दों का संग्रह किया जा सकता है, जब तक चित्रकला की यह नींव पक्की नही बनाई जाती तब

---

[1] दामोदर धर्मानन्द – कोशाम्बी,– प्राचीन भारत की सभ्यता व संस्कृति, पृ0 221

[2] वासुदेव शरण – भारतीय कलायें, पृ0 132

[3] रायकृष्ण दास – भारत की चित्रकला, पृ0 13

तक केवल नवीन निर्माण कृतकार्य नहीं हो सकता। सर्वत्र नवनिर्माण प्राचीन निधि को साथ लेकर ही सम्पन्न हो सकता है। चित्रकला के हर एक क्षेत्र में नवीन का प्राचीन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की संस्कृति के प्रवाह की जो दुर्घष धार इस देश में किसी समय थी इसके साथ हमारा जीवन फिर से संयुक्त होकर भविष्य के पथ पर प्रगतिशील हो सकता है। प्राचीन और नवीन का यह समन्वय ही समाज के लिये श्रेयस्कर है।[1]

चित्रकला की आकृतियों में अलंकारिता के दर्शन होते हैं। सत्य के साथ–साथ उसमें सुन्दरम् का भी भाग रहता है, जो दोनों एक दूसरे से मिलकर अलंकारिता उत्पन्न करते हैं। यह बात अनुभव में आई है कि वस्तु का ज्यों का त्यों चित्र का रूप सुन्दर नहीं दिखाई देता है इसलिए मुख्य भाग के साथ–साथ उसके गौढा भाग का केवल सुन्दरता उत्पन्न करने के लिये प्रयोग होता है। मुख्य व गौण भाग दोनों मिलकर चित्र को सुन्दर बना देते हैं। भारतीय चित्रकला में उपमाओं का प्रयोग इसका वह सुन्दर उदाहरण है, जो सबकी आँखों को भला लगता है। भारतीय चित्रकला में शरीर शास्त्र की रचना सिद्धान्तों के आधार पर होती है और शरीर के भिन्न भागों के लिये विभिन्न उपमानों का प्रयोग होता है। इनमें अलंकारिता का समावेश करके उन्हें सुन्दर बनाने का प्रयत्न भारतीय चित्रकला में अच्छे ढंग से दिखाई देता है। इसी कारण उसके चित्रों में अच्छी अलंकारिता के दर्शन होते हैं।[2]

हमारे देश का चित्रकार अपने चित्रों में बाहरी यथार्थ की ओर कम और अन्दर यथार्थ की ओर अधिक ध्यान देता दिखाई पड़ता है इसी कारण दर्शकों को भारतीय चित्रकला के सुन्दर तथा उत्तम नमूने देखने को मिलते हैं। शास्त्रों में रस निष्पत्ति की जो बात कही जाती है उसका अन्तः प्रकृति से सम्बन्धित चेष्टाओं व दिल के भावों से सीधा सम्बन्ध है। हमारे देश की चित्रकला में

---

1 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 528

2

शारीरिक अंग भंगमायें व मुद्राओं का अंकन तथा तदनुकूल रसों का सृजन पूर्णरूप से दिखाई देता है।[1]

विदेशी चित्रकार बहुधा एक चित्र को एक निश्चित दृष्टिकोंण से गढ़ता है परन्तु भारतीय चित्रकार अपना चित्र काल्पनिक दृष्टिकोंण से बनाता है।

भारतीय चित्रकला की सबसे सुन्दर व उत्तम उनकी रेखायें हैं जो दर्शकों को बहुत लुभाती हैं। भारतीय चित्रकला की रेखायें गतिशील व सशक्त हैं, जिनमें अच्छे भावों के दर्शन होते हैं। भारतीय चित्रकला की रेखायें सर्व शक्तिमान होती हुई दिखाई देती है। इसी कारण तो भारतीय चित्रकला अपनी रेखाओं के सहारे प्रत्येक मुद्रा को सरलता पूर्वक गढ़ने में सफल दिखाई देती है तथा वे उसको आत्म सौन्दर्य भी प्रदान करते हैं।[2]

भारतीय चित्रकारों ने अपने चित्रों में छाया प्रकाश के सिद्धान्तों का भी प्रयोग किया है। स्थानीय गोलाई के सहारे छाया प्रकाश के प्रकट करने में भारतीय चित्रकार बड़ा ही सफल दिखाई पड़ता है क्योकि इसके दृष्टिकोंण में प्रकाश विश्रंखल टुकड़े कभी भी चित्रकला का उचित मापदण्ड नहीं कहा जा सकता है। इसी कारण तो अनिवार्य रूप से आत्मा प्रकाश की अपेक्षा रहती है।[3]

भारतीय चित्रकला का धर्म से गहरा सम्बन्ध है। इसी कारण भारतीय चित्रकला में सुन्दर भावों के दर्शन होते हैं। भारतीय चित्रकला के विकास के पीछे धार्मिक प्रेरणाओं का प्रमुख भाग है। बौद्ध धर्म के चित्रों ने संसार के अन्य भागों की सभ्यता पर अधिक प्रभाव डाला है। संक्षेप में भारतीय चित्रकला प्राचीन काल से ही धर्म के रंग में रंगी हुई है।[4]

---

[1] रामशरण शर्मा– प्राचीन भारत में भौतिक एवं सामाजिक संरचनायें, पृ0 139

[2] आर0सी0 मजूमदार– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 143

[3] आर0सी0 मजूमदार– द क्लासिकल एज, पृ0 74

[4] आर0के0 मुकर्जी– प्राचीन भारत, पृ0 207

चित्रकला :

शैलियाँ और प्रकार :-

भारत की चित्रकला उसकी अन्य कलाओं व सांस्कृतिक दाय की भाँति बहुत प्राचीन है। मिर्जापुर और मध्यप्रदेश में जो रेखा चित्र आदि बने हैं वे प्रस्तरयुगीन है। प्रायः उतने ही पुराने जितने पुराने स्पेन के अल्तामाइरा और दक्षिण फ्रांस की गुफाओं के चित्र हैं। निश्चय है ये उस बर्बर मानव की भाव चेतनाएं व्यक्ति करते हैं जिसने भय पूजा और उल्लास में ये चित्र बनाये। परन्तु पिछले काल में प्रायः तीसरी सदी ई0पू0 में यहाँ शास्त्रीय अधिकार से चित्र बनने लगे और बीच के युगों को छोड़कर निरन्तर बनते चले गये। ये बीच के युग भी चित्रविहीन नहीं रहे होगे केवल वे चित्र हमें इस काल में उपलब्ध नहीं है।[1]

चित्रों की संपदा मूर्ति संपदा की ही भांति प्रभूत है। अनेक प्रान्तों में स्थानीय शैलियाँ बनी जो इतने लम्बे चौड़े भूखंडों में होना अनिवार्य था। आज हमें अनेक शैलियों के नमूने प्राप्त हैं। इनमें अजन्ता शैली का प्रभाव एक समय सारे देश पर किसी न किसी मात्रा में रहा। उसका उदय हैदराबाद राज्य के सह्याद्रि की गुफाओं में हुआ। गुजरात शैली जैसा नाम से प्रकट है पश्चिमी भारत गुजरात सौराष्ट्र आदि की स्थानीय शैली थी उसे जैन शैली भी कहते हैं। मुगल शैली भी अजन्ता की भांति प्रायः देश व्यापिनी थी, कम से कम दिल्ली, आगरे की मुगल बादशाहों की राजकीय होने के कारण उसका प्रभाव देशव्यापी हुआ है। राजपूत शैली राजस्थान, बुन्देलखण्ड, पंजाब, हिमालय में जन्मी और फैली। स्थान विशेष के कारण उसकी अनेक उपशैलियां बन गई जिन्हें कलम कहते हैं। जैसे पहाड़ी, जम्मू, कांगड़ा, बशोली आदि। दकनी शैली अधिकतर राजस्थान और मुगल के संयोग से स्थानीयता लिये जन्मी। वर्तमान शैली की कला यूरोपीय प्रभाव से उत्पन्न विविध धाराओं से प्रसूत हुई हैं, अधिकतक प्रयोगावस्था में है।

---

[1] कादरी- प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 174

साधारणतः दो प्रकार के चित्र हैं – भित्ति चित्र और प्रतिकृति। कंदराओं और प्रासादों की दीवारों पर जो चित्र बनाये गये है उन्हें भित्ति चित्र कहते हैं दीवार पर चूना आदि का लेप लगाकर उनपर चित्र बनाते हैं। जोगीमारा, अजन्ता, बाघ, मध्य एशिया आदि में इसी प्रकार के भित्ति चित्र है। यूरोपीय भाषा में इन्हीं को "फ्रेस्को चित्रण" कहते हैं। प्रतिकृति चित्रण एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों की अनुकृति को कहते हैं। उसमें प्रकृत व्यक्ति बिम्ब का काम करता है। इस प्रकार के चित्रण को अंग्रेजी में पोट्रिट पेंटिंग कहते हैं। मुगल शैली के चित्र प्रधानतः इन्ही शैली में है।[1]

अजन्ता के चित्र विश्व की चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। कुल 30 गुफायें हैं उनमें से 5 चैत्य मन्दिर है और शेष सभी जनसभा तथा निवास के लिये बड़े हाल है। चैत्य हालों व कक्षों की व्यवस्था इस प्रकार है कि बौद्ध विहार के अस्तित्व का आभास होता है। अपनी शान के अतिरिक्त अजन्ता गुफाओं में अनेक विशेष आकृतियाँ है जिनके कारण विश्व के समस्त भागों के कला एवं सौन्दर्य प्रेमियों के लिये यह तीर्थ स्थल बन गई है। गुफाओं की दीवारों छतों एवं स्तम्भों पर बुद्ध एवं बोधिसत्वों की अनेक आकृतियां एवं चित्र पत्थर काट कर बनाये गये हैं। वहां उस युग के जीवन के चित्रों की अन्तहीन पंक्ति है जो बहुत पहले समाप्त हो चुका था।[2]

चैत्य हाल पत्थर के काम के आश्चर्य है। गुफाओं के बाहरी भाग पर अत्यधिक सजावट है। स्तम्भों और स्तूपों पर बहुत बड़ी मात्रा में खुदाई एवं सजावट है। गुफाओं के बाहर अलंकारों से सुशोभित छज्जों से युक्त घोड़ों की नाल के आकार की बड़ी खिड़कियां हैं। अजन्ता के खम्भों पर खाड़ेदार एवं चमकदार सुन्दर जाल की सजावट है। आधारों एवं शिखरों पर अनेक प्रकार की पौराणिक कथाओं से सम्बन्धित पशुओं एवं फूलों के डिजाइन बने हैं। अजन्ता में अधिकांश पत्थर का

---

1 पर्सी ब्राउन– इण्डियन पेन्टिंग्स, 1930, पृ0 24

2 के0डे0पी0 कोड्रिंग्टन– एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ0 307

कार्य ईसा की पांचवी शताब्दी से हुआ है। गुफाओं के पूर्ण आयोजन एवं महान निर्माण कार्य पर प्रत्येक को आश्चर्य होता है। मूर्ति निर्माण कार्य में उत्तम शिष्टता, पवित्रता या सौन्दर्य को आकर्षण को प्रकट किया गया है।[1]

किन्तु अजन्ता की गुफाओं का वास्तविक गौरव अधिकांश गुफाओं में रंगों की सजावट की पंक्ति से है। गुफाओं के अन्दर अन्धेरा है और चित्र बनाने का कार्य दीपक के धीमें प्रकाश में किया गया होगा। आरम्भ में प्रायः सभी गुफायें चित्रित थी लेकिन केवल गुफा क्रमांक 1, 2, 9, 10, 11, 16, 17 में थे चित्र पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। कुछ चित्र पूर्णतः सजावट के लिये हैं। सजावट के चित्रों में आलेखनों व पैसों की अपरिमित भिन्नता है। ये भूमितीय, चक्राकार, टेढ़ी लकरों और विषय रूपों के हैं। ये पैटर्न अधिकतर छतों पर या दृश्य उपस्थित करने वाले चौखटों के हाशियों पर बने हैं। पशुओं पक्षियों तथा पौधों के चित्र सजावट के पैटर्नो के विषय है। रेखीय एवं प्राकृतिक पैटर्नो में अजन्ता चित्रकला पैटर्नो के रूप में श्रेष्ठता की द्योतक हैं और उनकी मूर्ति में निश्चित एवं निर्दोष हाथ का कमाल दिखाई देता है। पशुओं, पक्षियों एवं पौधों को इस प्रकार चित्रित किया गया है कि उनसे निरीक्षण की सूक्ष्मता और पूर्ण निर्माण कौशल के दर्शन होते हैं। पशु एवं पक्षी अपने सम्भार करते हुए चमकीले शरीरों के रूप में कहीं और चित्रित किये गये पशुओं से स्वाभाविकता एवं सौन्दर्य में श्रेष्ठ हैं। चित्रों के सामान्य फैलाब में पशु एवं पक्षी प्रमुख हैं और दृश्यों में अंकित ड्रामें में वे स्वयं आवश्यक एक्टर हैं।[2] जहां कहीं भी उनके होने की कल्पना की जा सकती है और उनकी मुखावृत्तियाँ दृश्य में उनकी उचित

---

[1] वी०ए० स्मिथ– अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वृ0 149

[2] गुफा नं0 10 में नहाते हुए शक्ति परीक्षा में लगे हुए हाथियों को एक झुण्ड को दिखायें जाने वाला दृश्य है। एक बड़े जंगल के एक सिरे पर कमल सरोवर में बड़ी लापरवाही से खेल में मग्न बहुत से छोटे बड़े हाथियों के झुण्ड को सभी विचारणीय स्थितियों में अत्यधिक स्वतन्त्रता से चित्रित किया गया है। अनेक व्यक्तियों के समूहों को हाथियों के दांतों को महल में ले जाते हुए दिखाने वाले चित्र में भी रेखाओं से बनी आकृतियां शान से आगे बढ़ती प्रतीत होती हैं।

स्थिति को ठीक रूप से प्रकट करती है। रचना की चातुर्यपूर्ण हस्तकारी, आकृतियों का प्रन्ध और उनकी चाल की चपलता अनेक सन्ततियों में बढ़ते लम्बे अनुभव को व्यक्त करते है। निर्णय की परिपक्वता विद्यमान है। गुफा नं0 10 में सम जातक तथा गुफा नं0 9 मे दासों सहित राजा को दिखाने वाले चित्र हैं। इन गुफाओं के चित्र दूसरी और पहली सदी ई0पू0 के हैं।

इसके बाद अजन्ता में अनेक सदियों तक निर्माण कार्य नहीं हुआ। मगध में गुप्त वंश के उत्थान के पश्चात अजन्ता में कार्य का एक नया और प्रबल युग प्रारम्भ हुआ। वह कार्य 400 वर्ष तक जारी रहा। इसी काल में अजन्ता में भारतीय चित्र कला के सबसे अधिक मूल्यवान रत्न विश्व को उपलब्ध कराये गये। अजन्ता का गौरव ईसा की पांचवी सदी से पतनोन्मुख हुआ और एक दी में पूर्णतः गायब हो गया।[1]

अजन्ता गुफाओं के दो भेद है– एक स्तूप गुफा दूसरी बिहार गुफा। स्तूप गुफा में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी इसलिये वह अधिक लम्बी होती है और उसके अन्तिम छोर पर एक स्तूप जिसके चारों ओर प्रदक्षणा करने भर का स्थान है। वहां सं द्वार तक दोनों ओर खम्भों की पंक्ति रहती है। अजन्ता की 19 वीं गुफा वहां की सबसे बड़ी स्तूप गुफा है और उसका द्वार बड़ा ही भव्य और सुन्दर है। विहार गुफा भिक्षुओं के रहने और अध्ययन करने के लिये थी। ये दोनों प्रकार की गुफायें और इनमें का सारा मूर्ति शिल्प एक ही शैल में कटा हुआ था। कला और सफाई की दृष्टि से ये गुफायें अत्यन्त उत्कृष्ट हैं किन्तु गुफा नं0 1 का जो एक सौ बीस फुट तक भीतर काटी गई है कौशल तो एक अचम्भा है। प्रायः सभी गुफाओं में चित्र बने हुए थे जिनमें गुफा न0 1, 2, 16, 17 वीं गुफाओं के चित्रों के विशेष अंश बचे हैं। ये सभी गुफायें गुप्तकालीन हैं। शेष गुफाअें के चित्र

---

[1] ग्रिफिथ– अजन्ता फ्रेस्कोज, पृ0 63

चित्र - 28

अपेक्षाकृत अधिक खड़ित हो गये हैं।[1] (चित्र सं. 20)

अजन्ता का चित्रण विधान सूक्ष्म रूप में इस प्रकार का था कि दीवार या पाटन में जहां चित्रण करना होता था वहां का पत्थर खुरदुरा बना दिया जाता था। जिस पर गोबर, पत्थर के चूर व कभी कभी धान की भूसी मिले हुये गारे का लेवा चढ़ाया जाता था और इस पर जमीन बांधकर लाल रंग की रेखाओं से चित्र टीपे जाते थे जो रंग लगाकर तैयार किये जाते थे। अनुमान होता है कि मूर्तियों पर भी ऐसे ही पलस्तर करके रंगाई की हुई थी।[2]

इन चित्रों की रूपरेखा बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ–साथ वास्तविकता है एवं उमसें चीन तथा जापान और ईरानी चित्रकारी की वे सपाटेवाली कोंणदार रेखायें नहीं है जिनका उद्‌देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल, बड़ी आढय और चिन्ताकर्षक है– कहीं फीके व बदेम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है यथाचित हलका साया लगाकर चित्रों के अवयवों में गोलाई, अभार और गहराई दिखाई देती है। हाथ पांव ऑख और अंग भंग भाषा से अर्थात भाष बताने की भाषा से दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से आंख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

इसमें से ज्यादातर चित्रों का विषय धार्मिक ही है और इनमें भगवान बुद्ध की भावना[3] की मूर्त रूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं

---

[1] कहीं किसी का सुन्दर मुख, कहीं खडिंत हाथ पैर, कहीं घोड़े हाथी व उनके सवारों के अंग इत्यादि बच रहे हैं।

[2] राधाकुमुद मुकर्जी– प्राचीन भारत, पृ0 118

[3] इनमें विश्व करूणा अथ से इति तक पिराई हुई है।

से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। मनुष्यों के रूपों के भंद और उनका आभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है। अर्थात् भिक्षुक ब्राह्मण, वीर सैनिक पेवोपम सुन्दर राजपरिवार, विश्वसीनय, कंचुक और प्रतिहार निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय वधिक, प्रशान्त तपस्वी, साधुवेश धारी धूर्त, कुलांगना, वारवीनता, परिचारिका आदि के भिन्न–भिन्न मुख सामुद्रिक और संगकद की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। प्रेम, लज्जा, हर्ष, ह्रास, शोक, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय, आश्चर्य, चिन्ता, विरतित, निस्संगता, शान्ति आदि भाव भी इसी प्रकार वहीं खूबी से परसाये गये हैं।[1]

यदि कलावंत ने सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है तो विरूप और भयंकर का आलेखन भी उसी सहानुभूति के साथ किया है। अर्थात् उसके लिये मुख्य और कुरूप दोनों ही में समान सौन्दर्य है। इस काल में ओज और सोकुमार्य दोनों ही की, समान सफलता के साथ व्यंजना हुई है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि इसमें कहीं से भी अनावश्यक अलंकरण छू नहीं गया है, क्या चित्रस्थ पात्रों की वेशभूषा में और क्या खंडहर की पूर्ति के लिये जो तरहे बनी हैं उनमें अजन्ता में 30 गुफायें है। उनमें से 5 चैत्य मंदिर है और शेष जनसभा तथा निवास के लिये बड़े हाल हैं। चैत्य हालों एवं कक्षों की व्यवसा इस प्रकार है कि उससे बौद्ध विहार के अस्तित्व का आभास होता है। अपनी शान के अतिरिक्त अजन्ता गुफाओं में अनेक विशेष आकृतियां है जिनके कारण विश्व के समस्त भागों के कला एवं सौन्दर्य के प्रेमियों के लिये ये तीर्थ स्थल बन गई है। गुफाओं की दीवारों, छतों एवं स्तम्भों पर बुद्ध एवं बोधिसत्वों की अनेक आकृतियां एवं चित्र पत्थर काटकर बनाये गये हैं वहां उस युग के जीवन के चित्रों की अन्तहीन पंक्ति है जो बहुत पहले समाप्त हो चुका था।[2]

---

[1] पर्सी ब्राउन– इण्डियन आर्कीटेक्चर बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू।, पृ0 135

[2] जी0 यजदानी– अजन्ता (लन्दन 1930), पृ0 25

चैत्य हाल पत्थर के काम के आध्चर्य हैं। गुफाओं के बाहरी भाग पर अत्याधिक सजावट हैं। खंभों और स्तूपों पर बहुत बड़ी भाषा में खुदाई एवं सजावट है। गुफाओं के बाहर अलंकारों से सुशोभित छज्जों से युक्त घोड़ों की नाल के आकार की बड़ी खिड़कियां है। अजन्ता के खंभों पर खाड़ेदार एवं चमकदार सुन्दर जाल की सजावट है। आधारों एवं शिखरों पर अनेक प्रकार की पौराणिक कथाओं से संबंधित पशुओं एवं फूलों के डिजायन बने हैं। अजन्ता में अधिकांश पत्थर का कार्य ईसा की पांचवी शताब्दी में हुआ है। गुफाओं के पूर्ण आयोजन एवं महान निर्माण कार्य पर प्रत्येक को आश्चर्य होता है। मूर्ति निर्माण कार्य में अत्तम शिष्टता, पवित्रता या सौन्दर्य के आकर्षण को प्रकट किया गया है।[1]

किन्तु अजन्ता की गुफाओं का वास्तविक गौरव अधिकांश गुफाओं के रंगों की सजावट की पंक्ति से है। गुफाओं के अन्दर अंधेरा है और चित्र बनाने का कार्य दीपक के धीमे प्रकाश में किया गया होगा। आरम्भ में प्रायः सभी गुफायें चित्रित थी लेकिन केवल गुफा क्रमांक 1, 2, 9, 10, 11, 16 और 17 में ये चित्र पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है कुछ चित्र पूर्णतः सजावट के लिये हैं सजावट के चित्रों में आलेखनों एवं पैटर्नों की अपरिमित भिन्नता है। ये भूमितीय चक्राकार, टेढ़ी लकीरों और विषय रूपों के हैं। ये पैटर्न अधिकतर छतों पर या दृश्य उपस्थित करने वाले चौखटों के हाशियों पर बने हैं। पशुओं, पक्षियों तथा पौधों के चित्र सजावट के पैटर्नों के विषय है। रेखीय एवं प्राकृतिक पैटर्नों में अजन्ता चित्रकला पैटर्नो के रूप में श्रेष्ठता की द्योतक है और उनकी मूर्ति में निश्चित एवं निर्दोष हाथ का कमाल दिखाई देता है। पशुओं, पक्षियों एवं पौधों को इस प्रकार चित्रित किया गया है।[2] कि उनसे निरीक्षण की सूक्ष्मता एवं पूर्ण निर्माण कौशल के दर्शन होते हैं। पशु एवं पक्षी अपने सम्भार करते हुये चमकीले शरीरों के रूप में कहीं और चित्रित किये गये पशुओं से स्वाभाविकता एवं सौन्दर्य में श्रेष्ठ हैं।

---

[1] महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 532

[2] लेडी हैरिघंम– अजन्ता फ्रैस्कोस, पृ0 72

चित्रों के सामान्य फैलाव में पशु एवं पक्षी प्रमुख है और दृश्यों में अंकित ड्रामें में वे स्वयं आवश्यक ऐक्टर होते हैं हम इस प्रसंग में गुफा नं0 10 में नहाते हुये शक्ति परीक्षण में लगे हुये हाथियों के एक झुण्ड को दिखाये जाने वलो दृश्य का उल्लेख कर सकते हैं। एक बड़े जंगल के सिरे पर एक कमल सरोवर में बड़ी लापरवाही से खेल में मग्न बहुत से छोटै–बड़े हाथियों के झुण्ड को सभी विचारणीय स्थितियों में अत्याधिक स्वतंत्रता से चित्रित किया गया है अनेक व्यक्तियों के समूहों को हाथियों के दांतों को महल में ले जाते हुये दिखाने वाले चित्र में भी रेखाओं से बनी आकृतियाँ शासन से आगे बढ़ती प्रतीत होती है। जहां कहीं भी उनके होने की कल्पना की जा सकती है और उनकी मुखाकृतियां दृश्य में उनकी उचित स्थिति को ठीक रूप से प्रकट करती है रचना की चातुर्यपूर्ण हस्ताकारी आकृतियों का प्रबन्ध और उनकी चाल की चपलता, अनेक सन्ततियों के बढ़ते हुये लम्बे अनुभव को व्यक्त करते हैं। यद्यपि यह अजंता के पहले चित्रों में से एक है, इसमें निर्णय की परिपक्वता विद्यामान है। गुफा नं0 10 में सम जातक तथा गुफा नं0 9 में दासों सहित नाग राजा को दिखाने वालें चित्रों का भी उल्लेख किया जा सकता है। इन गुफाओं के चित्र दूसरी और पहली सदी ईसा पूर्व के हैं।[1]

इसके बाद अजन्ता में अनेक सदियों तक निर्माण कार्य नहीं हुआ। मगध में गुप्त वंश के उत्थान के पश्चात अजन्ता में कार्य का एक नया और प्रबल युग आरम्भ हुआ। वह कार्य 400 वर्ष तक जारी रहा। इसी काल में अजन्ता में भारतीय चित्रकला के सबसे अधिक मूल्यवान रत्न विश्व को उपलब्ध कराये गये। अजन्ता का गोरव ईसा की पांचवी सदी से पतनोन्मुख हुआ और एक सदी में पूर्णतः गायब हो गया। इस युग में गुफा नं0 9 और 10 को आंशिक रूप से पुनः सजाया गया। अनेक गुफाओं का इस काल में निर्माण हुआ। इस काल में अजन्ता में भित्ति चित्रण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया।[2] कलाकारों ने समस्त मूल रंगों और मिश्रण के अनेक रूपों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया था।

---

[1] बासुदेव शरण अग्रवाल– भारतीय कलायें, पृ0 151

[2] भगवत शरण उपाध्याय– भारतीय कला, पृ0 48

वे विभिन्न रंगों के असंख्य उतार–चढ़ावों को प्रस्तुत करने में समक्ष थे। उन्होंने अपने द्वारा प्रयुक्त सामग्री पर आगा–पीछा न करते हुये पूर्ण अधिकार प्रकट किया। चित्रों के रंग उत्साह एवं तीक्ष्णता से ठनठनाते और थिरकते हैं। रेखायें ब्रुश आघातों की अत्याधिक कोमलता एवं शीघ्र बोध को रिकार्ड करती है।

इन चित्रों में से अधिकांश शाक्य मुनि एवं बोधिसत्व से संबंधित हैं। बुद्ध के जीवन की महान घटनाये जैसे उनका जन्म, गृह–त्याग, ज्ञान प्राप्ति, प्रथम उपदेश देना तथा मृत्यु बड़ी सावधानी से अंकित की गयी है। बुद्ध के जीवन की अन्य अनेक घटनाओं को भी चित्रित किया गया है। जातकों के अनेक दृश्यों को भी चित्रित किया गया है।[1]

चित्रों की विषय वस्तु केवल धार्मिक ही नहीं प्रत्युत् पृथ्वी, भूमि, जल, चट्टानें, वनस्पति, पशु–पक्षी, सौर मानव भी है। उनमें काल्पनिक जीव, बुद्ध को मार्गच्युत करने वाले मार के सेवक राक्षस, बौद्धों तथा ब्राह्मणों के अनेक देवता, दिक्पाल, द्वारपाल, नाग, यक्ष, गंधर्व और अप्सरा भी है। तत्कालीन सामाजिक जीवन का विभिन्न रूपों में सच्चा रिकार्ड प्रत्येक को दिखाई देता है। उसमें प्यार, घृणा, भावनाओं, पक्षपातों, मकानों और महलों के जीवन के रूपों वस्त्रों, वर्दियों, भौतिक सम्पत्ति एवं आध्यात्मिक लालसा के दर्शन होते हैं। वहाँ पर महलों तथा दरबारों के राजसी एवं विलासी जीवन के साथ गरीब और साधारण व्यक्ति के जीवन का भी चित्रण किया गया है। चित्रों में अंकित लोगों से यह पता चलता है कि उस समय देश में अनेक जातियों के लोग रहते थे। उनके वस्त्र बहुत बढ़िया कपड़े के बने हुये दिखाई देते हैं और सिद्ध करते हैं कि बुनने, रंगने तथा छपाई की कला अत्याधिक विकसित हो चुकी थी। चित्र में रत्नों को भी सबसे अधिक विचारणीय पैटर्नो तथा ललित रूपों में चित्रित किया गया है। इन चित्रों में मानवी शरीर विशेषतः नारी जाति के इन्द्रिय जनित आकर्षण पर पर्याप्त जोर दिया गया है। इन चित्रों में केवल भौतिक सम्पत्ति तथा शारीरिक आकर्षण के ही

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की चित्रकला, पृ0 19

विभिन्न रूप नहीं मिलते प्रत्युत गम्भीर एवं श्रेष्ठ आध्यात्मिकता के भी दर्शन होते ही जिसने अजन्ता के चित्रों को परिपक्व बुद्धि एवं योग्यता का सर्वश्रेष्ठ नमूना बना दिया है और संसार में उनकी कोई मिसाल नहीं है।

पहली गुफा में एक दालान की समूची दीवार पर प्रायः बारह फुट ऊँचा और आठ फुट चौड़ा मार विजय का चित्र अंकित है। "मार" की सेना भगवान बुद्ध को घेरे हुए है। सेना ने भगवान को डराने, क्रुद्ध करने, क्षुब्ध तथा लुब्ध और सकाम करने के लिये विकटातिविकट मूर्तियों से लेकर अनेक कामिनियाँ तक बनी है जो अपने–अपने उपायों से भगवान को, जो मध्य में स्थित है विचलित करने में प्रवृत्त है किन्तु वे सर्वथा आत्म निरत है। उनके लिये चारों ओर कुछ है ही नहीं या थे ही नहीं रहा है।[1]

इस गुफा में केवल संध्या के समय सूर्य की अन्तिम किरणें प्रवेश पाती है। अतएव बड़ा आश्चर्य होता है कि यहाँ ऐसे–ऐसे चित्र कैसे अंकित किये होंगे।[2]

इस गुफा में चंपेय जातक चित्र किया गया है इस जातक की कथा है कि बोधिसत्व ने किसी समय नागराज का जन्म लिया था और संयोगवश बंदी होकर काशी की घट में बेचने के लिये लाये गये थे। उन्हें उस परिस्थिति से छुड़ाकर काशिराज अपने यहाँ ले गये थे। और उनके सारे परिवार को भी निमंत्रित किया। इसका चित्र भी उकत गुफा में ही एक ओसारे में नागराज तथा काशिराज एक राजासन पर आसीन है। चारों ओर राज महिलायें तथा राज परिकर घेरे हुए है। नागराज काशिराज को उपदेश दे रहे है। चित्र के प्रत्येक व्यक्ति का भाव और मुद्रा बड़ी सफलता से अंकित है एवं उसका संयोजन गठा हुआ है।

---

[1]ए0सी0 सेन – बुद्धिस्ट रिमेन्स इन इण्डिया, पृ0 59

[2] रीता शर्मा – प्राचीन भारत, पृ0 164

गुफा नं0 1 बोधिसत्व पद्मपाणि अवलोकितेश्वर आकृति चित्रण में भारतीय चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि को प्रकट करती है। गुफा नं0 16 में हम मरणोन्मुख राजकुमारी के दर्शन करते है। इस चित्र के बारे में यह कहा गया है कि प्रभाव डालने, भावना को उत्तेजित करने तथा ठीक प्रकार से अपनी कहानी कहने में कला के इस इतिहास में कोई इससे आगे नहीं निकल सकता। फ्लोरेनटाइन अच्छे चित्र बना सकता था और वेनिस के रंगों का सफल प्रयोग कर सकता था लेकिन उससे इनसे अच्छा भाव चित्रण नहीं हो सका। गुफा नं0 17 में हमें आकर्षक माता और बच्चों के समूह के दर्शन होते है, जिसमें बुद्ध की पत्नी अपने पुत्र राहुल को बुद्ध को दे रही है। गुफा नं0 के चित्र में शायद किसी भारतीय राजा के दरबार में कुछ विदेशियों को दिखाया गया है। इसी गुफा में मद्यपान करने वालों के भी समूह है। उनके वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है।[1]

अजन्ता की कला के बारे में कहा गया है कि उसमें देश की सबसे अच्छी कला परम्पराओं का समावेश है, उसने ऐसी परम्परायें स्थापित की जो दूर के देशों तक पहुँची। उसका प्रभाव अफगानिस्तान के बमियान में, फोन्डूकिस्तान के भित्ति चित्रों में और मध्य एशिया में अनेक स्थानों के भित्ति चित्रों में देखा जा सकता है। अजन्ता कला बौद्ध जगत की सार्वदेशिक कला बन गई और ऐसा मालूम होता है कि वह बौद्ध मत के साथ ही वहाँ गई जहाँ बौद्ध मत गया।[2]

ग्रीफिथ ने कहा है, "इसकी अनेक सीमाओं के होते हुए भी मैं इसका निर्माण कार्य इतना पूर्ण और लोक सम्मति से इतना दृढ़, आलेखन में इतना सजीव एवं विपरीत, सुन्दर रूप एवं रंग में इतनी स्पष्ट प्रसन्नता से पूर्ण पाता हूँ कि मैं इसे इटली में प्राप्त उस प्रारम्भिक कला के तुल्य रखता हूँ जिसकी प्रशंसा करने के लिये सम्पूर्ण विश्व सहमत हो गया है। ...अजन्ता की कारीगरी प्रशंसनीय

---

[1] जी0 यजदानी – अजन्ता, पृ0 27

[2] इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिग्स, ई0बी0 हैवेल, पृ0 55

है। ब्रुश के एक आघात के समान मोटाई की अत्याधिक यथार्थता के साथ लम्बी कोमल अथवा सूक्ष्म टेढ़ी रेखायें खीचीं जाती है। ....कला की शिक्षा के लिये भारतीय कला विद्यार्थी के समक्ष अजन्ता की गुफाओं से प्राप्त चित्रों की अपेक्षा अधिक नमूने उपस्थित नहीं किये जा सकते हैं। हमें यहाँ की कला मे जीवन के दर्शन होते है, मानवी आकृतियाँ भावपूर्ण है, अंगों का संचालन सजीव है, पुष्प खिलते है, पक्षी चहचहाते है और जंगली जीव कूदते या लड़ते है या शांति से भार ढोते है। ये सभी प्रकृति की पुस्तक से लिये गये हैं।....इस बात में इस्लामी कला से पूर्णतः भिन्न है जो अवास्तविक, अप्राकृतिक है और इसलिये विकास के लिये अनुपयुक्त है।[1]

हालैण्ड के एक कलाकार ने, जिसने अजन्ता के चित्रों की उपयोगी व्यावसायिक आलोचना प्रकाशित की है। घोषित किया है कि "वे चरमसीमा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे प्रामाणिक भारतीय कला ने प्राप्त किया है और इन चित्रों में प्रत्येक वस्तु पूर्ण चित्र से लेकर छोटे से छोटे मोती या फूल तक अत्याधिक चातुरी से युक्त गम्भीर चिन्तन को प्रमाणित करती है।

भित्ति चित्र के सबसे प्राचीन उपलब्ध नमूने सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा में है। इस गुफा के अभिलेखों की लिपि तीसरी शती ई0पू0 की है।[2] यद्यपि इस पर मतभेद हैं। इस गुफा के पास ही सीता बोंगा गुफा है जो एक प्रेक्षागार या नाट्यशाला है। पहले तो जोगीमारा गुफा उस प्रेक्षागार की नाटियों का विश्रामगृह समझी गई थी किन्तु उसके अभिलेख का अब जो अर्थ निकाला गया है उसके अनुसार वह वरुण मन्दिर है जिनकी सेवा में एक देवदर्शिनी[3] रहती थी। उसी गुफा में उसी के समय के व उसके बाद के चित्र भी अंकित है जो ऐतिहासिक काल की भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने है किन्तु उन चित्रों की सुन्दर रेखायें उन पर फिर से खीचें गये भद्दे चित्रों से छिप गई

---

[1] ग्रिफिथ– अजन्ता फ्रेस्कोज, पृ0– 67

[2] डा0 ब्लाख का मत है कि यह लिपि तीसरी शती ई0पू0 की है।

[3] जिसे देवता प्रत्यक्ष दर्शन दे।

है। बचे खुचे अंशों से अनुमान होता है कि वहाँ के कुछ चित्रों का विषय जैन धर्म था।

दूसरी सदी ई0पू0 के वांगमय से पता चलता है कि उस समय हमारे जीवन का चित्रकला से घनिष्ठ एवं गम्भीर सम्बन्ध था। वर वधू की अनुपस्थिति में चित्र बनाकर उनका विवाह सम्पन्न किया जाता था एवं ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र बनाकर रखे जाते हैं। लोगों को इन चित्रों की खूबियों – वर्णाढ्यता, भावोत्पन्नता आदि की निगाह है और वे इन विशेषताओं का विवेचन करते हैं।[1] इसी काल के महाभाष्य में कृष्णलीला के चित्रों के प्रदर्शन की चर्चा है।

जातकों में मुख्यतः उम्मग, जातक में चित्रों का बड़ा ब्योरेवार वर्णन है। किन्तु जातकों का समय बड़ा संदिग्धपूर्ण है। कुमारस्वामी के अनुसार उक्त जातक का समय कुषाण काल से पूर्व अर्थात ई0 सन के पहले है इसमें सभा मण्डपों एवं प्रासादों के चित्रों का उल्लेख है। विशेषता एक सुरंग के विषय में वर्णन है जो चित्रित है। लिखा गया है कि चतुर चितेरों ने उसमें इन्द्र के वैभव, सुमेरू मण्डल, समुद्र, चारों महाद्वीप, हिमालय–अनवतप्त, सूर्य, चन्द्रमा, चारों दिकपाल सरोवर एवं सातों भुवनों के चित्र बनाये थे जिनके कारण यह देव सभा सुधर्मा जैसी दिखती थी।

बाघ की गुहाओं के चित्र भी अजन्ता शैली में लिखे गये हैं। बाघ की गुहा मध्य प्रदेश के मालवा में गजरात और मालवा के प्राचीन वणिकपथ पर खोदी गई है और उनकी छतें, दीवारें और स्तम्भों की भूमि भी अजन्ता की ही भाँति विविध चित्रों से भर दी गई है। अजन्ता की ही भाँति विराग के बीच तपोभिन्न अल्हड़ उल्ललित उन्मद अनियंत्रित अविरल जीवन वहाँ के चित्रों में भी प्रवाहित है।

---

[1] ये सभी बातें भास के नाटकों से ज्ञात होती है– प्रतिज्ञा यौग गंधरायण के अन्त में उज्जैन का राजा चन्द्र महासेन अपनी कन्या वासवदत्ता और वत्स के राजा उदयन का चित्रफलक रखकर वैवाहिक कृत्य पूरा करता है क्योंकि वासवदत्ता उदयन के संग पहले ही वत्स चली गई है।
यह कथानक ना0प्र0क0 (नवीन) के भाग–4 के 168–175 पर अंकित है।

वहाँ भी मानव और पशु समान उदारता से अंकित हुए है। घोड़ो के मस्तक का लेखन तो अद्भुत शालीनता से हुआ है। बाघ की गुहाओं में दो तीन "ओप्रा" के भी दृश्य है– नृत्य, वाद्य, गायन के साथ अभिनय ही रहा है। सभी नारियाँ है, मात्र एक पुरूष है। भाव शिथिल और तीव्रगति से प्रसंगवश उठते और निलय होते हैं। संसार के सुन्दरतम् आलेख्यों में उचित ही बाघ के चित्रों की गणना है। वहाँ कोई अभिलेख न होने से उनके चित्रण काल का निश्चय तो सर्वथा नहीं हो पाता, परन्तु शैली से प्रकट है कि वे अजन्ता के मध्यवर्ती काल से पहले के नहीं हो सकते। अधिकतर वे गुप्तकाल की है है।

सिक्कों और मुद्राओं पर अंकित रूपाकृतियाँ :-

भारत के प्राचीनतम् सिक्कों पर अनेक प्रकार के चिन्ह उत्कीर्ण है। उन पर किसी प्रकार के लेख नहीं है। ये सिक्के आहत सिक्के कहलाते हैं। इन सिक्को पर राजाओं के अतिरिक्त सम्भवतः व्यापारियों, व्यापारिक श्रेणियों और नगर निगमों ने चालू किया। इन पर जो चिन्ह बने हैं उनका ठीक ठीक अर्थ ज्ञात नहीं होता। इनसे इतिहासकारों को विशेष सहायता नहीं मिली है किन्तु जब उत्तर पश्चिमी भारत पर बैक्ट्रिया के हिन्दू यूनानी शासकों ने अधिकार कर लिया और सिक्के के लेखों वाले सिक्के चलाये। इन सिक्कों पर सिक्के चलाने वाले शासकों की आकृति भी होती थी।[1] (चित्र सं॰ 29)

यूनानी शासकों के बाद जिन शक और कुषाण शासकों ने भारत में शासन किया उन्होंने भी यूनारियों के अनुरूप सिक्के चलाये। उसके बाद भारतीय राजतंत्र गणराज्यों के शासकों ने भी ऐसे ही सिक्के चलाये।[2]

सिक्के यदि बड़ी संख्या में एक स्थान पर मिले तो यह अनुमान लगाया जाता है कि सिक्कों का प्राप्ति स्थान उस शासक के राज्य का भाग था। यदि सिक्कों पर कोई तिथि उत्कीर्ण हो तो उस राज्यकाल का पता चलता है। किसी देवी देवता की छवि उस शासक के धार्मिक विचारों को दर्शाती है। धातु से आर्थिक दशा जानी जाती है सिक्कों की कलात्मकता तत्कालीन जनता की साहित्य और कला में रूचि की झलक दर्शाती है।[3]

यद्यपि मुद्राओं से सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक महल की अनेक सूचनायें मिलती है किन्तु यह भी नकारा नहीं जा सकता कि मुद्रा प्रणाली का आगमन आर्थिक प्रगति का एक

---

[1] कृष्ण मोहन श्रीमाली – वैदिक साहित्य एवं पुरातात्विक साक्ष्य, पृ0 38

[2] लूनिया – भारतीय सभ्यता व संस्कृति का विकास, पृ0 139

[3] आगेयी विश्वास के वक्तव्य का अंश दिल्ली विश्वविद्यालय में, 28 अगस्त, 1992

महत्वपूर्ण चरण है।[1]

<u>सिन्धु सभ्यता की विशेषताएं तथा रूपाकृतियाँ</u> :- (चित्र सं - 30)

उत्खनन में विभिन्न स्थानों से 500 से अधिक मुहरें मिली है। यह आकार में छोटी और एक प्रकार की मिट्टी की बनी है। ये मुहरें समय-समय पर रावी नदी के पुराने आधार से प्राप्त होती रही है। इन मुहरों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुहर वह है जिस पर सींगधारी तीन मुख वाले देवता का नग्न चित्र है। यह देवता एक मेज पर धार्मिक भाव से बैठा है और इसके चारों ओर भारी संख्या में जानवर खड़े हैं। इस देवता ने बाहों में कंगन या चूड़ियाँ पहन रखी है, इसके अतिरिक्त उसने सिर पर भी कुछ धारण कर रखा है।

एक अन्य मुहर में अंजीर के पेड़ के नीचे कोई बैठा है और इसके आगे कोई दूसरा झुक रहा है। दोनों ही पट्टेदार बाल और कंगन धारण किये हुए हैं, पुजारी के पीछे बकरी खड़ी है जिसका सिर मानव का है।

मोहन जोदड़ों की एक अन्य मुहर यह बतलाती है कि शेर को देवी का प्रतिरूप माना जाता था। बकरी के सींग पर चीते के शरीर पिछली टाँगों और दुम वाले एक देवता की आकृति दीख पड़ती है।

एक अन्य मुहर में एक भैसे का चित्र है जो लोगों के समूह को हराकर शान से सिर को ऊपर ताने हुए यो खड़ा है जैसे पुराने दुश्मनों को हराकर कोई देवता खड़ा हो।

एक अन्य मुहर में मानव के शरीर की आकृति पर सिर और पूंछ बैल के हैं, सम्भवतः गन्धर्वो की ओर संकेत करती है।

---

[1] हरीशंकर कोटियाल – भारत की आर्थिक प्रगति, पृ0 842

चित्र सं - 29
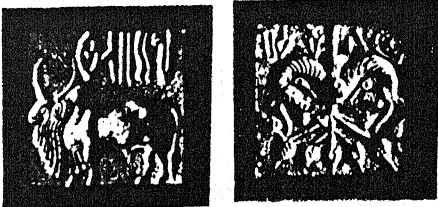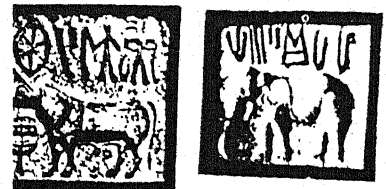
चित्र सं- 30

चित्र सं-31

इन मुहरों पर अधिकतर मूर्तियाँ बिना वस्त्र धारण किये हैं, इन मुहरों से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की मुहरों का प्रयोग प्लास्टिक मिट्टी आदि पर मुहर लगाकर प्रमाणिक बनाने के लिए किया जाता था। (चित्र सं - 31)

मौर्य काल :-

मौर्य साम्राज्य का आधार धन तंत्र था। साहित्यिक रचनाओं में जितने प्राचीन समय के सिक्कों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, उतने पुराने सिक्के अभी तक नहीं मिले हैं।

वेदों में सिक्के के लिये "निष्क" शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] वृहदारण्यक उपनिषद में इस बात का उल्लेख किया गया है कि याज्ञवल्क को 1000 गायों की सींगों में पाँच-पाँच सोने के पाद लटका कर अर्थात् कुल मिलाकर 10000 पाद दान दिये गये थे, कदाचित् अष्टापुद[2] था शतपथ[3] जैसे शब्दों में इसका अर्थ "100 कृष्णला के बराबर भार" बताया गया है। सोने के वजन तथा कदाचित स्वर्ण मुद्रा का संकेत मिलता है। शतभान ब्राह्मण[4] इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि यज्ञ की दक्षिणा हिरण्य (सोने) के रूप में दी जाती थी या तो सुवर्ण के रूप में या शतभान के रूप में।

इस बात के भी उल्लेख मिलते है कि सोना (हिरण्य) सिन्धु जैसी नदियों में से[5] या पृथ्वी के गर्भ से[6] या कच्ची धातु को गलाकर[7] या स्वर्ण मिश्रित बालू को धोकर[8] निकाला जाता था।

---

1 ऋग्वेद 1,126, 2

2 काठक संहिता -अध्याय XI I।

3 शतपथ ब्राह्मण, V ,5,5,16

4 XII ,2,3,2

5 ऋग्वेद, X , 75, 8

6 अथर्ववेद, XII ,1,6,26,44

7 शतपथ ब्राह्मण, VI ,1,3,5

8 शतपथ ब्राह्मण, II, 1,1,5

पाणिनी ने अपने व्याकरण में इस बात की पुष्टि की है कि सिक्कों के लिये वेदों में प्रयुक्त इन शब्दों में से कुछ शब्द बाद तक भी इस्तेमाल किये जाते रहे। पाणिनी ने निष्क शतमान तथा सुवर्ण नामक सोने के सिक्को का वर्णन किया है।

मौर्यकाल में कुछ सिक्कों का प्रचलन था। सोने के सिक्के "निष्क" चाँदी के सिक्के "पुराण" या "घरण" और ताँबे का सिक्का कार्षापण कहलाता था।[1]

शुंग वंश :–

कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई है, जिन पर केवल भूमि मित्र खुदा है, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे कण्व नरेश भूमिमित्र के समय की है। (चित्र - 32)

सातवाहन :–

देश की मुद्रा में कर्षापण सम्मिलित थे जो ताँबा ओर चाँदी दोनों के बने थे। सोने का सिक्का सुवर्ण 36 चाँदी के कर्षापण के बराबर था। एक कर्षापण का वजन 146.4 ग्रेन था, इनमें से कुछ मुहरों पर तत्कालीन राजा तथा पूज्य देवी देवताओं की कुछ आकृतियाँ दिखायी पड़ती है। (चित्र - 33)

कुषाण :–

कुषाण युग के सिक्के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। कनिष्क प्रथम अविष्क, तथा वासिष्क ने सोने तथा ताँबे के सिक्के चलाये। उन्होंने चांदी के सिक्के नहीं चलाये। मालव, यौघेय, . अर्जुनायन, जोदुम्गर, कुणिन्द आदि स्वायत्त जातियों ने चांदी और तांबे के सिक्के चलाये। सोने के रोमन सिक्के भी प्राप्त हुये हैं जो रोम को भारतीय माल खरीदने के कारण भेजने पड़े।

---

[1] डा0 आर0एस0 शर्मा– स्टडीज इन द कल्परल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 67

कुषाण सिक्कों का एक रूचिकर लक्षण यह है कि कुषाण सामज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के देवी देवताओं को कुषाण सिक्कों पर अंकित किया गया। धार्मिक मामलों में कुषाण राजाओं के विचार सार्वभौमिक थे। यह उल्लेखनीय है कि ईरान, बैक्ट्रिया और निकटवर्ती प्रदेशों के देवताओं के चित्र कुषाण सिक्कों पर अंकित किये गये थे।

कुषाण शासकों के सिक्कों पर विभिन्न देवताओं के नाम इस प्रकार हैं :–
हेलियस, सेलोन, अर्सिग्नो, मेण्डोइयनों, बोडडों, सब–मन–बौद्ध, मौथरो, भाओ, मनाओ जागो, अर्दोक्षो मिश्रो राण्ड, जौरो होरान मजासेन, स्कन्दो कुमारो विजागो, अम्भो आदि। शिव का चित्र केहपिसिज द्वितीय के सिक्कों पर दिखाई देता है और हेरेकल्ज का चित्र केडफिसिज प्रथम के सिक्कों पर दिखाई देता है।

कुषाण सिक्कों को ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के आर्दशों से प्रेरणा मिली। कुषाण सिक्कों पर बहुत से देवता भी है, जैसे– ब्रत्रहन, मिहिर, चन्द्रमस, भदेश, यम, वरूण, महासेन, स्कन्द कुमार, विशाखा, उमा, वास, अरात, नपाल भिद्र वीर और आदि। कुषाण सिक्को के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुषाण साम्राज्य में ब्राह्मणों तथा बौद्ध मतानुयायियों को एक जैसे अधिकार प्राप्त थे। (चित्र -36)

<u>गुप्तकाल</u> :–

गुप्त साम्राज्य की बहुत सी सामग्री गुप्त सम्राटों के सिक्कों से प्राप्त होती है।

1. समुद्रगुप्त द्वारा चलाये गये सिक्के प्राप्त हुए हैं, इन पर समुद्रगुप्त प्रथम तथा उसकी रानी कुमार देवी के चित्र अंकित है। समुद्रगुप्त के चीता प्रकार, वीणा, वादक प्रकार, अश्वमेघ प्रकार, पताका प्रकार, धर्नुधर प्रकार आदि सिक्के प्राप्त हुए है।
2. चन्द्र गुप्त द्वितीय के भी विभिन्न प्रकार के अनेक सिक्के हैं तथा धर्नुधर प्रकार, शंख प्रकार, छत्र प्रकार, शेर बालक प्रकार, घुड़सवार शेर बालक प्रकार, चीता बालक प्रकार, हाथी सवार प्रकार आदि।
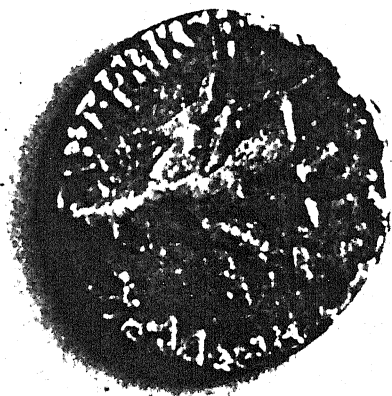
चित्र - 33
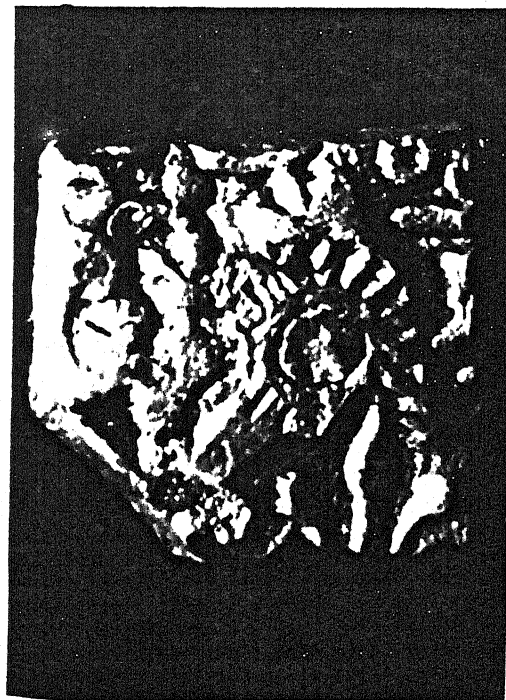
चित्र - 32

चित्र - 34

चित्र - 35

3. कुमार गुप्त प्रथम के भी अनेक सिक्के मिले हैं, यथा– धर्नुधर प्रकार, अश्वमेघ प्रकार, घुड़सवार प्रकार, शेर बालक प्रकार, चीता बालक प्रकार, हाथी सवार प्रकार आदि।
4. स्कन्दगुप्त के धर्नुधर प्रकार के सिक्के मुख्यतः सोने के हैं। (चित्र - 35)

गुप्त साम्राज्य की बहुत सी सामग्री गुप्त सम्राटों के सिक्कों से प्राप्त होती है। जे० एलन केटालोग ऑफ द क्वाइन्स ऑफ द गुप्ता डायनेस्टिक (1941, पृ० 8–9) नामक रचना प्रकाशित की, इस रचना में गुप्तवंश के सिक्कों का नियमित अध्ययन किया गया है। समुद्रगुप्त द्वारा चलाये गये सिक्के प्राप्त हुए है। इन पर समुद्रगुप्त प्रथम तथा उसकी रानी कुमार देवी के चित्र अंकित है। समुद्र गुप्त के चीता प्रकार, वीणा वादक प्रकार, अश्वमेघ प्रकार, पताका प्रकार, धनुर्धर प्रकार आदि सिक्के प्राप्त हुए हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के भी विभिन्न प्रकार के अनेक सिक्के हैं तथा धनुर्धर प्रकार, शंख प्रकार, छत्र प्रकार, शेर घातक प्रकार, घुड़सवार प्रकार। कुमारगुप्त प्रथम के भी अनेक सिक्के मिले है, यथा– धनुर्धर प्रकार, अश्वमेघ प्रकार, घुड़सवार प्रकार, शेर घातक प्रकार, चीता घातक प्रकार, हाथी सवार प्रकार आदि। स्कन्द गुप्त के धनुर्धर प्रकार के सिक्के मुख्यतः सोने के है। सिक्कों के मुद्रा लेखों से कवि की श्रेष्ठता झलकती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी के सिक्के केवल उन्हीं प्रदेशों में चलाये जो पहले पश्चिमी छत्रपों के अधीन थे। किन्तु बाद में चाँदी के सिक्के गृह प्रान्तों के लिये भी चला दिये गये।

<u>समुद्रगुप्त कालीन सिक्के</u> :–

समुद्रगुप्त के सिक्कों से उसके सम्बन्ध में बहुत सी उपयोगी जानकारी उपलब्ध होती है। वास्तव में समुद्रगुप्त ने ही गुप्त मुद्रा को आरम्भ किया और इसका भारतीयकरण भी किया। समुद्रगुप्त के सोने के सिक्कों के 8 विभिन्न प्रकार है– पताका प्रकार, धनुर्धर प्रकार, युद्ध परशु प्रकार, चन्द्रगुप्त

प्रथम प्रकार, कच प्रकार, चीता प्रकार, वीणावादक प्रकार और अश्वमेघ प्रकार। चीता और वीणावादक प्रकारों के अतिरिक्त शेष सभी सिक्कों पर ऐसे मुद्रा लेख है जिनसे समुद्रगुप्त की विजयों तथा उसकी सर्वोच्च सत्ता की ओर संकेत मिलता है। पताका प्रकार संख्या में सर्वाधिक है और सामान्यतः पाये गये है। सम्पूर्ण मुद्रा लेख इस प्रकार है– "अजेय पुरूष ने एक शताब्दी तक युद्ध करके अपने शत्रुओं को परास्त किया और अब स्वर्ण विजय की।" धनुर्धर प्रकार का मुद्रा लेख इस प्रकार है– "पृथ्वी विजय के पश्चात् अजेय पुरूष ने सत्कर्मो से स्वर्ण विजय की।" युद्ध परशु प्रकार का मुद्रा लेख इस प्रकार का है– "वृतान्त का परशु प्रयोग करते हुए दुर्जेय राजाओं के अजेय विजेता ने विजय प्राप्त की।" मुख भाग पर राजा को खड़ा दिखाया गया है उसने तंग टोपी, कोट और पयजामा पहन रखा है। कानों में छल्ले तथा हाथ में तलवार भी पहनी हुई है और एक हाथ में युद्ध परशु उठाया हुआ है। पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी अपने आसन पर बैठी है और कमल पादपीठ भी रखा हुआ है। धनुर्धर और युद्ध परशु प्रकारों में गुप्त मुद्रा के भारतीयकरण की ओर एक कदम उठाया विभिन्न दिशाओं में अपनी विजयों के उपलक्ष्य में समुद्र गुप्त ने युद्ध परशु प्रकार के सिक्के चलाये।

चन्द्रगुप्त प्रकार के सिक्के समुद्रगुप्त ने चलाये थे और उनका श्रेय चन्द्रगुप्त प्रथम को नहीं दिया जा सकता यदि उन्हें चन्द्रगुप्त ने चलाया होता तो वे पताका प्रकार के होते और कुषाण सिक्कों से बहुत कुछ मिलते जुलते होते किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। चन्द्रगुप्त प्रकार के सिक्के समुद्रगुप्त के पताका प्रकार से भी अधिक भारतीयकृत है उनके मुखभाग पर चन्द्रगुप्त को तंग कोट, पजामा और मुकुट पहने हुए दिखाया गया है, उनके कानों में कंगन छल्ले तथा कंगन भी है। एक हाथ में उसने एक डण्डा उठाया हुआ है, जिसके ऊपर एक चन्द्राकार चिन्ह है, उसके दाँये हाथ में एक अंगूठी है जो वह कुमारदेवी को दे रहा है, कुमारदेवी खड़ी हुई है और उसने ढीले कपड़े, लौंटि, बार, कंगन और तंग शिरोवस्त्र पहने हुए है, एक ओर चन्द्र या चन्द्रगुप्त मुद्रालेख है और दूसरी ओर कुमार देवी या श्रीकुमार देवी या कुमारदेवी श्री अंकित है। इन सिक्कों के पृष्ठ पर एक देवी बैठे हुए सिंह पर बैठी है और उसके पैर एक कमल के ऊपर रखे हुए है। सिंह के ऊपर बैठी हुई देवी दुर्गा ही होगी।

इस मुद्रालेख का महत्व तभी अनुभव किया जा सकता है यदि हम स्मरण करे कि समुद्रगुप्त ने स्वयं को अपने अभिलेखों में लिच्छवी दौहित्र या लिच्छवियों की लड़कियों का पुत्र कहा है और इस प्रकार अपनी माँ को लिच्छवी सम्बन्ध में अपना गर्व प्रकट किया है।

कच प्रकार के सिक्कों में मुख भाग पर यह मुद्रा लेख है– "पृथ्वी विजय के पश्चात् अपने कार्यो से कच ने स्वर्ग प्राप्त किया। मुख भाग पर यह मुद्रा लेख है– "सर्वराजोच्छेत्ता अर्थात् समस्त राजाओं का उन्मूलन करने वाला। मुख भाग पर राजा को खड़े हुए दिखाया गया है। उसने एक हाथ में डण्डा उठाया हुआ है, जिसके ऊपर एक चक्र है और दूसरे भाग हाथ से वह वेदी पर सुगन्धी छिड़क रहा है। पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी का चित्र अंकित है उसने ढीले वस्त्र पहिन रखे है। एक हाथ में एक फूल उठाया हुआ है और भुजा में धान्य पुष्प है।

चीता प्रकार के सिक्कों के मुख भाग पर राजा को एक चीता रौंदते हुए दिखाया गया है और राजा का तीर लगने पर चीता पीछे गिरता हुआ दिखाया गया है। इसका मुद्रा लेख है– "व्याघ्रपराक्रमः"। पृष्ठ भाग पर देवी गंगा को मकर पर खड़े हुए दिखाया गया है, वह कमर तक नग्न है और उसने कांटे, हार, पायल और कंगन पहन रखे है तथा एक हाथ में कमल उठाया हुआ है। मुद्रा लेख है– "राजा समुद्रगुप्तः"। इस प्रकार के सिक्के बहुत कम है और अब तक केवल चार ही प्राप्त हुए हैं। गंगा देवी समुद्रगुप्त द्वारा गंगा घाटी को विजय की प्रतीक है।

वीणावादक प्रकार के सिक्कों में राजा एक ऊँची पीठ वाली चौकी पर बैठा वीणा बजा रहा है जो उसकी टांगों पर पड़ी है। मुद्रा लेख है – "महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः"। पृष्ठ भाग पर सरस्वती का चित्र है और मुद्रा लेख है– "समुद्रगुप्तः"। यह उल्लेखनीय है कि चीता और वीणावादक प्रकारों पर विदेशी प्रभाव बिल्कुल नहीं है। राजा की मुद्रा तथा पोशाक बिल्कुल भारतीय है।

अश्वमेघ प्रकार के सिक्कों पर एक घोड़ा बलिदेवी के सामने खड़ा है जिसके ऊपर से

होकर ध्वज घोड़े की पीठ के ऊपर फहरा रहे हैं। घोड़े के नीचे मुद्रा लेख है– "पृथ्वी विजय के पश्चात् अपने पराक्रम से महाराजाधिराज ने स्वर्ग प्राप्त किया"। पृष्ठ भाग पर महारानी ढीले वस्त्र पहने खड़ी है। उसने आभूषण भी पहने हुए है और एक चौरी उसके कंधों के ऊपर लटक रही है। पृष्ठ भाग पर मुद्रा लेख है– "अश्वमेघपराक्रमः"। (चित्र- 36)

समुद्रगुप्त के सिक्कों की कुछ विशेषताओं से गुप्त मुद्रा के उतरोततर भारतीयकरण का आभास होता है, कुषाणों का नोंकदार या त्रिभुजाकार शिरोवस्त्र त्याग दिया गया है, उसका स्थान एक तंग टोपी या भारतीय पगड़ी ने ले लिया है। कुछ सिक्कों पर राजा को नंगे सिर दिखाया गया है। राजा रानी दोनों के आभूषण भारतीय है। कुछ सिक्कों पर राजा ने भारतीय धोती पहन रखी है। आर्दाक्षो के स्थान पर लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती और गंगा आदि भारतीय देवियों को अंकित किया गया है। कुछ सिक्कों पर रानी को राजा के साथ अंकित किया गया है। कुछ सिक्कों पर विष्णु के वाहन गरूण का चित्र है। युद्ध और आखेट के भारतीय शस्त्र भी सिक्कों पर पाये गये हैं। यथा धनुष वाण, तलवार और परशु। अश्वमेघ प्रकार के सिक्के तो पूर्णतः भारतीय है।

<u>रामगुप्त कालीन सिक्के</u> :–

आलोचकों का कथन है कि गुप्तकाल के बहुत से अभिलेख और सिक्के हमारे पास है लेकिन उनमें रामगुप्त का नाम मात्र भी नहीं है। जब बयाना से बहुत से सिक्के प्राप्त हुए तो बहुत बड़ी आशायें की गयी थी किन्तु उनमें भी रामगुप्त कोई सिक्का नहीं मिला। डा0 आल्टेकर ने यह बात तो स्वीकार की लेकिन फिर भी कहा कि प्रस्तुत सिक्कों की खोज से पहले 200–300 सिक्के पिघल गये थे, इसलिए सम्भव है कि रामगुप्त के सभी सिक्के पिघल गये हों और रामगुप्त के अधिक सिक्के हो भी नहीं सकते थे क्योंकि उसका राज्य बहुत छोटा था। . . .

बेस नगर में रामगुप्त के तांबे के सिक्के प्राप्त होने पर डा0 अल्टेकर ने कहा कि इन सिक्कों से साहित्यक कथा की ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। ये सिक्के मालवा के बेस नगर स्थान से 1951 में पाये गये उनके मुख भाग पर रामगुप्त का नाम है और पृष्ठ भाग पर लेटे हुए शेर का चित्र है। कहा गया है कि सिक्कों का मुद्रालेख गुप्त लिपि में रामगुप्त ही पढ़ा जायेगा। आलोचकों का कथन है कि इन सिक्कों का रामगुप्त मालवा का एक स्थानीय शासक था किन्तु डा0 अल्टेकर के अनुसार ये सिक्के रामगुप्त ने सम्भवतः अपने सिंहासनारोहण के समय चलाये होंगे "क्योंकि प्राचीन भारत में मुद्रा स्थानीय होती थी और सम्भव है कि बाद की नागमुद्रा की तरह गुप्त प्रशासन ने भी कुछ स्थानीय मुद्रा की आवश्यकता अनुभव की हो। वे फिर कहते हैं– "सम्भव है कि यह मुद्रा समुद्रगुप्त ने चलाई हो और यदि मालवा में ढूढ़ा जाय तो शायद कुछ नमूने प्राप्त हो। लेकिन रामगुप्त की ताम्रमुद्रा चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा चलाई गई मुद्रा से भिन्न है। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यह केवल स्थानीय मुद्रा थी और इसे स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उस क्षेत्र के किसी शासक ने चलाया था। समुद्रगुप्त ने बेसनगर से 40 मील दूर ऐरण तक अधिकार कर लिया था लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि बेसनगर में पाये गये गुप्तराज वंश के रामगुप्त के ही है। ऐसा विचार पूर्णतः असत्य है तथा इतिहास के तर्क में एकदम अविश्वसनीय है। (चित्र- 37)

डा0 अल्टेकर का यह भी विचार था कि सिक्कों का कचगुप्त ही साहित्यिक परम्परा का रामगुप्त है। डा0 भण्डारकर ने माना है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के मध्य राज्य करने वाला राजा कच था और यहाँ लिपिक की गलती थी कि उसका नाम बाद में राम या रामगुप्त कर दिया गया। साहित्यिक अनुश्रुति का रामगुप्त सिक्कों का कचगुप्त ही है। आलोचकों का कथन है कि कच को सिक्कों में "सर्वराजोच्छेत्ता" था समस्त राजाओं का नाशक कहा गया है। वह विवरण रामगुप्त के लिये उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह तो अपने आपको और अपनी प्रजा को बचाने के लिए अपनी रानी को भी समर्पित करने के लिये तैयार था। कहा गया है कि कच समुद्रगुप्त का दूसरा नाम था रामगुप्त का नहीं।

<u>चन्द्रगुप्त द्वितीय कालीन सिक्के</u> :–

चन्द्रगुप्त ने कई प्रकार के सिक्के चलाये, धनुर्धर प्रकार, सिंहासन प्रकार, छत्र प्रकार, सिंह घातक प्रकार और घुड़सवार प्रकार। धनुर्धर प्रकार के सिक्कों का मुद्रालेख है– "देव श्री महाराजाधिराज चन्द्रगुप्तः"। मुख भाग पर गरूड़ है और पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी। सिंहासन प्रकार के सिक्कों पर मुद्रालेख है– "रूपकृत" और "विक्रमादित्यस्य"। छत्र प्रकार के सिक्कों पर एक बौने का चित्र है जिसने राज छत्र उठा रखा है। सिंह घातक प्रकार के सिक्के पर नये मुद्रा लेख है। राजा को "सिंह विक्रम" कहा गया है। चन्द्रगुप्त ने चाँदी तथा ताँबा दोनों के सिक्के चलाये। चन्द्र गुप्त द्वारा पश्चिमी क्षत्रपो की विजय का निर्णय सिक्कों से ही किया गया है। उन पर दी गई तिथियों से ही उस विजय का काल भी निश्चित किया गया है। पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों की नकल के चन्द्रगुप्त द्वितीय के पूर्वतम चाँदी के सिक्कों की तिथि गुप्त संवत् 90 यो 409–10 ई0 है। पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों की अन्तिम तिथि संवत् 370 या 388 ई0 है। इसी अवधि में पश्चिमी क्षत्रपों की विजय का कार्य सम्पूर्ण किया गया। एलन के अनुसार– "चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा चलाये गये ताँबे के सिक्के प्रायः अयोध्या में और उसके निकट पाये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि अयोध्या भी एक राजधानी थी और उसमें एक टकसाल थी।"

बलोच द्वारा बसाड़ में की गई खुदाई से बहुत सी मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुई जिनसे चन्द्रगुप्त द्वितीय के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। एक मुहर से ज्ञात होता है कि ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त द्वितीय की "महादेवी" और गोविन्दगुप्त की माता थी। यह भी सिद्ध हो जाता है कि अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में गोविन्द गुप्त तीर या तीर भुक्ति का गवर्नर था। मुहरों ने उस समय के कई कर्मचारियों की पदवियाँ दी गई है जैसे– "उपरिक", "कुमारामात्याधिकरण", "बलाधिकरण", "रणभण्डाधिकरण", "दण्डपाशाधिकरण", "महाप्रतिहार", "विनयसुर" तथा "तलवार"। इन मुहरों से प्रान्तीय प्रशासन पर नहीं बल्कि जिला और स्थानीय प्रशासन पर भी प्रकाश पड़ता है। (चित्र - 38)

चित्र-38
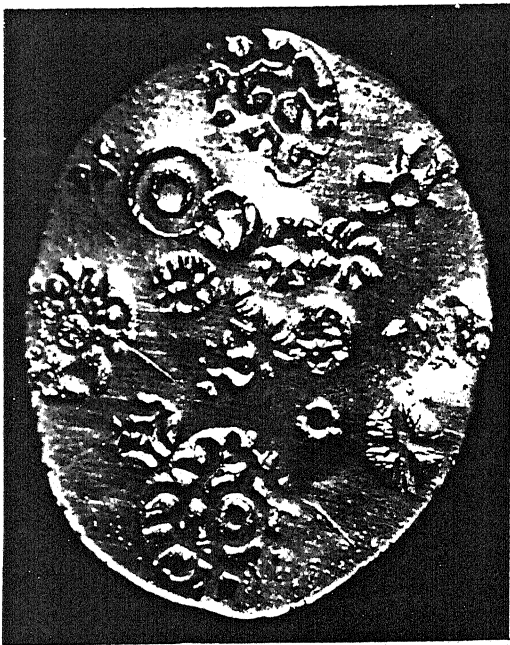
चित्र-36
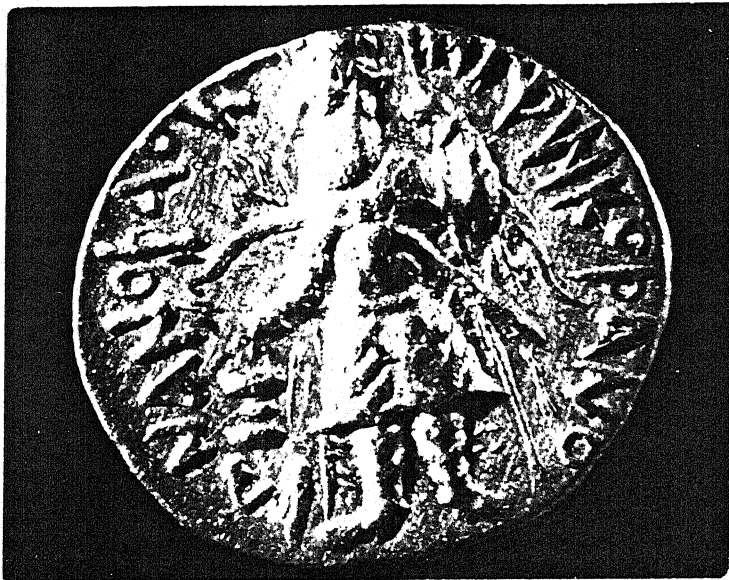
चित्र-40

चित्र 37
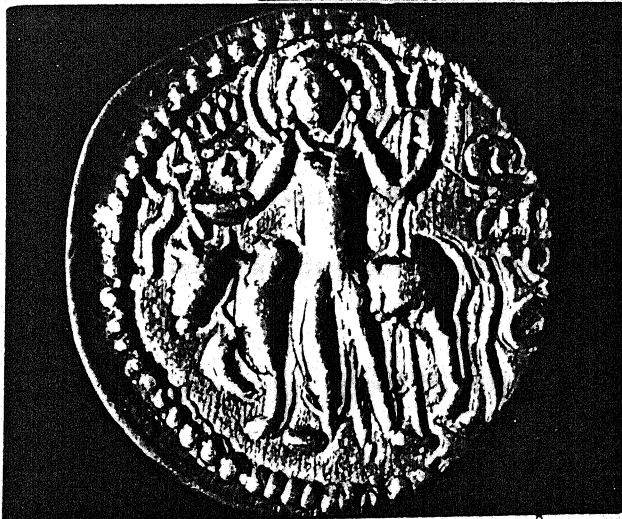
चित्र-39
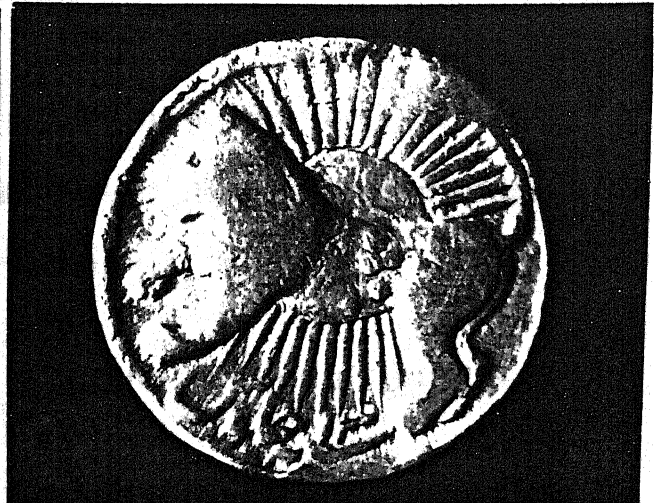
कुमारगुप्त प्रथम के काल के सिक्के :-

कुमार गुप्त प्रथम ने विभिन्न प्रकार के सिक्के चलाये- धनुर्धर प्रकार, तलवारधारी प्रकार, अश्वमेघ प्रकार, घुड़सवार प्रकार, सिंह घातक प्रकार, चीता घातक प्रकार, मोर प्रकार, प्रताप प्रकार और हाथी सवार प्रकार। पश्चिमी भारत में प्रचलन के लिये कुमारगुप्त ने चाँदी के सिक्के चलाये। उसने ताँबे के सिक्के भी चलाये। अश्वमेघ प्रकार के सिक्के अश्वमेघ यज्ञ के उपलक्ष्य में ही चलाये गये होंगे। इन सिक्कों के मुखभाग का मुद्रा लेख "जयति दिवम् कुमारः" है और पृष्ठ भाग का मुद्रा लेख "श्री अश्वमेघ महेन्द्रः" है। उसके सिक्कों से उसके साम्राज्य का विस्तार ज्ञात होता है। सतारा जिले में पाये गये 1395 सिक्कों से दक्षिण की ओर फैलने का संकेत मिलता है।

स्कन्दगुप्त कालीन सिक्के :-

स्कन्दगुप्त ने तीन प्रकार के सोने के सिक्के चलाये- धनुर्धर प्रकार, राजा तथा लक्ष्मी प्रकार और घुड़सवार प्रकार। चाँदी के सिक्के पश्चिम और मध्य भारत में प्रचिलित थे। कुमार गुप्त प्रथम के राज्य के अन्तिम वर्षों में सोने और चाँदी के सिक्कों के भार में कमी आ गई थी, उसे स्कन्दगुप्त ने फिर पूरा करा दिया किन्तु हूण युद्ध के पश्चात् उसे सोने और चाँदी के साथ मिश्रित धातु का प्रयोग करना पड़ा। (चित्र - ५०)

गुप्त वंश के इतिहास की बहुत सी लाभदायक सामग्री उनके सिक्कों से प्राप्त होती है। एलन ने 1914 में अपनी पुस्तक केटालॉग ऑफ द क्वाइन्स ऑफ द गुप्ता डायनेस्टिक प्रकाशित की, इस पुस्तक में गुप्त सिक्कों का नियमित अध्ययन किया गया है।

एलन का विचार था कि चन्द्रगुप्त प्रथम और उसकी रानी कुमारदेवी के चित्रों वाले

सिक्के उनके पुत्र समुद्रगुप्त ने स्मारकीय पदकों के रूप में चलाये थे किन्तु डा0 अम्बेडकर ने यह विचार स्वीकार नहीं किया है। उनका कथन है कि यदि यह ठीक होता तो समुद्रगुप्त का नाम भी उन सिक्कों पर अवश्य दिया रहता। इसलिये इन्हें चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्के मानना आवश्यक है। चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों के मुख भाग पर राजा और उसकी रानी कुमारदेवी एक दूसरे के सामने खड़े है राजा रानी को एक अगूंठी या कंगन दे रहा है। दोनों के नाम सिक्कों पर दिये गये है। पृष्ठ भाग पर दुर्गा शेर पर बैठी है। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था और उसने विषयक्रम आरम्भ किया। भारतीय परम्परा यह है कि सैनिक अभियान आरम्भ करते समय दुर्गा का आर्शीवाद प्राप्त किया जाय। उन सिक्कों का मुद्रालेख "लिच्छवयः" है जिसमें सम्भवतः गुप्त वंश द्वारा प्राप्त लिच्छवी सहायता को स्वीकार किया गया है।

समुद्रगुप्त के बहुत से सिक्के प्राप्त हुए है। चीता प्रकार में राजा को "उत्थान मुद्रा" में कमरबन्द, पगड़ी और आभूषण पहिने हुए दिखाया गया है वह चीते को रौंद रहा है। "मकर" (हाथी के सिर वाली मछली) पर एक देवी भी खड़ी हुई है।

वीणा वादक प्रकार में राजा वीणा बजा रहा है, इसमें संगीत में राजा की रूचि तथा कला को संरक्षण प्रदान करने का प्रमाण मिलता है। इन सिक्कों पर लक्ष्मी बैठी हुई है।

अश्वमेघ प्रकार के कई नमूने मिले हैं। मुख भाग पर एक घोड़ा "यूप" था, बलिवेदि के निकट खड़ा है। पृष्ठ भाग पर "पत्नि" अर्थात् यज्ञकर्ता की पत्नी का चित्र है, इसलिए यह रानी समुद्रगुप्त की महारानी दन्तादेवी ही होगी। अश्वमेघ प्रकार के सिक्कों में ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ किया जिसका अर्थ है उत्तरी और दक्षिणी भारत के शासकों पर विजय प्राप्त करना।

समुद्रगुप्त के बहुत से सिक्के पताका प्रकार के है। वी0ए0 स्मिथ ने इन सिक्कों को भाला प्रकार कहा क्योंकि उन्होंने राजा के बाएं हाथ में पकड़ी हुई वस्तु को भाला समझा। किन्तु एलन

ने यह विचार स्वीकार नहीं किया क्योंकि उन्हें ऐसी कोई वस्तु दिखाई नहीं दी।

धनुर्धर प्रकार में पताका के स्थान पर धनुष है। युद्ध परशु प्रकार में राजा ने बांये हाथ में कुल्हाड़ी उठाई हुई है। कुछ सिक्कों पर तलवार दिखाई गई है। इन सिक्कों से समुद्रगुप्त के युद्धप्रिय स्वभाव का आभास मिलता है।

रामगुप्त के कोई सिक्के प्राप्त नहीं हुए है। यद्यपि डा0 अल्टेकर ने कुछ सिक्कों को रामगुप्त के सिक्के बनाने की असफल चेष्टा की है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के बहुत से सिक्के प्राप्त हुए है। धनुर्धर प्रकार की कई किस्में है जैसे सिंहासन सिक्के और कमल सिक्के। चन्द्रगुप्त के धनुर्धर प्रकार के सिक्के समुद्रगुप्त के इसी प्रकार के सिक्कों से मिलते हैं। इन सिक्कों में राजा ने धनुष उठा रखा है। धनुष और वाण चन्द्रगुप्त द्वितीय की युद्धप्रियता के द्योतक है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंहासन प्रकार के सिक्के बहुत कम है। इन सिक्कों पर राजा एक सिंहासन पर बैठा है, जिसकी ऊँची पीठ है। पृष्ठ भाग पर देवी श्री का चित्र है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने छत्र प्रकार के सिक्के भी चलाये, भारतीय परम्परा में छत्र को सम्प्रभुता या राजत्व का प्रतीक समझा जाता है, यह राजा के ऐश्वर्य की साज सामग्री है।

शेर घातक प्रकार के सिक्कों में चन्द्रगुप्त द्वितीय शेर को रौंद रहा है या मार रहा है।

चन्द्रगुप्त ने घुड़सवार प्रकार के सिक्कों को प्रचलित किया, इन सिक्कों पर राजा पूरी पोशाक पहने था। एक वस्त्र को कमर पर बांधे एक घोड़े पर सवार है। एक तलवार था, एक धनुष उसके हाथ में दिखाई देता है। पृष्ठ भाग पर देवी श्री का चित्र है, जो बटे की एक तिपाई पर बैठी है। पश्चिमी क्षत्रियों की विजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी के सिक्के भी चलाये। इन सिक्कों का

परिमाण भार और धातु क्षत्रप सिक्कों से बहुत कुछ मिलते हैं। आरम्भ में उन्हें केवल क्षत्रपों की पुरानी भूमि में ही प्रचलित करने के लिये चलाया गया था, उनके मुख भाग पर क्षत्रप आवक्ष है और एक यूनी मुद्रा लेख के अर्थहीन चिन्ह है। उनके प्रचलन का वर्ष गुप्तलिपि में दिया गया है और पृष्ठ भाग पर तीन मेहराब वाली पहाड़ी के स्थान पर गरूड़ अंकित है।

कुमार गुप्त प्रथम के भी बहुत से सिक्के हमारे पास है। अधिकांश सिक्के उसके पूर्वजों के सिक्कों जैसे ही थे। किन्तु हाथी सवार प्रकार कुमार गुप्त प्रथम ही ने चलाया। उन पर राजा हाथी पर सवार है, उसके पीछे एक सेवक बैठा है जिसने सिर पर छत्र पकड़ रखा है। पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी का चित्र है जिसने हाथ में कमल का फूल पकड़ रखा है। कुमार गुप्त प्रथम के कुछ सिक्कों के पृष्ठ भाग पर मुद्रा लेख "प्रताप" है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी के सिक्के पश्चिमी क्षत्रपों के आधीन प्रदेशों में चलाये थे। कुमार गुप्त प्रथम के समय में चाँदी के सिक्के गुप्त साम्राज्य के गृह प्रान्तों के लिये भी चला दिये गये। इन सिक्कों पर यूनानी मुद्रा लेख के अर्थहीन चिन्ह तथा आवक्ष को छोड़ दिया गया। पृष्ठ भाग पर गरूड़ के स्थान पर मोर रख दिया गया। स्कन्दगुप्त तथा बुद्ध गुप्त भी मोर प्रकार के चाँदी के सिक्के चलाते रहे।

स्कन्दगुप्त के धनुर्धर प्रकार के सिक्के मुख्यतः सोने के ही है। राजा धनुष, गरूड़ तथा ध्वज के साथ दिखाया गया है। कुछ सिक्कों का मुद्रा लेख– "विक्रमादित्य" है, जो स्कन्द गुप्त की उपाधि है। सम्भव है कि स्कन्द गुप्त ने घुड़सवार प्रकार के भी चलाये हों। उसके कुछ सिक्कों पर गरूड़ बैल और वेदी है। गरूड़ हरि का वाहन है। गरूड़ को पंख फैलाया दिखाया गया है। बैल घटिया धातु के सिक्कों पर पाया जाता है। इन सिक्कों से सम्भवतः स्कन्द गुप्त के धार्मिक झुकाव की ओर संकेत मिलता है। वेदी उसके चाँदी के सिक्कों पर देखी गयी है, उन पर जलती हुई आग के चिन्ह है।

प्रकाशादित्य के भी कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं। वी0ए0 स्मिथ का मत है कि पूर्व गुप्त तो राजा का अपना नाम था और प्रकाशादित्य उसकी उपाधि थी। ये सिक्के घुड़सवार प्रकार और शेर

घातक प्रकार के मिश्रण है। उनमें प्रकाशादित्य घोड़े पर सवार है और तलवार से शेर को चीर रहा है।

यह उल्लेखनीय है कि सोने के प्रारम्भिक गुप्त सिक्के उत्तरकालीन कुषाणों के सिक्कों से बहुत कुछ मिलते हैं। कुषाण सिक्कों का मुख भाग घिस पर जिस पर राजा खड़ा है और वेदी पर आहूति दे रहा है। गुप्त सिक्कों के प्रारम्भिक समय में पाया गया है। पृष्ठ भाग भी कुषाण सिक्कों की नकल थी, जिस पर ऊँची पीठ वाले सिंहासन पर अर्दोक्षो बैठा हुआ था किन्तु बाद के सिक्कों को पूर्णतः हिन्दुओं के रंग में रंग दिया। यूनानी मुद्रालेख के स्थान पर ब्राह्मी मुद्रा लेख अंकित किया गया। कुषाणों की मोर वाली टोपी कभी गुप्त सम्राटों को नहीं पहनाई गयी। अर्दोक्षो का स्थान कमर पर बैठी लक्ष्मी ने ले लिया। राजा द्वारा वेदी पर आहूति देने का कुषाण ढंग कुछ दशकों तक चलता रहा लेकिन गुप्त शासकों ने इसके साथ–साथ नये कलात्मक प्रकार भी प्रचलित किये, जैसे– धनुर्धर प्रकार, युद्ध परशु प्रकार, चीता घातक प्रकार, शेर घातक प्रकार, छत्र प्रकार, घुड़सवार प्रकार, हाथी सवार प्रकार आदि। इनमें से अधिकांश भावों की दृष्टि से मौलिक है और उनमें विदेशी प्रभाव के कोई चिन्ह नहीं है। उनका कला कौशल अत्यन्त उत्तम है। समुद्रगुप्त के अश्वमेघ प्रकार के सिक्के और चन्द्रगुप्त द्वितीय के शेर घातक प्रकार के सिक्के सर्वात्तम है किन्तु कुमार गुप्त प्रथम के समय से कला का पतन प्रारम्भ हो गया।

सिक्कों के मुद्रा लेख पद्यात्मक है और उनमें पर्याप्त काव्यमय योग्यता छलकती है। विजितावनीरवनीपतिः कुमार गुप्तो दिवम् जयति। मुद्रा लेख कुमार गुप्त प्रथम ने प्रारम्भ किया और उसे केवल स्कन्द गुप्त और बौद्ध गुप्त ने ही नहीं बल्कि तोरभान, ईशान वर्मा, अवन्ति वर्मा और हर्षवर्द्धन ने भी नकल किया।

अध्याय-5

मौर्य तथा शुंग काल

खण्ड-क- मौर्य काल

मौर्यकला का उद्गम :-

मौर्य कला की महान कृतियों के उद्गम और स्रोत का प्रश्न पर्याप्त महत्व रखता है। मौर्य युग के पूर्व कला अवशेषों का प्रायः अभाव है, पर साहित्य की ऐसी साक्षी पर्याप्त है, जिससे प्राडमौर्य काल में भी कला परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है। उदाहरण के लिये सहस्त्र स्तम्भों पर निर्मित राजप्रासादों का उल्लेख मिलता है और भी, सभा, आस्थानमंडप या संस्थागारों का, थम्भ या स्थूणों का पुर या नगरों का, गोपुर द्वारों का, प्रकारों का, स्तूप, चैत्य और वेदिकाओं का, शैलगुहाओं का, देवगृह या देवायतनों का, यक्ष सदन या यक्षायतनों का, देव प्रतिमाओं का और कई प्रकार के शिल्पों का जैसे काष्ठकर्म, तक्षण, वयनकर्म, मणिकर्म और सुवर्ण शिल्प आदि का।[1]

जहाँ तक मौर्यकालीन पुरातात्विक संस्कृति का प्रश्न है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उत्तरी काली पॉलिश के मृदभांडो की जिस संस्कृति का प्रादुर्भाव महात्मा बुद्ध के काल में हुआ था, वह मौर्यकाल में अपनी चरम सीमा पर दृष्टिगोचर होती है। इस संस्कृति के वितरण को देखने से स्पष्ट होता है कि उत्तर, उत्तर–पश्चिम, पूर्व एवं दक्कन के विहंगम क्षेत्र में इसका प्रसार हो चुका था। उत्तर–पश्चिम में कंधार, तक्षशिला, उदेग्राम आदि स्थलों से लेकर पूर्व में चन्द्रकेतुगढ़ तक, उत्तर में रोपड, हस्तिनापुर, तिलौरा कोट एवं श्रावस्ती से लेकर दक्षिण में ब्रह्मपुरी, छबोली आदि तक बस संस्कृति के अवशेष मिले हैं। पालि एवं संस्कृत ग्रंथों में कौशंबी, श्रावस्ती, अयोध्या, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, राजगीर, पाटलिपुत्र आदि जिन नगरों का उल्लेख मिलता है वे सब मौर्य युग में पर्याप्त पल्लिवित अवस्था में थे। अनेक शहर तो प्रशासन के केन्द्र थे। किन्तु इस बात को नाकारा नहीं जा सकता कि ऐसे अनेक नगर थे जो प्रसिद्ध व्यापार मार्गो पर स्थित थे। यद्यपि उत्तरी काली पॉलिश से मृदभांडो की संस्कृति से सम्बन्धित बहुत से ग्रामीण स्थलों का उत्खनन नहीं हो पाया है किन्तु मध्य गंगा घाटी में विभिन्न शिल्प विधाओं, व्यापार एवं शहरीकरण का जो विवरण हम पढ़ते

---

[1] प्राचीन भारत का इतिहास – व्रिजेनद्र नारायण झॉ, पृ0 182–83

है, वह एक सुदृढ़ ग्रामीण आधार के बिना अकल्पनीय है।[1]

उपर्युक्त पुरातात्विक संस्कृति का एक अन्य अभिन्न अंग लोहे का निरन्तर बढ़ता हुआ प्रयोग है। इस संस्कृति के सभी महत्वपूर्ण स्थलों से इसके प्रमाण मिले है। इसीकाल की सतहों से छेददार कुल्हाड़ियाँ, दरातियाँ और सम्भवतः हल का फाले भारी संख्या में प्राप्त हुयी है। यद्यपि अश्त्र शस्त्र के क्षेत्र में मौर्य राज्य का एकाधिकार था किन्तु लोहे के अन्य औजारों का प्रयोग किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं था। कौटिल्य के मुद्रा प्रणाली के विस्तृत प्रचलन का जो विहंगम दृश्य प्रस्तुत किया है, उसकी पुष्टि आहत मुद्राओं के अखिल भारतीय वितरण से होती है। ऐतिहासिक काल में पक्की ईंटों और मंडलकूपों का प्रयोग भी सबसे पहले इसी सांस्कृतिक चरण में दृष्टिगोचर होता है। इन दो विशेषताओं के कारण मकान आदि का निर्माण न केवल अधिक स्थाई रूप से सम्भव हुआ[2] अपितु नदी तट पर ही बस्तियों की स्थापना की प्राचीन परम्परा में भी परिवर्तन सम्भव हो सका। मण्डल कूपों के फलस्वरूप जल प्रदाय की समस्या को सुलझाने में काफी सहायता मिली। तंग बस्तियों में वे सोख्तो या शोषगर्तो का भी काम करते थे।

मध्य गंगा घाटी की भौतिक संस्कृति के उपर्युक्त तत्व उत्तरी बंगाल, कलिंग, आन्ध्र एवं कर्नाटक तक पहुँच गये। बांग्ला देश के बोगरा जिले के महास्थान स्थल से मौर्ययुगीन ब्राह्मी लिपि का एक अभिलेख मिला था और इसी प्रदेश में दीनाजपुर जिले में बानगढ़ से उत्तरी काली पांलिश के मृदभांड भी प्राप्त हुए है। उड़ीसा में शिशुपालगढ़ के उत्खनन भी इसी दृष्टिकोण से उल्लेखनीय है।[3] यह स्थल भारत के पूर्वा तट के सहारे–सहारे प्राचीन राजमार्ग पर स्थित धौलि एवं जौगड़ नामक अशोक अभिलेख के पास ही है। इन क्षेत्रों में उपर्युक्त भौतिक संस्कृति के तत्वों का प्रस्फुटीकरण मौर्ययुगीन मगध के सम्पर्क के कारण ही हुआ होगा। यद्यपि आंध्र एवं कर्नाटक क्षेत्रों में हम लोहे के हथियार एवं

---

[1] प्राचीन भारत की संस्कृति व सभ्यता, दामोदर धर्मानन्द कौशांबी, पृ0 198
[2] प्राचीन भारत, एल0पी0 शर्मा, पृ0 164
[3] प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति व सामाजिक संरचनायें, रामशरण शर्मा, पृ0 119–22

उपकरण पाते है किन्तु वहाँ पर लोहे के आगमन का श्रेय महापाषाण संस्कृति के निर्माताओं को है, फिर भी इन क्षेत्रों में कुछ स्थलों से न केवल अशोक के अभिलेख मिले हैं बल्कि ई0पू0 तृतीय शताब्दी में उत्तरी क्षेत्र में काली पॉलिश वाले मृदभांड भी प्राप्त हुए है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी तट के बाद उपर्युक्त सांस्कृतिक तत्व मौर्य सम्पर्क के कारण दक्कनी पठार तक पहुँच गये।[1]

मौर्य कलाओं का स्थान भारत की प्राचीनतम् कलाओं में है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के पाये गये कलात्मक अवशेषों के पश्चात् अच्छे कला अवशेष हमें मौर्य कला के ही प्राप्त होते हैं और उनमें भी मुख्यतया सम्राट अशोक के समय के जब से भारतीय स्थापत्य कला में पत्थर का प्रयोग आरम्भ हुआ।

मूर्ति कला व स्थापत्य :-

भारत में कला की प्रेरणा-शक्ति सर्वदा धर्म रहा है। इस कारण भारतीय मूर्ति कला और स्थापत्य कला मुख्यतया देवी देवताओं की मूर्तियों मंदिरों, विहारो, चैत्यो, स्तूपों आदि के निर्माण द्वारा व्यक्त हुई। मौर्य कला के बारे में भी यही कहा जा सकता है। मौर्य कला के जो भी अवशेष प्राप्त हुए है वे सभी कला कृतियाँ सम्राट अशोक के द्वारा धम्म विजय के हेतु निर्मित कराई गई थी।[2] परन्तु प्राचीन भारतीय कला और प्राचीन भारतीय साहित्य में एक अन्तर है जबकि प्राचीन भारतीय साहित्य ब्राह्मणों, साधुओं और धार्मिक विद्वानों द्वारा निर्मित किये जाने के कारण धर्म से बहुत अधिक प्रभावित हुआ, भारतीय कला धर्म से प्रेरणा प्राप्त करते हुए भी सौन्दर्य रचना से विमुख नहीं हुई क्योंकि उसका निर्माण उन कलाकारों ने किया जिनके लिये धर्म के स्थान पर कला प्रधान थी। इस कारण भारतीय कला की प्रेरणा शक्ति का आधार जहाँ धर्म रहा वहाँ भौतिक सौन्दर्य की रचना भी। भारतीय कला की साधारण प्रेरणा

---

[1] चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल, राधाकुमुद मुकर्जी, पृ0 205-7

[2] डा0 आर0सी0 मजूमदार- प्राचीन भारत, पृ0 194

शक्ति निरन्तर ब्रह्म की खोज करना इतना अधिक नहीं है जितना कि उस प्रसन्नता को प्राप्त करना है जिसे कलाकार ने इस संसार में पाया।[1] आगे आने वाले समय में भारतीय कला का विकास, इस विचार को अधिक स्पष्ट कर देता है परन्तु मौर्य कला कृतियों में भी हमें कलाकारों का सौन्दर्य और कला के प्रति प्रेम स्पष्ट दिखाई देता है जिसके कारण श्रेष्ठ कलाकृतियों का निर्माण सम्भव हुआ।

मौर्यकालीन मूर्तिकला के विकास की दो अवस्थायें थी, पहली अवस्था में उत्तम नमूनों को प्रस्तुत करने की योग्यता और भावों को व्यक्त करने की सुसंस्कृत दक्षता थी। अशोक के स्तम्भों में यह कला देखने को मिलती है।[2]

किन्तु प्रश्न यह है कि अशोक के सिंह शीर्ष जैसी श्रेश्ठ कला भी क्या उससे पूर्व थी जिसके शिल्पकर्म की पूर्णता उसे गोलिया कर नतोन्नत बनाने चतुर्भुज दर्शन की उलेरी और सजावट के विविध अंगों में थी। मौर्यकालीन नमक का कोई उदाहरण उससे अधिक पूर्व के युगों में या कालान्तर में नहीं मिलता।

मार्शल के अनुसार मौर्यकला का आदर्श ईरान की हखामनी कला मौर्य कला का आदर्श थी जो बाहलील यवनों के माध्यम से भारत आई थी।

पाटलीपुत्र का मौर्य राजप्रासाद शूरपा और पर्सिवोलिस के राजप्रासादों के अनुकरण पर बनाया गया। ईरान में पशु शीर्षक स्तम्भों का आर्विभाव हुआ। लम्बी चिकनी लाट वाले मौर्य स्तम्भ ईरानी स्तम्भों की ही अनुकृति है। जैसे मुरघुट की घाटी में इस्तख, नख्श–ए–रूस्तम और पर्लिवोलिस स्थानामें पाये गये हैं। अशोक के शिल्पियों ने अपनी चमकीली ओप का रहस्य ईरानी शिल्पियों से सीखा जिन्होंने इस कला के नमूने पर्सिवोलिसा आदि स्थानों पर छोड़े थे। मार्शल के अनुसार भारत में ईरानी प्रभाव

---

[1] डा0 ए0एल0 वाशम, द वण्डर दैट वाज इन इण्डिया, पृ0176

[2] हैवेल – हिस्ट्री ऑफ आर्यन, पृ0 69–70

बाहलील प्रदेश के द्वारा आया, जहाँ ईरानी संस्कृति के कई समृद्ध केन्द्र थे। सिल्यूक वंशी राजाओं के काल में भारतीय राजाओं ने वहाँ अपने केन्द्र बनाये। मार्शल ने हाथ मारकर घोषणा की कि सारनाथ सिंह स्तम्भ भारतीय विचार, अभिव्यक्ति और निर्माण इन तीन दृष्टियों से भारतीय न होकर ईरानी है।[1]

डा0 निहाररंजन ने भारतीयों के पर्शियनों एवं यूनानियों से राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए अपना मत व्यक्त किया है कि मौर्यकला पर्शियन तथा यूनानी कला से प्रभावित थी।[2] एक लम्बे समय तक पर्शियन और यूनानियों के राजनीतिक सम्बन्ध भारत से रहे। मौर्य सम्राटों के सम्बन्ध उत्तर पश्चिम के सभी यूनानी सम्राटों से अच्छे रहे हैं और पर्शिया में यूनानी तथा पर्शियन कला का जो मिश्रण हो चुका था, उससे भारतीय परिचित थे। यह प्रमाणित है कि पर्शिया का डेरियस प्रथम पहला शासक था, जिसने अपने आदेशों के प्रचारार्थ पत्थर के अभिलेखों का प्रयोग किया। जैसाकि भारत में अशोक ने अपनी धम्म विजय के लिए किया था। यह भी प्रमाणित है कि भारत के सांस्कृतिक व व्यापारिक सम्पर्क भी कई सदियों तक पर्शियनों और यूनानियों से रहे थे। इन सम्पर्को के कारण भारतीयों ने पर्शियनों तथा यूनानियों के कुछ व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार, राजनीतिक विचार, मुद्रा कला आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। उसी प्रकार भारतीयों ने कला के क्षेत्र में मुख्यतया स्थापत्य और मूर्तिकला के क्षेत्र में भी पर्शियनों और यूनानियों से कुछ प्राप्त किया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।[3]

निसंदेह पर्शियनों ने स्थापत्य और यूनानियों ने मूर्तिकला में भारतीयों से पहले उन्नति की थी। ऐसी स्थिति में विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों के कारण मौर्य कला पर्शियन तथा यूनानी कला से प्रभावित हुई थी यह निसंकोच स्वीकार किया जा सकता है।

---

[1] भारतीय कलायें – वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0 117

[2] डा0 नीहाररंजन रे – एज ऑफ द नन्दस एण्ड मौर्याज, पृ0 158

[3] एल0पी0 शर्मा – प्राचीन भारत (लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशन आगरा) पृ0 218

भारतीय सौन्दर्य कला में भारत का अंश बहुत कम और पश्चिमी एशिया से प्राप्त किया अंश अधिक है। प्राचीन पूर्व में पश्चिमी एशिया के साथ भारत को भी सम्मिलित किया जा सकता है। और इस सम्पूर्ण क्षेत्र में विभिन्न देशों के व्यक्तियों में सांस्कृतिक आदान–प्रदान हुआ। भारत भी उसमें एक सहयोगी था और उसे भी अन्य देशों से कुछ प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ।[1]

मौर्य युग के पहले भी भारतीय कलाकार मिट्टी और लकड़ी की कलाकृतियों का निर्माण करते थे, जिनके अवशेष विभिन्न स्थानें पर प्राप्त हुए हैं, परन्तु उनका आकार छोटा होता था और वे शीघ्र नष्ट हो जाने वाली थी। मौर्य सम्राटों का संरक्षण प्राप्त होने से उसका विकास हुआ। इस कारण मौर्य कला में भारतीयता है। वह एक ऐसी कला है जिसका आधार भारतीय है परन्तु जिसमें स्वतंत्रता पूर्वक पर्शियन तथा यूनानी कला से प्रेरणा और ज्ञान प्राप्त किया।[2]

अशोक के स्तम्भ पर घंटी के आकार का यूनानी शीर्ष दिखाई देता है। यह शीश भारतीय कला की वस्तुओं पर साधारणतया पाया जाता है। भारतीय कला में सांकेतिक लक्षण का प्रयोग होता है, अतः इस कला को ईरानी की कला की घंटी का आकार समझना भूल है। स्तम्भ पर फूल का संकेत है न कि घंटी का। यह विष्णु भगवान सम्बनधी आकाश का नील कमल है। इसकी आकृति एक क्षत्र की सी है जो विश्व राज्य की भारतीय भावना का द्योतक है। यह विचार भारतीय भावना का द्योतक है। यह विचार भारतीय राज्य वंशों का निजी विचार है। कमल सम्बन्धी सांकेतिकता भारतीय है ईरानी नहीं।[3]

कमल की गुलाबी पंखुड़ियाँ ऊषा सुन्दरी के वस्त्र थे और उसका आवरण उदीयमान सूर्य का प्रतीक है। कमल का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय वैदिक परम्परा से जोड़ा जाता है।

---

[1] कुमार स्वामी – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ0 187

[2] ई0वी0 हैवेल – द हिस्ट्री ऑफ एरियन रूल इन इण्डिया, पृ0 245

[3] वी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 316

चन्द्र गुप्त सभा का वास्तु विन्यास उसके स्तम्भ काष्ठ शिल्प की चमक, यह सब भारतीय परम्परा के अनुकूल थी। मौर्य राज्य प्रसाद की कला शूषा और एक बटाना के प्रासादों से बंद कर थी। अतः बाहरी शिल्पियों द्वारा मौर्य प्रासाद का निर्माण असम्भाव्य है। यदि वे शिल्पी ईरान से आये थे तो उन्होंने अपने यहाँ की कला में अपने कौशल का कहीं अधिक अच्छा परिचय दिया होता।[1] शिल्प के वे आचार्य जिन्होंने बराबर पहाड़ी में चट्टानी गुफाओं का निर्माण किया। पूर्ववर्ती काष्ठ शिल्प में पूर्णतयः दक्ष थे। इसके अतिरिक्त सपाट और ढोलाकार छतें गर्भगृह और आयताकार मण्डप, द्वार तोरण, सलामी दार पार्श्व स्तम्भ, कमानीदार गोलम्बर, और तिकौने कछौटे, पंजर भरे हुए मुखपट्ट, लम्बी धरन एवं सार्वाधिक महत्वपूर्ण सूर्य के प्रकाश जैसी चमकीली प्रभा– यह सब भारतीय परम्परागत कला में ही निपुण वास्तु शिल्पियों के लिए चिर अभ्यस्त थे। इन्हें बाहर से सीखने की आवश्यकता नहीं थी। वैदिक युग से लेकर सहस्त्रों वर्षो तक कला की सुप्रतिष्ठित परम्परा इस देश में थी। और उसी में निपुण मौर्य युग के शिल्पी थे।

मौर्य काल की कला के दो रूप मिलते हैं, एक तो राज्य तक्षको द्वारा निर्मित कला जो कि मौर्य प्रासाद और स्तम्भों में पाई जाती है। मथुरा के अजायबघर में रखी गई परखम से पाई गई मूर्ति को दूसरा रूप माना जा सकता है। यही रूप दीदारगंज की चामर ग्राहिणी और बेस नगर की यक्षणी में देखने को मिलता है। इसे लोक कला माना जा सकता है। प्राच्य कला से सम्बन्धित प्रेरणा का श्रोत स्वयं राजा था। यक्ष यक्षणियों में हमें केवल लोक कला का रूप मिलता है। लोक कला के रूपों की परम्परा पूर्व युगों से काष्ठ और मिट्टी में चली आई थी। अब उसे पाषाण के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया।[2]

---

1 वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला पृ0 118

2 विजेन्द्र नाराण झा और कृष्ण मोहन श्रीमाली– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 216

अद्वितीय राजप्रासादों युग :–

मौर्य युग में अद्वितीय महलों व नगरों का निर्माण हुआ था। सदियों पश्चात् आने वाला चीनी यात्री फाहयान भी पाटलिपुत्र के महलों को देखकर आश्चर्य चकित रह गया था।[1]

मौर्य काल तक भारत का नगर तथा दुर्ग वास्तु पर्याप्त सराहनीय हो चुका था। पाटलिपुत्र का जो नगर वर्णन मेगस्थनीज ने किया है और पुरातात्विक उत्खननों से जो चन्द्र गुप्त मौर्य के महल के अवशेष प्राप्त हुए है, उनसे मौर्यकाल के वास्तु का पता चलता है। स्वयं मेगस्थनीज अपनी पुस्तक "इण्डिका" में लिखता है कि चन्द्रगुप्त के इस राजप्रासाद में सूसा और एक बताना के राजमहलों को लजा दिया है।

एरियन भी लिखता है कि राजप्रासाद की शानोशौकत की मुकाबला न तो सूषा और न ही एकबतना ही कर सकते हैं। यह प्रासाद सम्भवतः वर्तमान पटना के निकट कुभ्रहार ग्राम के समीप था। कुम्रहार ग्राम की खुदाई में प्रसाद के सभा भवन के अवशेष प्राप्त हुए है। उसने प्रासाद की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। यह सभा भवन खम्भों वाला हाल था। सन् 1914–15 की खुदाई तथा 1951 की खुदाई में कुल मिलाकर 40 पाषाण स्तम्भ मिले हैं जो इस समय भग्नअवस्था में है। इस सभा भवन का फर्श और छत लकड़ी के थे।[2] भवन की लम्बाई 140 फुट और चौड़ाई 120 फुट है। भवन के स्तम्भ बलुआ पत्थर के बने हुए और उनमें चमकदार पॉलिश की गई थी। फाहयान ने अत्यन्त भाव प्रवण शब्दों मे इसकी प्रशंसा की थी। उसके अनुसार "यह प्रासाद मानव कृति नहीं वरन् देवों द्वारा निर्मित है।"[3]

मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र सोन और गंगा के संगम पर बसा हुआ था। यूनानी

---

[1] बील का अनुवाद, पृ0 4

[2] प्राचीन भारत का इतिहास, भगवतशरण उपाध्याय, पृ0 143

[3] प्राचीन भारत का इतिहास, विजेन्द्र नरायण झॉ और श्रीमाली, पृ0 218

राजदूत के वर्णन के अनुसार "पालिम्बोथ्रा"[1] की लम्बाई 80 स्तादिया[2] और चौड़ाई 15 स्तादिया[3] है। इसकी रक्षा 6 प्लेथ्रा[4] चौड़ी और तीस हाथ गहरी खाई करती है। इसके अतिरिक्त नगर की रक्षा के लिये विशाल प्राचीरो वाली लकड़ी की एक दीवार खड़ी है जिसमें 64 द्वार और 560 बुर्जियाँ है।" राजप्रासाद एक विस्तृत उद्यान में खड़ा था जहाँ रंगबिरंगी मछलियों से भरे सरोवर थे। लता गुग्लों के कुंज थे। छायादार वृक्षों की कतारे थी जिनकी डालियाँ मालियों और काष्ठकारों ने अपनी कला से एक दूसरे में गूंथ दी थी। उद्यान में पले हुए मयूर तथा अन्य पक्षी थे।[5] राजप्रासाद प्रस्तर का बना था जिसके सुनहरे स्तम्भों पर चाँदी के पक्षी बिठाये गये थे।[6] यह चित्र अधिकतर दारा और क्षयार्षा (जरक्सीज) के महलों का है। कुमारस्वामी का कथन है कि राजप्रासाद का वास्तु पर्सिपोलस के हखमनी महलों के अनुसरण में बना था।[7] पटना के निकट की ही खुदाई में एक टील लकड़ी का परकोटा भी मिला है। स्तम्भों में से एक का शीर्ष अत्यन्त आकर्षक और दर्शनीय है। राज प्रासाद के स्तम्भों की संख्या खुदाई के समय सौ गिनी गई थी।[8] नगर का वह परकोटा विचित्र रूप से बना था।

रोलैण्ड लिखते है कि वास्तविक राजप्रासाद से भी कहीं अधिक महत्व के अवशेष उस दरबार हाल के हैं जिसके आगे एक प्लेटफार्म बना था। यह ठोस लकड़ी का बना था और मैसोपोराभिया और ईरान के राजप्रासादों के प्लेटफार्म की तरह था।[9]

---

[1] पाटलिपुत्र

[2] साढ़े नौ मील

[3] पौने दो मील

[4] 600 (छः सौ) फुट

[5] प्राचीन भारत का इतिहास, भगवतशरण उपाध्याय, पृ0 142-43

[6] रोलैण्ड, पृ0 36

[7] हिस्ट्री, रोलैण्ड, पृ0 19

[8] यह गिनती स्पूनर द्वारा की गई थी।

[9] हिस्ट्री, रोलैण्ड, पृ0 37

मौर्यकला का सूर्य तो चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के शासनकाल में तपा। अशोक ने अपने पितामह का विशाल साम्राज्य अपनी पैतृकी में पाया था, जिसे उसने कलिंग करके विस्तृत किया। पर इसी युद्ध की बर्बर हिंसा से उद्विग्न होकर वह युद्धों से विरत हो गया था और बौद्ध धर्म को स्वीकार कर उसने "धम्मविजय" को दिग्विजय और "धम्मघोष" को भोर्रघोष माना था। अशोक ने अपने पितामह के राजप्रसाद का अधिकाधिक विस्तार किया और उसे अपनी कला से और अधिक सुन्दर बना दिया था। इसी परिवर्धन और कला निखार का यह परिणाम था कि फाहयान ने उस राजप्रासाद को दैत्यों का बताया।[1]

अशोक प्राचीन भारत के महत्तम निर्माताओं में से एक था। उसकी कला अनेक अंशों में असाधारण सिद्ध हुई। उसकी निर्माण क्रिया निःसीम थी। परम्परानुसार उसने कश्मीर में श्रीनगर और नेपाल में ललितपत्तन नामक नगर बसाये। बौद्ध परम्परा में उसे यक्षों की सहायता से 80,000 स्तूपों का निर्माता कहा गया है। अशोक की निर्माण क्रिया प्रधानतः चार भागों में बाँटी जा सकती है :-

(1) नगर

(2) गुहागृह

(3) स्तूप

(4) स्तम्भ

साहित्य अनुश्रुतियों में अशोक एक ऐसे महान निर्माता के रूप में वर्णित है जिसने अनेक नगर बसाये, स्तूप और विहारों का निर्माण करवाया तथा कलात्मक मूर्तियाँ बनवाई। उसने 84,000 स्तूप बनवाये थे।[2] 84,000 धर्मस्कन्द और विहार बनवाये।[3] दिव्यावदान में वह उपगुप्त से कहता है कि "जिन स्थानों पर भगवान बुद्ध ने निवास किया था मैं उनके दर्शन को जाऊँगा, वहाँ पूजा करूँगा और

---

[1] भारतीय कला की भूमिका, भगवतशरण उपाध्याय, पृ0 40

[2] दिव्यावदान के अनुसार

[3] महावंस के अनुसार

ऐसे निर्माण करवाऊँगा जिनसे भावी सन्ततियाँ भी लाभ उठायें। इस परस्पर की आंशिक पुष्टि अशोक के अभिलेखों में प्रदत्त उसकी कुछ उक्तियों से हो जाती है। इसके अतिरिक्त चीनी यात्री फा-शिएन तथा शुआन-च्वांग ने ऐसे निर्माण कार्यों का उल्लेख किया है जो उनकी यात्रा के समय अशोक द्वारा निर्मित माने जाते थे। आजकल भी उसके द्वार निर्मित कुछ गुहायें, स्तूप, पशुमूर्तियाँ तथज्ञ स्तूपावशेष मिलते हैं।

अशोक कालीन कला के निम्न अवशेष प्राप्त हुए हैं :-

(1) ईंट और चूने से चिने हुए स्तूप जो कालान्तर में बढ़ाये या परिवर्धित किये गये।

(2) एकाश्म ऊँचे स्तम्भ जिन पर पशुओं की आकृति के शीर्षक हैं।

(3) एकाश्म वेदिका, जैसी जगत सिंह स्तूप की हर्मिका में लगी थी और अब सारनाथ में है।

(4) हर्मिका के छत्र जिनके कई खंड सांची में मिले हैं।

(5) चट्टान में उत्कीर्ण चैत्यगृह या गुहा जैसी गया के पास बराबर पहाड़ियों में मिलती है।

(6) उड़ीसा के धौली नामक स्थान में चट्टान को काटकर उत्कीर्ण किया गया हाथी।

(7) कालसी में चट्टान पर उत्कीर्ण हाथी की आकृति।[1]

<u>अशोक कालीन नगर</u> :-

परम्पराओं में अशोक को कई नगरों का निर्माता कहा गया है। पहिला नगर है श्रीनगर जो अब भारत के कश्मीर राज्य की राजधानी है।[2] विस्तता के तट पर अशोक द्वारा निर्मित इस नगर में 96 लाख घर थे। यह संख्या स्पष्टतः अतिरंजित है। यह कथन सत्य हो सकता है कि अशोक ने वहां एक पाषाण दुर्ग, अशोकेश्वर नामक मन्दिर तथा अनेक स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया था।[3]

---

[1] इस आकृति को लेख में "गजतम" कहा गया है।

[2] कल्हण की राजतरंगिणी

[3] कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में ही यह उल्लेख भी किया है।

इसी प्रकार इस कथन को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अशोक ने समस्त कश्मीर को बौद्ध संघ को दान में दे दिया था। परन्तु यह कथन सत्य हो सकता है कि अशोक ने वहां 500 विहार और अनेक स्तूप बनाये थे।[1] अशोक ने देवपत्तन नामक नगर नेपाल में बसाया था। जब वह अपनी पुत्री चारूमति के साथ वहां गया था। चारूमति का विवाह क्षत्रिय देवपाल के साथ हुआ था। स्वयं चारूमति ने भी वहां एक भिक्षुणी विहार ओर देवपाल ने एक भिक्षुविहार बनाये थे। अशोक द्वारा नेपाल में बनवाये गये स्तूप अभी तक बहुत कुछ अपनी पुरानी शैली में विद्यमान है।[2]

अशोक ने अपनी राजधानी पाटिल्यपुत्र में एक प्रासाद और सभाभवन बनवाया था। अशोक ने पाटिलपुत्र की प्राचीर और अन्य भवनों में भी काष्ठ के स्थान पर पाषाण का प्रयोग करके उनका पुनर्निर्माण कराया होगा। कैशम का अनुमान है। कि काष्ठ के स्थान पर पाषाण का उपयोग ईरानी तो रहा ही होगा, गंगाधारी में बनो का धीरे–धीरे कम होते जाना इसका मुख्य व्यवहारिक कारण होगा।[3]

स्तूप और बिहार

अशोक के द्वारा निर्मित नगरों और प्रासादों के अवशेष तो अब नहीं मिलते लेकिन उसके स्तूपों और विहारों के कुछ अवशेष अब भी उपलब्ध है। चीनी यात्रियों ने भी कुछ ऐसे स्तूप और विघरों की चर्चा की है जो उनको मिली सूचनानुसार अशोक ने बनवाये थे।[4] महाबंस में कथा आती है कि एक बार अशोक ने मोग्गलिपुत्र से पछा, भद्रे । भगवान् ने जिस धर्म का उपदेश किया उसका विस्तार कितना है? तिस्स ने बताया, धर्म में कुल 84,000 खण्ड है। तब अशोक ने निश्चय किया कि वह हर खण्ड के लिये एक विहार बनवायेगा। इस प्रकार उसने भारत में 84,000 नगरों को चुन उनमें

---

[1] शुआन च्वांग– शुआन च्वांग इनमें से 100 विहार और 4 स्तूप देखने का दावा करता है।

[2] श्रीराम गोयल– रिलीजियस हिस्ट्री ऑफ एन्शियेंट इडिंया, वो0– II, पृ0 107

[3] ए0एल0 बंशम– द वण्डर दैट वाज इन इण्डिया, पृ0 248

[4] दिव्यावदान में उसके स्तूपों को गिरिश्रृंगकल्प (पर्वत की चोटी की तरह ऊँचा) कहा गया है।

अपने आधीन राजाओं द्वारा 84,000 विहारों का निर्माण कराया। फाह्यान के अनुसार अशोक ने मूल आठ स्तूपों को खुलावकर उनमें प्राप्त बुद्धावशेषों पर 84,000 स्तूप बनवाने का निश्चय किया था। बुद्ध के अवशेषों पर बने स्तूपों से अजातशत्रु ने धातु अवशेष निकलवा लिये थे और इसे गड्ड-मड्ड करके सुरक्षार्थ भूमि के अन्दर निर्मित एक कक्ष में रखवा दिया था। अशोक ने उनको निकलवाकर उनके ऊपर 84,000 विहार बनवाये यह परम्परा तो निश्चय ही अतिरंञ्जित है कि अशोक ने 84,000 स्तूप या विहार बनवाये थे परन्तु उनमें सन्देह नहीं है कि उसने बहुत से विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया होगा।[1]

महात्मा बुद्ध ने स्वयं कही अपनी अस्थियों पर स्तूप निर्माण करने का आदेश दिया था। बाद में स्तूपों के निर्माण पर बहुत बल दिया गया और वे बौद्ध धर्म की एक विशेषता बन गये। स्तूप अर्द्ध गोलाकृति के होते थे यदि एक गोल गेंद को बीच से काटकर उसके आधे भाग को भूमि पर रख दिया जाय तो उसकी आकृति की समता एक स्तूप की आकृति से की जा सकती । कहीं-कहीं ये पत्थर के बनाये गये थे अन्यथा इसमें से अधिकांश का भीतरी भाग कच्ची ईटों का और बाहरी भाग पकी ईटों का बनाया जाता था। इसके ऊपरी भाग के मध्यम में लकड़ी अथवा पत्थर का एक छत्र सा बनाया जाता था। स्तूप की परिक्रमा करने के लिये उसके चारों ओर पद मार्ग बनाया जाता था। पदमार्ग को घेरते हुए लकड़ी या पत्थर की चारदीवारी बनायी जाती थी। परन्तु सम्भवतः यह कार्य पर्याप्त समय के बाद में किया गया। महात्मा बुद्ध के बाद अन्य महान भिक्षुओं की अस्थियों पर भी स्तूप बनाये गये।[2]

परम्परा पर यदि विश्वास करें वो अशोक ने अनन्त संख्या में स्तूपों का निर्माण कराया। पर आज उसके बनवाये स्तूपों का निर्माण कराया। पर आज उसके बनवाये स्तूपों के अवशेष अधिक संख्या में प्राप्त नहीं है। मालाबार के अस्थि संचापक गुहाओं में लौरिया, नन्दनगढ़ के शवधानों के बाद

---

[1] प्रियदर्शी अशोक, श्रीराम गोयल, पृ0 139-140

[2] प्राचीन भारत, एल0पी0 शर्मा, पृ 164

भारत का प्राचीनतम अस्थिसंचायक स्तूप शायद वस्ती जिला के पिप्रध्वा का है। हो सकता है कि वह अशोक से भी पहले का हो बुद्ध के निर्वाण के शीघ्र बाद ही बना हो।[1]

स्तूप शब्द का अर्थ है एकत्रीकृत संचय। किसी वस्तु का अम्बार, ईटों का ढेर, पत्थरों का एक के ऊपर एक संचित टीला। स्तूप का बहुत कुछ अर्थ चैत्य भी है। स्तूप पहले केवल मृत्यु से सम्बन्धित थे और उनका प्रयोग शव या मृत अस्थियाँ रखने के लिए किया जाता था। भारत के प्राचीनतम् स्तूप साधारणतः केवल एक प्रकार के टीले हैं।

ऋग्वेद के मृत्यु प्रकरण में एक ऐसा मन्त्र है जिसमें पृथ्वी से प्रार्थना की गई है कि वह मृत शरीर को अपनी कोख में जगह दे। यह जगह बड़ी कोमलतापूर्वक प्रदान की जानी चाहये जिससे कि शव पर मिट्टी का भार ज्यादा न पड़े।[2]

जुबो दुबुई का मत है कि मालाबार की पर्वतीय अस्थि समाधि वास्तव में एक खोखला स्तूप ही है जो कि वैदिक कालीन है।[3] खोखले स्तूप अपने उद्देश्य के विचार से मिश्र पिरामिडों से और ठोस बनावट के रूप में सुमेरी बाबुली जग्गुरत से मिलते हैं।[4]

मौर्य कालीन स्तूपों पर यदि जग्गुरत और पिरामिड़ों का प्रभाव पड़ाहो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि जिस ईटों क`विशाल ठोस अम्बार के रूप में स्तूपों को जाना जाता है वे अशोक के बाद ही बने जब सिन्ध और पश्चिमी पंजाब दो सौ साल तक ईरान के अधिकार में रह चुके थे, जब बाबुल, असुर और मिस्र भी ईरान के प्रान्त थे। कुछ आश्चर्य नही जो

---

1 भारतीय कला की भूमिका, भगवत शरण उपाध्याय, पृ0 43

2 ऋग्वेद, 10, 11, 18

3 वैदिक ऐटिक्विटीज, पाण्डेचेरी एवं लन्दन, 1922

4 हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट– कुमार स्वामी, पृ0 12

स्तूप का वर्तमान रूप अशोक की कृतियों की ही भांति ईरानी माध्यम से ही प्रभावित हुआ हो यह ध्यान देने योग्य बात है कि स्तूप की मेघी का सोपान मार्ग ठीक वेसे ही अंड के बाहर से उस पर जाता था, जैसे जग्गुरत का सोपान मार्ग।[1]

फाह्यान लिखता हे कि विहारों में मोग्गलान, सरिपुत, आनन्द, अभिधम्म, विनय आदि के स्मारक स्तूप बनाने की प्रथा चल पड़ी थी। ये स्तूप वस्तुतः वेदी के रूप में बनाये जाते थे।

हिन्दू समाधि अथवा शवाधान लगता है जितने स्तूप आज हमें उपलब्ध हैं वे सभी या तो बौद्धों के हैं या जैनों के। वस्तुतः जैनो के स्तूप भी नष्ट हो चुके हैं बौद्ध स्तूप ही अपनी शालीनता लिये खड़े हैं और अपनी आकृति व स्वरूप का परिचय देते हैं। बुद्ध के निर्वाण काल के कुछ समय बाद से शुरू होकर अगले काल तक बनते चले गये थे।[2]

स्तूपों की आकृति साधारणतया अर्द्ध वर्तुलाकार होती थी, ऊँची ठोस दिखती थी। प्राचीन स्तूप भीतर से खोखले या ठोस कच्ची ईटों के बने हैं और पत्थर की वेदिका से घिरे हैं। मिट्टी की ईटों के बने होने पर भी प्रायः उन्हे पक्की जुड़ाई से ऊपर ढक दिया गया हे। साँची और सारनाथ के स्तूप इसी प्रकार के हैं। स्तूपों के प्रधानतः तीन भाग होते हैं– सबसे नीचे का आधार भाग मेघी कहलाता है। मेघी की भूमि, रेलिग तथा स्तूप के बीच प्रदक्षिणा भूमि का काम देती है। वेदी के ऊपर सीढ़ियों से चढ़ते हैं। स्तूप के ठोस मध्यासीन भाग को गर्भ कहते हैं जो गुम्बज के आकार का होता है। ऊपर से अंडे के समान दिखाई देने के कारण, इसे अंड भी कहा जाता है। इसी के नीचे का भाग जो अस्थियां रखने के लिये खोखला होता है गर्भ कहलाता है। ठीक मदिरों के गर्भ ग्रह की तरह जिसमें

---

[1] भारतीय कला की भूमिका, भगवत शरण उपाध्याय, पृ0 25–26

[2] प्राचीन भारतीय इतिहास, उपाध्याय, पृ0 27

किसी मूर्ति की स्थापना होती है अंडे के ऊपर हर्मिका होती है, छोटी वेदिका सहित छत्र होता है। वेदिका के वीच से उठने वाली धातु की लोहे की छड़ होती है जो तांबे छत्र को उठाये रहती है। छत्र दंड अंड को भेदता हुआ गहरा चला जाता है। चोटी के कलश को वर्ष स्थल कहते हैं। यह स्तूप का साधारण रूप है।

स्तूप को घेरने वाली वेदिका अथवा रेलिंग का वास्तु बिन्यास भी बहुत आकर्षक है– इसके भी अनेक भाग हैं। आधार को आलम्बन कहते हैं। बीच–बीच में स्तम्भ होते हैं, जिनसे होकर वेदिका की पट्टिकायें जाती हैं– इन्हें सूची कहते हैं। स्तम्भों के सूराख, जिनमें सूचियां प्रवेश होती हैं उन्हें सूची मुख कहते हैं।[1]

तीनों में सबसे ऊपर की बाढ़, शीर्षपट कहलाती है। वेदिका में चारों दिशाओं में चार तोरण द्वार होते हैं– द्वार के ऊपर एक के ऊपर एक तीन तोरण बने होते हैं। तोरणों पर अर्ध चित्र उभारें होते हैं। समूची वेदिका और तोरण लकड़ी के वने होने का आभास उत्पन्न करते हैं।[2]

यद्यपि आजकल उपलब्ध ऐसे स्तूप गिने चुने ही है, जिन्हें मूलतः मौर्य कालीन माना जा सके। अशोक के निगाली सागर स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है है कि उसने कनक मुनि, बुद्ध के स्तूप का आकार दुगना करवाया था। सांची के महान स्तूप का निर्माण भी उसी ने करवाया था। मौर्य कला के विकास की अवस्था भरहुत और सांची के स्तूपों में देखने को मिलती है। इनमें जातक कथाओं में वर्णित बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनायें चित्रित की गयी है5 इसको प्रारम्भिक कला कहा जा सकता है। कभी–कभी यह कला तकनीकी दृष्टि से उच्च शिखर को प्राप्त हुयी. किन्तु सामान्यतः दूसरे

---

[1] प्राचीन भारत, रीता शर्मा, पृ0 98

[2] प्रियदर्शी अशोक, श्रीराम गोयल, पृ0 140

सुसंस्कृत और परिष्कृत लक्षण देखने को मिलते हैं, यह निम्न कोटि की कला है, दूसरी शैली भी इतनी विशुद्ध नहीं है, इसमें आर्यों और अनार्यों की जीवन प्रणाली के मिश्रण द्वारा कलाकार की निजी जातीय विशेषता को व्यक्त किया गया है।[1]

इस स्तूप की जो उल्टे कटोरे की आकृति का है, असली ऊँचाई 77.5 फुट रही होगी, इसके आधार पर व्यास 110 फुट है। अशोक के काल में इसका आकार कुछ छोटा रहा होगा। इस प्रकार का स्तूप वनवाया हो और शुंग काल में उसकी मात्र आकार वृद्धि ही हुयी है।[2] यह स्तूप अब अनुपलब्ध है, केवल इसकी वेदिका का एक अंश शेष है, जिस पर मौर्य कालीन लिपि में, लेख लिखा है। अशोक के द्वारा निर्मित कोई बौद्ध विहार अभी तक नहीं मिला है। बराबर की पहाड़ियों में, उसके द्वारा निर्मित कुछ गुहायें मिली है, परन्तु उनका निर्माण उसने आजीवकों के कलये करवाया था, बौद्ध भिक्षुओं के लिये नहीं।

सातवीं शती ई0 में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री होन शांग ने 80 से अधिक ऐसे स्तूपों और बिहारों का उल्लेख किया है जिनको उस समय अशोक द्वारा निमिंत माना जाता था।[3] होन शांग के अनुसार पाटिलपुत्र का अशोकाराम इतना विशाल था कि उसमें एक सहत्र भिक्षु बैठ सकते थे। अन्य परम्पराओं के अनुसार वहां पर हुये प्रथम पंच वार्षिक सम्मेलन में तीन लाख भिक्षु एकत्रित हुये थे।

ह्वेन सांग ने लिखा है कि कपिशा (गांधार) का पीलूसन स्तूप 100 फुट ऊँचा था तथा नगर द्वार का स्तूप 300 फुट ऊँचा था। पुष्कलावती में एक संघाराम के समीप करीब 100 फुट ऊँचा

---

1 दि हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूप इन इण्डिया, ई0बी0 हैवेल, पृ0 248

2 बिम्बसार टु अशोक, एस0 चट्टोपाध्याय, पृ0 120

3 अशोक (हिन्दी), राधाकुमुद मुकर्जी, पृ0 68-9 वाटर्स ट्रेवेल्स 2, पृ0 98

स्तूप था। तक्षशिला में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप उस स्थान पर था, जहां कुनाल को अंधा किया गया था। इसी प्रकार कश्मीर, थानसेर, मथुरा, कन्नौज, कौशाम्बी, प्रयाग, विशाखा, कपितवस्तु, कुसीनगर, वाराणसी, वैशखी, पाटिल पुत्र, बौधगया, ताम्रलिप्ति आदि स्थलों पर भी इस चीनी यात्री ने अशोक द्वारा निर्मित स्तूप और विहार देखे थे।[1]

नेपाल में भी एक स्तूप अभी तक अपनी मूल स्थित में है। नेपाल समा पर बने इस पिप्र हवा के स्तूप धरातल का व्यास 116 फुट है और ऊँचाई केवल 22 फुट है।[2] श्रीलंका में अनुरूद्धपुर का स्तूप भी इसी काल का है, जिसका व्यावस 98.40 मी0 है और जो मिश्र के कुछेक पिरामिड़ों से भी बड़ा है।[3] सारनाथ का धर्मराज का स्तूप भी अशोक का बनवाया हुआ है, जिसके निचले आधार का अंश अभी तक बचा है और उसको भरने वाली वेदिका समूची रेलिंग एक प्रस्तर शिला से बनी पूर्णतः सुरक्षित है। इसकी पालिस शुद्ध अशोकीय है और फिनिश उसी प्रकार की है, जिस प्रकार थी अशोक के स्तम्भों में है। यह स्तूप सम्भवतः सारनाथ में वुद्ध के प्रथम उपदेश और धर्म चक्र प्रवर्तक की भूमि को प्रकट करने के लिये उनके स्मारक स्वरूप खड़ा किया गया था।[4]

बराबर की गुफाऐं :

गया से 16 मील उत्तर कई पहाड़ियों में बौद्ध अवशेष मिलते हैं। बराबर का प्राचीन नाम प्रबरगिरि था। चार गुफायें बराबर की पहाड़ी में और तीन गुफायें नागार्जुनी समूह में है।[5] मार्य काल

---

1 प्रियदर्शी अशोक, श्रीराम गोयल, पृ0 140

2 प्राचीन भारत का इतिहास, भगवत शरण उपाध्याय, पृ0 48

3 प्राचीन भारत, एल0पी0 शर्मा, पृ0 165

4 भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, भगवत शरण उपाध्याय, पृ0 45

5 वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ0 1061

की ये सात गुफायें ग्रेनाइट पत्थरों को काटकर बनामी गयी है। इनमें से 3 में दशरथ के लेख खुदे हुये हैं ये तीनों नागार्जुनी पहाड़ी में है।[1] बराबर समूह में पहली गुफा कर्ण चौपड़ है, जिसका निर्माण अशोक ने अपने राज्यकाल के उन्नीसवें वर्ष में कराया था। इसकी छत ढ़ोलाकार है, जो कोनों पर लगभग 6 फुट तथा बीच में 10 फुट ऊँची है। दूसरी सुदामा गुफा अशोक के राज्यकाल के वारहवें वर्ष में खुदवाई गयी थी– उसमें दो कोष्ठ हैं। एक गोल व्यास का जिसकी छत अर्द्धवृत्त या खरबूजे के आकार की है, उसके बाहर मुख मंडप है और ढोलाकार छत भूमि से 12 फु0 3 इंच ऊँची है। तीसरी गुफा का नाम विश्व झोंपड़ी[2] है। इसमें भी दो कक्ष है किन्तु लगता हे इसका कार्य पूरा नहीं हो पाया था क्योंकि बाहरी कक्ष बरामदा सा लगता है। कक्ष जैसा नहीं चौथी गुफा को लोमेश ऋषि गुफा कहते हैं। इसका समूचा संभार सर्वथा भारतीय है[3] यह वस्तुतः प्राचीनतर दारू कार्य का पत्थर के माध्यम से मात्र विस्तार है। द्वार के पार्श्वजनु एक के ऊपर एक उठते गये। अर्द्धचन्द्राकार तोरणों को उठायें हुये हैं। निर्माण विधि निःसन्देह उत्तर वैदिक काल के दारूकार्य के आधार से उठी है। द्वार के ऊपर खिड़की बनी हे, जिसे चैत्य वातायर कहते हैं– उस पर स्तूप की और उसके पूजन के गतिमान गजों की कतारें खुदी है। गज दोनों ओर से चलते हुये बीच के स्तप. तक पहुचते है और अत्यन्त संजीवता से उत्कीर्ण हुये हैं। वैदिक अन्तराल के बाद वास्तु में इतने सुन्दर ये पहले वस्तुगत अलंकरण है। लोमेश ऋषि गुहा का चैत्य कक्ष अंडाकार है।[4] इन गुफाओं की कला का विकास नैसर्गिक गुहा शरण स्थलों से जैसी बुधनी जैसी जगहों पर मिली है, हुआ था। लोमेश ऋर्षि गुहा को मौर्य काल के अन्तिम दशकों में कभी

---

[1] प्रिय दर्शी अशोक, श्रीराम गोयल, पृ0 141

[2] इसे विश्वामित्र गुफा भी कहा जाता है।

[3] प्राचीन भारतीय कला की भूमिका, भ0श0 उपाध्याय, पृ0 41

[4] प्राचीन भारतीय कलायें, असगर अली कादरी, पृ0 117

चित्र - 41
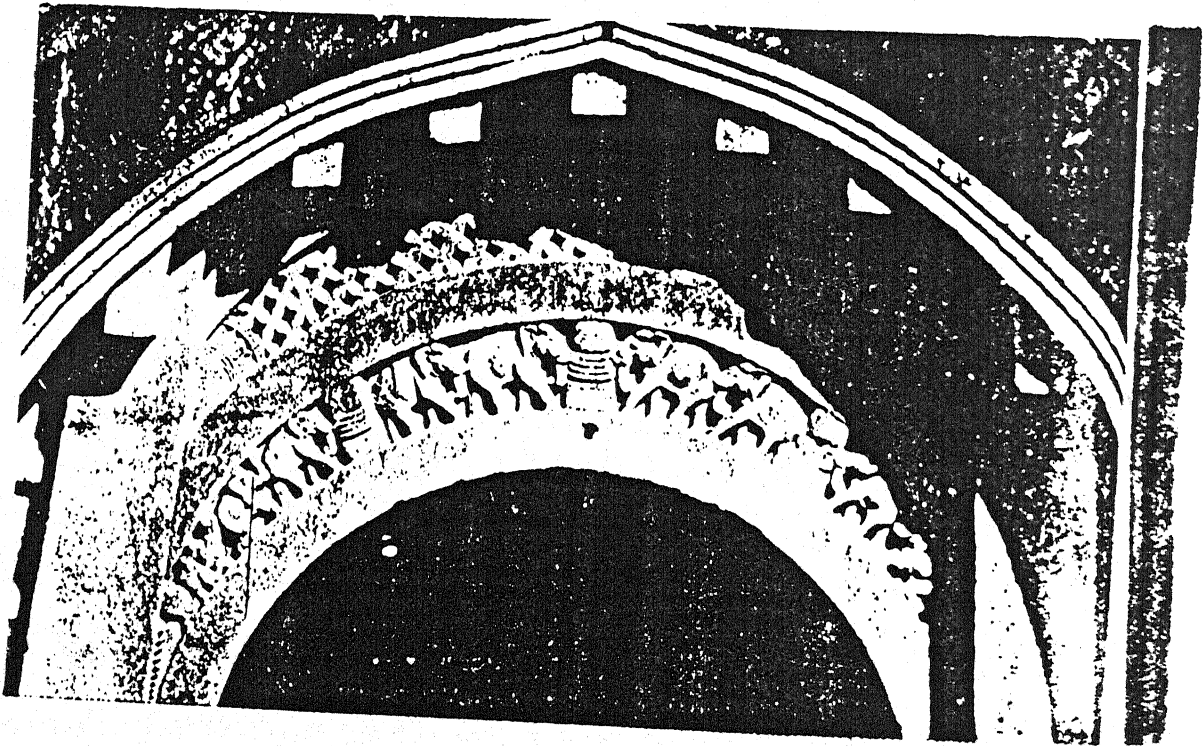
निर्मित माना जाता है।[1] (चित्र- 41)

ह्वेन सांग के अनुसार अशोक ने अपने गुरू उपगुप्त को पाटिलपुत्र के पास दस गुफायें दान में दी थी, लेकिन उनका अभी तक पता नहीं चला है।[2]

इस प्रकार मौर्यकाल कम से कम चार गुफाओं का बराबरी पहाड़ियों में निर्माण हुआ– वास्तव में ये साधू निवास अथवा बिहार है जिनके वास्तु की नकल पश्चिमी भारत के दरीगृहों अथवा गुहा गृहों में हुयी है। अजन्ता के गुहा चैत्यों में से कुछ इसी काल में खोदे गये थे। बोद्धगया के बौधिमंड के अवशेष सारनाथ की वेदिका के बचे भाग 3 स्पष्ट ही मौर्य कालीन कला के ही नमूने हैं।[3]

स्तम्भ :–

अशोक की सबसे सुन्दर और शालीन वास्तु कृतियां उसके स्तम्भ हैं, जिन्हें उसने धनी आबादियो में बौद्ध धर्म और सहिष्णु सामाजिक आचार धर्म के प्रचार के निमित्त खड़ा किया था। उसने युद्ध में प्रापत विजयों के स्मारकों स्वरूप विजय स्तम्भों से अधिक महत्व अपनी इन अभिलेखधारी लाटों को दिया जिन्हें उसने, धर्मस्तम्भ कहा[4] इन पर ब्रह्मी लिपि में अभिलेख बड़ी कुशलता से काटे गये हैं। प्रायः सभी लेख अद्‌भुत शिल्प लेखन के आदर्श हैं। पत्थर काट के लेखन की कला जब चोटी पर थी। सबसे सुन्दर लिखावट बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी में स्थापित स्तम्भ पर है, जो लगती है, आज ही कट पर तैयार हुयी है। वस्तुतः प्रस्तर शिल्प की यह मौर्यकालीन कला इतनी परिष्कृत व सुघरी हुयी है कि

---

1 रूट्स, ऑफ इण्डियन आर्ट, एस0पी0 गुप्ता, पृ0 102

2 प्रियदर्शी अशोक, श्रीराम गोयल, पृ0 142

3 फीडर्स ऑफ इण्डियन कल्चर, भ0श0 उपाध्याय, पृ0 61

4 वी0ए0 स्मिथ, अशोक, पृ0 12

अशोक की किसी कृति में जोड़ कहीं नहीं है उसकी प्रत्येक कृति उस शिल्प कौशल की धनी है प्रत्येक स्तम्भ पर कलाकारों ने शोभा लिखी है। उनमे से कुछ स्तम्भ अभी तक अविशिष्ट हैं। फाह्यान ने केवल छत स्तम्भ देखे थे जिनमें से दो श्रावस्ती के जेतवन विहार के द्वार पर दोनों खड़े थे। इनमें से एक का शीर्ष "धर्म चक्र" के रूप में था।[1] और दूसरे पर वृषभशीर्ष बना था। एक स्तम्भ संकिस में था जो 50 हाथ ऊँचा था और उसके सिर पर सिंह की आकृति थी। चौथा स्तम्भ कुशीनगर से वैशाली के रास्ते पर था। इस पर लेख भी खुदा था। पाँचवाँ स्तम्भ पाटिलपुत्र में था। इस पर भी एक लेख खुदा था। छठा स्तम्भ भी उसी प्रदेश में था। यह 30 फुट से अधिक ऊँचा था और इसके सिर पर सिंह की आकृति थी।[2]

ह्वेनसांग ने अशोक के पन्द्रह स्तम्भ देखे थे जिनमें से चार या पांच की पहचान वर्तमान स्तम्भों से की जा सकती है। ह्वेनसांग ने जिन स्थानों पर स्तम्भ देखे थे वे है– संकिस, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, लुम्बिनी, कुसीनगर, सारनाथ का मार्ग, सारनाथ, महाशाल, वैशाली, पाटिलपुत्र तथा राजगृह। श्रावस्ती, कपिलवस्तु , कुसीनारा तथा पाटिलपुत्र में उसने दो–दो स्तम्भ देखे थे।[3] आजकल उपलब्ध जो अशोक के प्रायः माने जाते हैं देली, प्रयाग, लौरिया, अराज, लौरिया नन्दनगढ़, रामपुरवा, सांची, सारनाथ, रूम्मिनदेई तथा निग्लीव में स्थित है। देहली में दो स्तम्भ है। ये यहाँ क्रमशः टोपरा तथा मेरठ से फिरोजशाह तुगलक द्वारा लाये गये थे। प्रयाग स्तम्भ पहिले कौशम्बी में था और सम्भवतः अकबर द्वारा प्रयाग में लाया गया था, ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं।[4] इन दसो स्तम्भों पर अशोक के अभिलेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रामपुरवा, बखिरा, संकिस तथा कोसम से ऐसे स्तम्भ मिलते हैं जिन पर अशोक के लेख लिखे हुए नहीं हे। किन्तु जो "मौर्य" पालिश युक्त होने से मौर्य युगीन

---

[1] एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 498

[2] मुकर्जी, अशोक, पृ0 75

[3] झाँ एवं श्रीमाली – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 192

[4] वी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत, पृ0 295

माने जाते हैं। बाखिरा तथा लौरिया नन्दनगढ़ स्तम्भ अब भी वही स्थित है। जहाँ इन्हें स्थापित किया गया था। मुकर्जी का अनुमान है भितरी स्तम्भ भी, जिस पर स्कन्दगुप्त का लेख लिखा है, हो सकता है मौर्य युगीन हो।[1] वैसे जिन स्तम्भों पर अशोक के अभिलेख है वे उसने ही बनवाये थे, यह भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। हो सकता है इनमें कुछ व्राक–अशोकीय हो और अशोक से पहले से स्थापित स्तम्भों पर लेख खुदवा दिये हों। जैसाकि स्मिथ ने ध्यान दिलाया है। अशोक अपने सातवें स्तम्भ लेख तथा लघु शि0ले0 में आदेश देता है कि उसके राज्य में जहाँ–जहाँ पाषाण स्तम्भ हों वहाँ–वहाँ उसके लेख खुदवाये जाये। वह यह नहीं कहता कि जहाँ–जहाँ उसने स्तम्भ स्थापित करवाये है, वहाँ–वहाँ लेख लिखवाये जायें। ह्वेनसांग ने भी जिन–जिन स्तम्भों की चर्चा की है उनमें वह कुछ को ही अशोक के द्वारा निर्मित बताया है, शेश के निर्माता के विषय में वह मौन है। स्मिथ का अनुमान है कि मौर्य स्तम्भों की कुल संख्या कम से कम तीस जरूर रही होगी।[3]

इन स्तम्भों के प्राप्ति स्थल दूर–दूर फैले हुए हैं। दक्षिण में हैदराबाद मैसूर तक इनका विस्तार रहा है। उनमें से कुछ मथुरा क्षेत्र में प्राप्त लालचत्ती वाले सफेद रंग के पत्थर से बनवाये गये थे और अन्य चुनार क्षेत्र में प्राप्त काले धब्बे वाले भूरे पत्थर बनवाये गये थे। विभिन्न स्तम्भ, विभिन्न ऊँचाई तथा वजन के थे और उनमें कहीं पर भी जोड़ नहीं था। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उनकी पालिश इतनी चमकदार और चिकनी है जैसे कि वे किसी धातु को काटकर बनाये गये हैं।

जिन जगहों से अशोक के स्तम्भ मिले है, उससे लगता है कि इन्हें लगाने के स्थानों के चुनाव की एक योजना थी। इनमें से चार उस मार्ग पर लगे है जो पाटिलपुत्र से हिमालय के पादवर्ती प्रदेश में नेपाल की तराई में बौद्ध तीर्थो को जाता है, अन्य स्तम्भ बड़े–बड़े नगरों और तीर्थो में लगाये गये थे, ताकि अधिक से अधिक लोग उस पर लिखे लेख पढ़ सके।[4]

---

1 मुकर्जी– अशोक, पृ0 73
2 स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ0 20
3 को0हि0इं0, 2, पृ0 90 पर उद्‌धृत (कम्परेटिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वोल्यूम–।।)
4 श्रीराम गोयल, प्रियदर्शी अशोक, पृ0 142

स्तम्भों की रचना में एक ऊँची मध्य यष्टि या डंडी और ऊपर शीर्षक लगाया गया है। लाट की ऊँचाई 40 से 50 फुट के लगभग है। उनके नीचे की पेंदी भारी पत्थर की चौकी में छेद काटकर फँसाई गई है। लाट के ऊपर पशु की आकृति का शीर्षक है। मौर्य शिल्पियों की उत्कृष्ट कला का फल इन स्तम्भों में पाया जाता है। इनकी उदार प्रांशुता, सुखप्रद अनुपात, सच्ची उकेरी, मणि जैसी चमकदार और सर्वोपरि चिर अभ्यास से परिणत शीर्षकों की कला, इन विशेषताओं के कारण ये मौर्य स्तम्भ कला में संसार में अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त यदि शीर्षकों के प्रतीकात्मक अर्थों पर भी विचार किया जाये तो भारतीय कला में अपूर्व सामग्री हमारे सम्मुख आती है और विश्व कला में भी यह बेजोड़ ठहराती है।[1]

इनमें सबसे पहले बाखिरा या कोल्हुआ का सिंह स्तम्भ था। तदन्तर संकिता का गजशीर्षक युक्त स्तम्भ शीर्षक, संकिसा बनाया गया। दूसरे वर्ग में इनके बाद रामपुरवा का वृषशीर्षक स्तम्भ रचा गया। उसके ठीक पीछे लौरियानन्दनगढ़ का सिंह स्तम्भ बना। इन दोनों में आरम्भिक अपरूपता की जगह नया पाटव या कृतित्व सौन्दर्य आने लगा। अब स्तम्भ के विभिन्न अंगों में स्तम्भ और उनके प्राकृतिक सौन्दर्य का विकास हो गया। रामपुरवा के सिंह शीर्षक स्तम्भ और सांची के सिंह स्तम्भ तक पहुँचते–पहुँचते शिल्पियों के हाथ मंज गये थे। उसके अनन्तर सारनाथ के सिंह स्तम्भ में शिल्पियों ने अपनी कला की पराकाष्ठा प्राप्त कर ली। इस समय वे अपनी कला के सौष्ठव के शिखर पर थे।[2]

बषाढा–बाखिरा सिंह स्तम्भ :–

कोल्हुआ का स्तम्भ एक भारी स्तम्भ है। उसके शेष वाले स्तम्भ शीर्ष फलक चौरस व चपटा है।[3] इसकी डण्डी भारी और अनुपात में अधिक मोटी और ढिगनी है। ऊपरी सिंह की मूर्ति की शैली भी बहुत अच्छी नहीं है। सिंह को चौकी पर कुछ दबे हुए बैठे दिखाया गया है जो सिंह न लगकर

---

[1] भारतीय कला, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0 129

[2] अशोक के एकाश्म स्तम्भ, वी0ए0 स्मिथ, पृ0 221

[3] पर्सी ब्राउन – इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू, 1949) पृ0 128

बिल्ली की भाँति प्रतीत हो रहा है। ऐसा लग रहा है मानो उसे टांग दिया गया हो। उसकी मुद्रा कृत्रिम दिखाई देती है, यद्यपि तक्षक ने पत्थर के बड़े ढोके को गढ़ा है पर उसके विभिन्न भागों को वह ऊर्ध्व छन्द के अन्तर्गत नहीं ला सका जैसा अशोक कालीन उत्तम कला में पाया जाता है। अतः आर0पी0 चन्दा जैसे विद्वान इसे बिन्दुसार के काल का मानते हैं।[1] (चित्र- ५२)

संकाश्यका गज शीर्षक :-

इसके शीर्षक के तीन भाग है, ऊपर गज बीच में अण्ड और नीचे कमल युक्त पूर्ण घट है। अण्ड पर कमल के पुष्प और कलियों की बेल है। जिनके बीच में त्रिरत्न चिन्ह है। अण्ड के नीचे अलंकरण माला है। चौकी की बनावट और मुड़ी पत्तियों वाला पद्म अधिक विकसित और सुन्दर है।[2] (चित्र-५३)

रामपुरवा वृषांकित शीर्षक :-

रामपुरवा के स्तम्भ पर बेल की मूर्ति है इसके तीन भाग है। यह कलाकृति की दृष्टि से बहुत ही विचित्र है। बैल अपनी चौकी पर ललित मुद्रा में खड़ा है। (चित्र- ५४)

लौरिया नन्दनगढ़ का सिंह शीर्षक :-

इस स्तम्भ के सबसे ऊपर सिंह है जो बैठा हुआ दिखाया गया है उसकी चौकी गोल है और इस पर हंस पंक्ति अंकित है। सिंह की आकृति बलिष्ठ और प्रभावशाली है किन्तु इसका भाव कुछ रूढ़िग्रस्त है।[3] (चित्र-५५)

---

1 बी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 320

2 भारतीय कला – वासुदेव शरण अग्रवाल, मौर्यकला, पृ0 111

3 जे0 फर्गुसन – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, पृ0 210

चित्र- ४२

चित्र-४३

चित्र- ४४

चित्र -४५

चित्र - 47

चित्र - 46
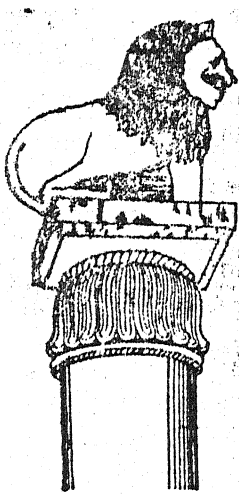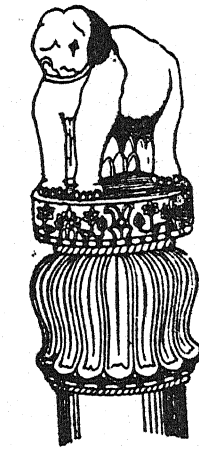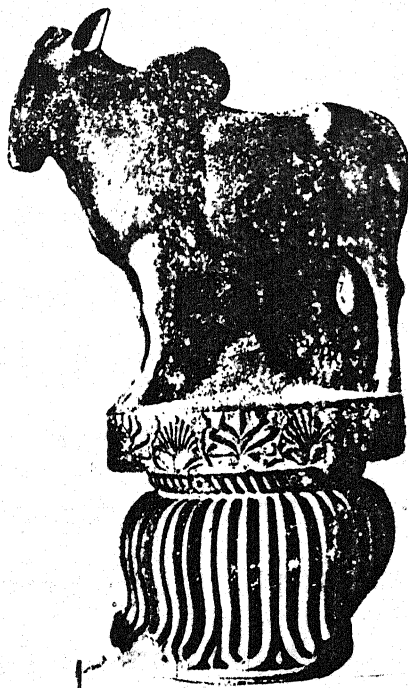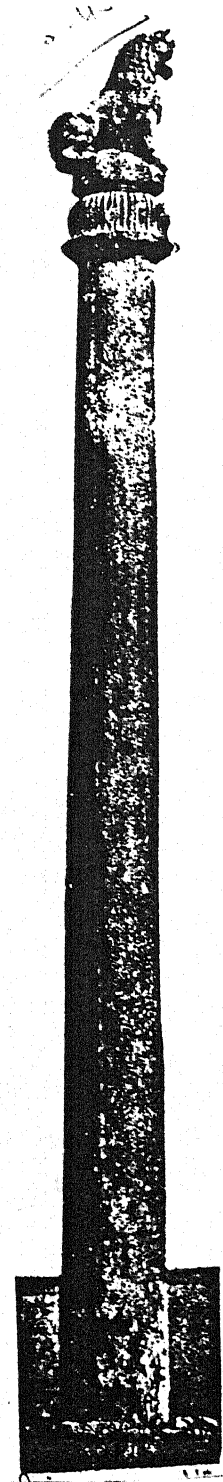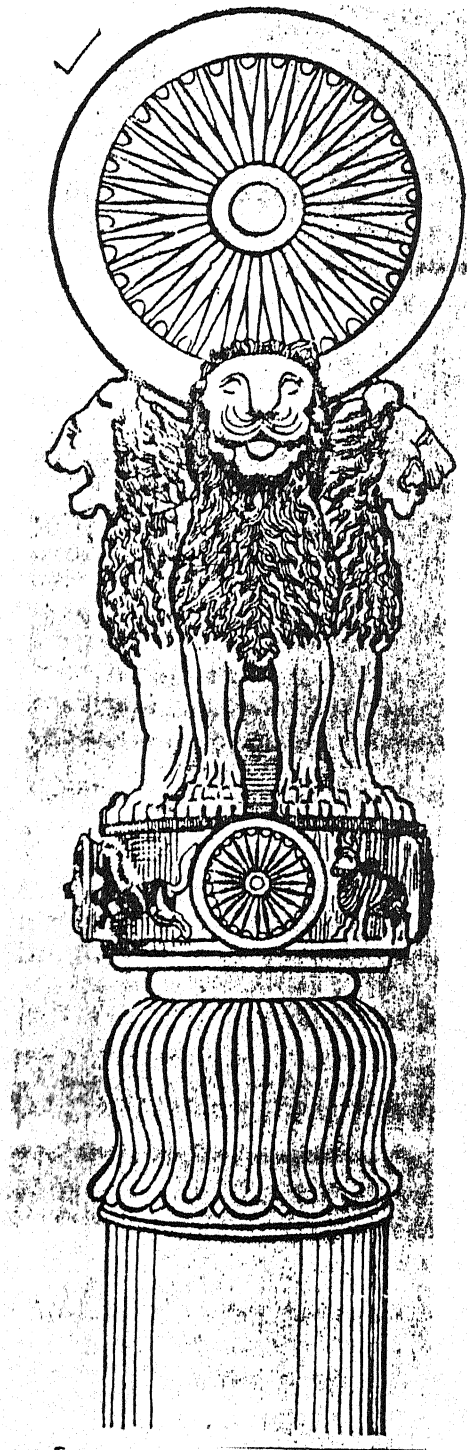
रामपुरवा का सिंह स्तम्भ :-

यह लौरिया नन्दनगढ़ के स्तम्भ के ही समान है, इसके भी तीन अंग है। सिंह की मूर्ति चौकी पर स्वाभाविक मुद्रा में बैठी हुई है और उसके सभी अंग ठीक अनुपात में बनाये हुए हैं।(चित्र-५६)

सारनाथ का स्तम्भ :-

सारनाथ स्तम्भ की अलंकारिक योजना एक पद्धति पर आधारित है। इसे सभी स्तम्भों में सबसे श्रेष्ठ और पूर्ण माना गया हे। इसकी मुख्य विशेषता इसके मुख्य भाग में है। शीर्ष पर शेर है जिनकी पीठ जुड़ी हुई है। उनके बीच में एक बड़ा चक्कर का चिन्ह है जो धर्म चक्र का प्रतीक है।[1] स्तम्भ के मुख्य गोलाकार भाग के ऊपर कमल का फूल है, उसके ऊपर पत्थर की गोल पट्टी है जिस पर चारों दिशाओं में चारों तानों वाले चार चक्र बने हुए है और उनके बीच के स्थानों में चार दिशाओं में क्रमशः हाथी, सांड, घोड़ा और सिंह बने हैं। चौबीस तानों वाले धर्म चक्र को बौद्ध धर्म के 24 मुख्य सिद्धान्तों का प्रतीक माना जाता है। इनके बीच में बना हुआ प्रत्येक पशु महात्मा बुद्ध के जीवन की प्रमुख चार घटनाओं का प्रतीक हे- हाथी उनका अपनी माता के गर्भ से आने का, सांड उनकी यौवनावस्था का , घोड़ा उनके गृह त्याग का और सिंह उनकी पूर्ण शक्ति प्राप्त हो जाने का प्रतीक है। पत्थर की इस गोल पट्टी के ऊपर चारों दिशाओं में मुख किये हुए और एक दूसरे से पीठ लगाये हुए चार सिंह खड़े हुए है, जो चारों दिशाओं में बौद्ध धर्म की शक्ति के प्रतीक है। इन सिंहों की पीठ पर एक 32 तानों वाला धर्म चक्र था जिसका केवल एक टूटा हुआ भाग ही प्राप्त हो सका है। उसकी 32 ताने महात्मा बुद्ध की 32 शक्तियों का प्रतीक है और सिंहों की पीठ पर धर्म चक्र का होना यह संकेत देता है कि संसार में आध्यात्मिक शक्ति सर्वश्रेष्ठ है।[2] (चित्र - ५७)

---

[1] स्टेला क्रैमिश्च – इण्डियन स्कल्पचर लंदन 1933, पृ0 127

[2] प्राचीन भारत – एल0पी0 शर्मा, पृ0 165

अपने स्तम्भों पर अशोक ने सुप्रसिद्ध मौर्य पालिश करवायी जिससे ये अत्यन्त चमकदार और चिकने हो गये है। यह पालिश कोई वघ्रलेप थी। पाषाण खण्डों की घुटाई करके यह चमक उत्पन्न नहीं की जा सकती थी। इन कलाकृतियों पर कभी–कभी बहुत सूक्ष्म उत्कीर्णन है। यहाँ तक कि पशुओं के बाल भी खूबसूरती से दिखाये गये है। ऐसी कलाकृतियों की घुटाई सम्भव ही नहीं थी। जो भी हो "मौर्य पालिश" एक अत्यन्त सफल प्रयोग था। यह पालिश आज भी अज्ञात है इसके कारण दिल्ली के स्तम्भों को सतरहवी शती ई० में भी टॉम कोर्याट ने "पीतल मण्डित" बताया था तथा उन्नीसवीं शती के शुरू में विशप हैदर ने "धातु में ढाला" हुआ बताया है।[1] यह पालिश स्तम्भों के उस भाग पर नहीं की जाती थी जो जमीन में गाड़ा जाता था। उदाहरणार्थ देहली टोपरा स्तम्भ पर पालिश केवल ऊपर के 35 फुट लम्बे भाग में है, शेष खुरदुरा भाग है। रामपुरवा सिंह स्तम्भ का भी निचला 3 फुट 9 इंच भाग खुरदुरा है। अशोक के स्तम्भों को कलात्मक श्रेष्ठता में वृद्धि के आधार पर उनका तिथिक्रम निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से बाखिरा स्तम्भ, जिसकी यष्टि में भारीपन है और शीर्ष भाग को और यष्टि में ठीक समन्वय नहीं है। प्राचीनतम् माना जा सकता है और सारनाथ स्तम्भ सबसे बाद का परन्तु इन स्तम्भों का तिथिक्रम निर्धारित करने में इनकी कलात्मकता को एक संकेत मात्र माना जाना चाहिए। निर्णायक प्रमाण नहीं।[2] सबसे अच्छी दशा में मिलने वाले स्तम्भों में लौरियानन्दनगढ़ का सिंह शीर्ष स्तम्भ उल्लेख्य है। इसकी चौकी पर दाना चुगते हुए हंसों की पंक्ति बनी है। बाखिरा और रामपुरवा के स्तम्भ पर भी अकेले सिंह मूर्ति है। रामपुरवा के एक अन्य स्तम्भ पर वृषभशीर्ष है जो अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। सांची और सारनाथ के स्तम्भ शीर्षो पर चार सिंह पीठ से पीठ सटाये दिखाये गये हैं। संकिस के स्तम्भ पर हस्तिशीर्ष है।[3] इन सबमें सारनाथ का स्तम्भ श्रेष्ठतम् है। इसकी चौकी पर हाथी, बैल, अश्व और सिंह अंकित है और उनके बीच–बीच में धर्मचक्र बने हुए हैं। इन पशुओं को चलती हुई मुद्रा में अंकित किया गया है। इन पशुओं को शायद इसलिए चुना गया था क्योंकि

---

[1] कोमप्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वो0–2, पृ0 89 – के0ए0 शास्त्री एवं निलाकांत

[2] रोमिला थापर, अशोक एण्ड द डिक्लाइन ऑफ मौर्याज, पृ0 157

[3] श्रीराम गोयल, अशोक प्रियदर्शी, पृ0 145

ये दिग्पा, दिशाओं के रक्षक माने गये हें। चौकी के ऊपर चार सिंह पीठ से पीठ सटाये हुए बैठे है जिनके ऊपर एक धर्मचक्र रखा हुआ था, उसके अब केवल टुकड़े मिलते हैं।[1] सिंहों की आकृतियाँ भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है। इनमें कल्पना, यथार्थता और सौन्दर्य का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। इनका प्रत्येक अंग सजीव और कलात्मक है, यहाँ तक के उनके बाल तक बारीकी के साथ तराशे गये हैं। सम्पूर्ण शीर्षमूर्ति में कहीं भी एक छैनी कम या ज्यादा नहीं लगी है।[2] ये मूर्तियाँ वनराज के राजकीय गौरव को तो आभासित करती है परन्तु दर्शक को उसके स्वभाव की हिन्सकता का स्मरण नहीं दिलाती। इस दृष्टि से इन्हें अशोक के व्यक्तित्व का मूर्तिमान अंकन माना जा सकता है। जॉन मार्शल के अनुसार शैली और शिल्प दोनों दृष्टियों से प्राचीन भारत में इसकी समता करने वाली कोई कलाकृति नहीं है। बहुत से विद्वान तो इसे प्राचीन विश्व की सर्वोत्तम पशुमूर्ति मानते हैं।[3]

<u>लोक कला</u> :-

-लोक कला की परम्परा का प्रमाण उन महाकाव्य यक्ष मूर्तियों द्वारा प्राप्त होता है जो मथुरा से उड़ीसा, वाराणसी से विदिशा और पाटिलपुत्र से शूर्पारक तक के विस्तृत क्षेत्र में पाई जाती है। इस यक्ष और यक्षियों की मूर्तियों में अपनी निजी शैली है, जिसका ठेठ रूप देखते ही अलग पहचाना जा सकता है। उन्हें मौर्यकालीन राजकीय शिल्प के साथ जोड़ना सम्भव नहीं है। यह सप्रमाण सिद्ध है कि कला की यह सविशेष शैली हजारों मील लम्बे भूभाग में प्रचलित थी। अतिमानवीय महाकाय मूर्तियाँ खुले आकाश के नीचे स्थापित की जाती थी। ये चारों ओर से कोर कर बनाई जाती थी। पर इनमें सम्मुख दर्शन की विशेषता है। इनकी शक्ति, महाप्रमाणकाय और प्रभ विष्णु रूप से सूचित होता है कि ये देवताओं की मूर्तियाँ है। निम्नलिखित यक्ष-यक्षी उल्लेखनीय है -

---

[1] एस0पी0 गुप्ता, द रूट्स ऑफ इण्डियन आर्ट, दिल्ली 1980, पृ0 108

[2] रायकृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला, पृ0 26

[3] सरजॉन मार्शल, टैक्सिला, पृ0 19

1. मथुरा जिलों के परखम्भ ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति इसकी चौकी पर एक लेख है जिसमें इसे निभद संज्ञा दी है। इसकी ऊँचाई 8 फुट 8 इंच है। बहुत विशाल मूर्ति है किन्तु बहुत कम सजी हुई है। कटाव भी सादगीपूर्ण है। (चित्र - ५८)

2. मथुरा जिले के बड़ोदा ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति। इसका केवल ऊपरी भाग प्राप्त हुआ है यह पूरी मूर्ति काफी ऊँची रही होगी। यह भारी कुण्डल, पीछे लटकती लड़ो वाला हार, कमर का वस्त्र जो लिपटा है, पहने है।

3. मथुरा जिले के झींग का नगरा गाँव से प्राप्त यक्षी की मूर्ति।

4. भरतपुर जिले में नोह ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति है। यह लगभग 9 फुट ऊँची है। गले में एक अलंकृत पट्टा बंधा हुआ है और दोनों छोर कमर पर लटक रहे हैं। सीने पर फेटा कसा है और नीचे धोती कमर बन्द से इस प्रकार से सजी है जिससे मूर्ति का पेट स्पष्ट दिखाई देता है। कुण्डल, भुजबन्द और कटक आभूषण पहने है, इसका केवल एक हाथ है जोकि कलाई से टूटा है। (चित्र - ५९)

5. बेसनगर से प्राप्त यक्षी जो इस समय भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में सुरक्षित है, लोक कला का एक सुन्दर नमूना माना जाता है। यह सामने देख रही है और सीधी खड़ी है। यह 6 फुट 7 इंच की है।

6. पटना से प्राप्त यक्ष मूर्ति जिस पर मौर्य चमक है और एक लेख भी है।

7. पटना से प्राप्त यक्ष मूर्ति जिस पर लेख है और यह भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में सुरक्षित है।

   इन दोनों में से एक का सिर खण्डित है।

8. ग्वालियर जिले में प्राचीन पद्मावती, वर्तमान पवाया से प्राप्त यक्ष मूर्ति जो ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित है। यह मूर्ति दाहिने हाथ में थैली लिये है, यह मणिभद्र[1] के बाद की प्रतीत होती है।

---

[1] कुबेर के सहायक

चित्र- 48
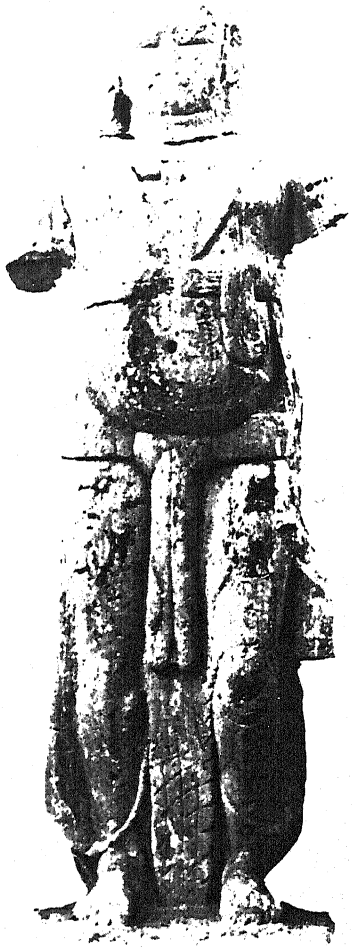
चित्र- 49

चित्र- 50

9. पटना शहर में दीदारगंज से प्राप्त चामरग्राहिणी यक्षी जिस पर मौर्य शैली की चमक है। यह 6 फुट 9 इंच की है। इसकी मुद्रा दर्शनीय है। (चित्र - 50)

यह मौर्यकाल की एक बड़ी शालीन अत्यन्त सुन्दर और विशाल नारी मूर्ति है जो दीदारगंज यक्षिणी या चंठारधारिणी कहलाती है। इस पर मौर्यकाल की चमकदार पालिश है। इसके केश भली प्रकार संवार कर पीछे गरदन पर सुरूचि से कबरी अथवा जूड़ा करके मोटी गांठ में सजाये गये हैं। सामने बोरला का सा ललाट पर केश की सन्धि पर आभूषण है। दोनों ओर व सीमान्त रेखा पर मोती की लड़ी चली गई है, कानों के कद्रे पर भारी पर सुन्दर डमरूनुमा कर्णाभूषण है। एक मोती की लड़ी गले में पड़ी है ओर मुक्ताओं की सुन्दर दो लड़ी पुष्ट स्तनों के बीच लटकती हुई लटकन से उदर के ऊपरी भाग को छू रही है। कलाइयों पर कुहनियों तक वलय पहने हुए है। चूनरदार धोती के ऊपर कटि में पंचलड़ी मेखला धारे हुए है। बांहों से होकर उत्तरीय आधार तक लटक रहा है (बांयी भुजा टूट गई है। पैरों में भारी पाजेब है। दाहिना हाथ ऊपर को मुड़कर चंवर दाहिने कन्धे पर रखे हैं जिसका एक एक बाल गिना जा सकता है। समूचना जिस्म जैसे अपने दम खम के साथ सांचे में ढाल दिया गया है। चेहरा भी शंगुकालीन मूर्तियों की तरह सामने से चिपटा नहीं, भरे कपोलों और सुन्दर चिम्बुक से प्रायः अंडाकार लग रहा है। मूर्ति का निखार परिष्कार, उसका सुरूचिपूर्ण मूर्तन लगता है जैसे अशोक के स्तम्भों की शीर्षस्थ पशुओं के कलावन्त ने कोर कर उसे खड़ा कर दिया हो। प्राचीन भारतीय कला सम्पदा में तो ऐसी अद्‌भुत और शालीन मूर्ति कभी कोरी ही नहीं गयी, अन्यत्र भी ऐसी कला दुर्लभ है, तन पर जहाँ जितनी मांसलता अपेखित है बस वहाँ उतनी ही है, आदर्श और कारिता दोनों अपने प्रमाण आप है। निश्चय ही दीदारगंज की याक्षी अथवा चकरधारिणी मूर्ति मौर्यकाल की अनुपम गौरव है। वास्तव में यक्षी कहने का भी कोई कारण नहीं यह शुद्ध चवरधारिणी है, यद्यपि है यह अकेली।[1]

---

[1] भारतीय कला की भूमिका – भगवतशरण उपाध्याय, पृ0 49

10. बेसनगर की यक्षी जिसका स्थानीय नाम वेत्तिन है।

11. प्राचीन वाराणसी के राजघाट स्थान से प्राप्त त्रिमुख यक्ष। भारतीय कला भवन में सुरक्षित है।

12. तथाकथित शूर्पारक से प्राप्त यक्ष मूर्ति जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में सुरक्षित है।

13. उड़ीसा में शिशुपालगढ़ से प्राप्त कई यक्ष मूर्तियाँ।

14. अहिच्छत्र के फल्गु विहार से प्राप्त कुषाणकालीन यक्ष मूर्ति।

15. कुरूक्षेत्र में आमीन से प्राप्त यक्ष मूर्ति।

16. दोमुही यक्षी, पटना जिला

17. मेहरौली से प्राप्त यक्षी।

18. विदिशा में बेस और बेतवा के संगम से प्राप्त यक्ष मूर्ति जो इस समय भिलसा में ही लोगों द्वारा पूजा के लिये स्थापित की गयी है। यह 12 फुट से भी अधिक ऊँची है तथा मध्य भारत में व्यापक रूप से प्रचलित शैली व परम्परा की द्योतक है। एक कलाई व कुछ अन्य स्थानों को छोड़कर यह मूर्ति अच्छी दशा में है। सिर पर एक ओर उठी पगड़ी बंधी है।

प्राड़्मौर्य, मौर्य और शंगुकालीन कला के इतिहास को समझने के लिये इन मूर्तियों की पहचान का बहुत महत्व है। श्री आनन्द कुमार स्वामी, काशी प्रसाद जायसवाल और राम प्रसाद चन्दा ने इन मूर्तियों की पहचान के विषय में विचार किया था।

जायसवाल ने सर्वप्रथम परखम मूर्तियों का लेख पढ़कर उसे शैशुनाग–वंशी कुणिक या अजातशत्रु की मूर्ति माना था। जैन मान्यता में कुणिक अजात शत्रु का नाम था। जप पाटिलपुत्र से दो मूर्तियाँ मिली तो जायसवाल ने उनकी पहिचान सम्राट नन्द और उसके पुत्र महानन्दी से की। रामप्रसाद चन्दा ने युक्तियाँ देते हुए इस मत को ग्राह्य नहीं माना। उन्होंने सिद्ध किया है कि ये मगध सम्राटो की मूर्तियाँ नहीं है।[1] किन्तु यक्ष नामक लोक देवताओं की मूर्तियाँ है। कुमार स्वामी पहले जायसवाल के मत

---

[1] रामप्रसाद चन्दा, चार यक्ष मूर्तियाँ, पृ0 28

की ओर झुके हुए पर पीछे उनका मत यक्ष–यक्षी पक्ष में हुआ।

झींग–का–नगरा ग्राम से प्राप्त मनसा देवी मूर्ति के लेख में उसे यक्षी या यखी कहा गया है। पवाया से प्राप्त मूर्ति के लेख में भी उसे माणिभद्र यक्ष कहा गया है। पवाया से प्राप्त मूर्ति के लेख में भी उसे मणिभद्र यक्ष कहा गया है जो मणिभद्र के भक्तों की गोष्ठी द्वारा स्थापित की गयी थी। भरतपुर के नोह ग्राम मे मिली मूर्ति आसपास के लोगों मे जखिरया नाम से प्रसिद्ध थी।[1]

इस प्रकार इन मूर्तियों पर खुदे लेखों और स्थानीय किंवदंतियों के आधार पर प्रमाणित होता है कि ये विशाल देह वाली मूर्तियाँ यक्ष–यक्षियों की थी और इनकी पूजा किसी समय अत्यन्त लोकप्रिय थी।

शैली :–

1. ये मूर्तियाँ अत्यन्त ही विशालकाय है। माँस पेशियाँ बलिष्ठ है।
2. ये मूर्तियाँ यद्यपि पृथक रूप से खड़ी है किन्तु चारों ओर से देखने के लिये बनाई गई थी।
3. ज्यादातर मूर्तियाँ सिर पर पगड़ी पहने है। छाती से बंधा हुआ और भुजाओं व कंधों पर पड़ा हुआ वस्त्र है। नीचे धोती है और कमर में कमरबन्द बंधा हुआ है। कानों में भारी कुण्डल पहने हुए है। गले में बड़ा हार, छाती पर तिकोना हार और बाजूबंद है।
4. ये मूर्तियाँ अपेक्षाकृत स्थूल है।

भारतीय शिल्प की प्राचीनतम् मूर्तियों में इनकी रचना शैली सबसे अच्छी है। इस शैली को किसी पूर्व कालीन शैली से नहीं मिलाया जा सकता है। इस शैली की परम्परा लोक में व्याप्त थी। मथुरा से कलिंग और पाटिलपुत्र से शूरपारक तक की जनता इस शैली से परिचित थी। प्रत्येक प्रदेश

---

[1] भारतीय कला – वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0 123

में अपना–अपना यक्ष लोक का प्रधान देवता होता था। यक्षों के भवन प्रायः चैत्य या आयतन कहलाते थे। प्रारम्भ में इन चैत्यों का स्वरूप सीधा सादा था। इसकी पूजा के लिये पत्थर के चबूतरे को ही पर्याप्त समझा जाता था। खुले आकाश के नीचे इनकी स्थापना करके, इनकी पूजा की जाती थी।[1] भारतीय पाषाण शिल्प की दृष्टि से मूर्तियों की प्राचीनता चौथी शती ई0पू0 तक जानी जा सकती है। शायद भारतीय प्रतिभाओं में ये मूर्तियाँ सबसे प्राचीन है। मौर्य काल में काष्ठ शिल्प की जगह पाषाण शिल्प ने ली। मौर्यकाल की ओपदार कृतियों के लिये राजकीय शैली शब्द का प्रयोग हुआ। और उसी स्तर या कार्य में बनी यक्ष मूर्तियों को लोककला का रूप माना जा सकता है क्योकि इनकी शैली स्वतंत्र है। इन्हीं मूर्तियों द्वारा कला की विशेष स्थानीय शैली की भी स्थापना हुयी। कालान्तर के शिल्पियों ने इसे अपने लिये आदर्श समझा।[2]

अशोक के स्तम्भों अथवा उसके समूचे वास्तु की रतनी अद्‌भुत कुशलकारिता कलाधुरीणा के सामने एक समस्या उपस्थित कर देती है। सुरूचि और परिपकार की बात तो अलग, उनकी तकनीक विशेषकर उनकी काचवत चमकती पालिश की समस्या को और उलझा देती है। इस प्रकार का निखार परिष्कार और सर्वांग सुन्दरता जादू से एक दिन में अथवा एक शाशन काल में प्रस्तुत नहीं की जा सकती। वह सदियों को निष्ठा, अभ्यास तथा कलाकारिता की परिणति होती है। आश्चर्य है कि न केवल वह पालिश अशोक के वास्तवादर्शो पर ही आरम्भ होकर उनके साथ ही समाप्त हो जाती है एवं उनके पहले कभी प्र्युक्त हुयी न पीछे प्रयुक्त होती रही।[3] अधिक से अधिक उसका उपयोग शुंग काल की रेलिगों पर एकांश में बताया जा सकता है। वरन् स्तम्भों के निर्माण की समूची परिपाटीमय उन पर खुदे

---

[1] प्राचीन भातर का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वियन द्वारा प्रकाशित, द्वजेन्द्र नारायण झा, पे0 221

[2] मौर्यलोक कला, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0 165

[3] भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय कला व संस्कृति की भूमिका, पृ0 48

अभिलेखों की पद्धति, के इस देश में नयी है। मोर्यों के पहले स्तम्भ बने या नहीं इसमें सेदेह हो सकता है। पर इसमें संदेह नहीं कि वे पत्थर के कभी नहीं बने और अपर या शिलाओं पर ही अभिलेख खुदवाने की परम्परा भी कभी नहीं थी। इतने लम्बे अभिलेख कभी नहीं लिखे गये थे। लम्बे तो क्या पिप्रहवा और बड़ली के उपेक्षणीय लेखों को छोड़, इससे पहले सिंधु सभ्यता के बाद लिपी का उपयोग नहीं हुआ पर पड़ोसी इरान में दोनों परम्परायें थी। शिला आदि पर लेख खुदवाने की ही और पशु पंजित स्तम्भ खड़े करने की भी। वह परम्परा द्वारा आदि राजाओं में निनेबे के असरी (असुर) राजाओं से

थी। वस्तुतः स्तम्भों की परम्परा तो उधर प्रायः 2000 ई0 पूर्व से 350 ई0 पूर्व तक कभी टूटी ही नहीं थी और अभिलेख तो ईस्वी पूर्व 2500 वर्षों तक के लिखे छप्परों ईंटों पर समूचे ग्रन्थों के रूप में मिले हैं। सोमदारा के बृष शीर्ष वाले स्तम्भ आज भी पर्सीपोलिस में खड़े हैं। अनेक के शीर्ष पशु खण्डि अखण्डि यूरोप व अमेरिका के संग्रहालयों में प्रदर्शित है।[1] उनकी पालिश तो इतनी चमकदार है कि उसमें शक्ल देखी जा सकती है। अशोक अपने लेखों का आरम्भ प्रायः उन्हीं शब्दों में करता है। जिनके द्वारा वे अपने लेखों में किया था। अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य का ईरानी दरबार की अनेक क्रियायें अपने दरबार में प्रचलित करना भी उस ओर संकेत करता है। ईरान का शासन प्रायः 150 वर्ष तक पश्चिम पंजाब और सिंध पर रहा था और ये दोनों दारा के साम्रज्य के तीसरे प्रांत रहे थे।[2] और प्रति वर्ष उसे 1 करोड़ से ऊपर कर देते हैं। इसी अशोक ने न केवल सीमा प्रांत के अपने अभिलेखे अरमई, खरोष्ठी (और ग्रीक लिपी तथा भाषा में भी) लिपि में लिखवाये बल्कि कम से कम एक बार ईरानी भाषा का भी उनमें प्रयोग किया। सिंधु सम्यता की कला का अशोक को पता न था क्योंकि उसका अभिराम शिल्प प्रायः 1500 सालं पहले ही पृथ्वी के गर्भ में समा चुका था। इससे प्रकट है कि पारसीक शिल्प

---

1 एन0आर0 रॉय– मौर्य एण्ड शुंग आर्ट, 1945, पृ0 69

2 श्रीराम गोयल, प्रियदर्शी अशोक, पृ0 148

के अनुकरण में स्तम्भ बने जहां स्तम्भो और उनकी पालिश की परम्परा थी। जहां बराबर प्रशस्ती आदि के लेख सदियों सहत्रादियों से लिखे जा रहे हैं और जब भारत में उनका नामोनिशान न था।[1] उस वास्तु को अशोक ने परिष्कृत किया जहां ईरानी स्तम्भ दो–दो फुट की शिलाओं को जोड़ कर अपनी काया निर्मित करते थे वहां अशोक के स्तम्भ एक ही शिला के अपाद मस्तक कोरे गये उसका चरम विकास किया।[2] यद्यपि आने वाली सदियों की भारतीय कला उस भार को सम्भल न सकी और उस शिंल्प की शैली मौर्य काल के बाद एक आद छिटपुट उदाहरणों के अपबाद को छेड़ लुप्त हो गयी इस बात को भी नहीं भूलना चाहिये कि अशोक ने पश्चिम देशों से सम्पर्क बनाये रखने की अपने पितामह चन्द्रगुप्त की प्रथा न केवल बनाये रखी बल्कि उसमें उसने असामान्य अभिवृद्धि की जिससे उसका सम्बन्ध अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के ग्री तथा पूर्वी यूरोप के ग्रीक देशों से गहनतर हो गया। इससे भारत का सम्पर्क पश्चिमी विदेशों से इतना बढ़ा जितना कभी न बढ़ा था।[3]

---

1 ए0के0 कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, 21

2 रोमिला थापर, अशोक एण्ड द डिक्लाइन ऑफ, मोर्याज, पृ0 127

3 बी0एम0 बरूआ, इन्सक्रिप्शन ऑफ अशोक, कलकत्ता, 1934 पृ॰ 75।

खण्ड - ख - शुंग काल

शुंगकाल

भारतीय इतिहास का मौर्यकाल जिसने अद्‌भुत कलादर्श स्थापित किये, अशोक के पौत्रों दशरथ और संप्रति के बाद ही ह्रासोन्मुख हो गया था, और प्रायः 185 ई0पू0 में मौर्य राजवंश के अन्तिम सम्राट बृहद्रथ को सेना के सम्मुख ही उसके पुरोहित सेनापति पुष्पमित्र शुंग ने मार कर शुंगो के ब्राह्मण राजवशं के शासन की नीव डाली।[1]

शुगों का शासन प्रायः 112 वर्ष चला और उसका अन्त एक दूसरे ब्राह्मण वंश काण्वायन ने 73 ई0पू0 में किया।[2]

उदय :-

भारतीय इतिहास में शुंगकाल पुष्यमित्र के राज्याभिषक से (184 ई0पू0) प्रारम्भ होता है यह शक्तिशाली सम्राट था, जिसने सेनापति की पदवी धारण की और मध्यदेश को विदेशी यवनों से मुक्त किया।[3] यह युग संस्कृत साहित्य और कान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन का वह काल था जब रामायण, महाभारत व पुराणों की रचना और पुर्नगठन के बहुमुखी प्रयत्न हुए। कला के क्षेत्र में देश के अनेक केन्द्रों में पाषाण घटित शिल्प और कला का व्यापक प्रचार हुआ। स्तूप तोरण वेदिका और मूर्तियों की रचना के लिये पत्थर का प्रयोग सामान्य बात हो गई।[4] भरहुत, साँची और अमरावती जैसे महाचेतीय या बड़े स्तूप इस युग में ने। बोधगया बोधिमंड या बज्रासन के चारों ओर पत्थर की वेजी या वेदिका और उसके बीच में चार तोरण इसी युग की कृतियाँ है। पत्थर में नाना भांति की उकेरी या नक्काशी एवं अलंकरण अभिप्राय और मूर्तियां इसी युग के शिल्पियों की रचनायें हैं जिनमें देश के आगे

---

1 भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय कला की भूमिका, पृ0 57

2 रीता शर्मा, प्राचीन भारत पृ0 184

3 वी0डी0 महाजन, प्रा0 भारत का इतिहास, पृ0 329–30

4 बासुदेवा शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ0 131

वाले मार्गीय शिल्प का सूत्रपात होता है। शुंग काल में कला के क्षेत्र में इतना अधिक कार्य हुआ कि इस काल की तुलना स्वर्णयुग से की जा सकती हे।[1] जनता में यक्ष नाग आदि लोक देवताओं के लिये जो धार्मिक मान्यता और बौद्ध धर्म के प्रति जो आस्था थी उसका अंकन एक साथ पत्थर पर किया जाने लगा और उसमें कलात्मक सौन्दर्य और विचित्र नई शोभा की सृष्टि की गई। न केवल आकार में अति विशालयकाय कृतियों की रचना की गई जैसे भरहुत और सांची के प्रभाविष्णु स्तूप और महान वेदिका युक्त तोरण द्वार किन्तु सुन्दर गढ़ी मूर्तियां भी उत्कीर्ण की गई। एक ओर वास्तु शास्त्र के नये विधान स्थिर किये गये, दूसरी ओर मूर्ति शिल्प में लालित्य और रूप विधान का भी विकास हुआ जिसके फलस्वरूप चन्द्र यक्षी, चुललोका, महाकोला देवता, सुदर्शना यक्षी जैसी सुन्दर स्त्री मूर्तियां की रचना की गई है जिनमें एक ओर गात्र यष्टि की पूरी शोभा है और दूसरी ओर केश विन्यास, विशेषक रचना, अनेक प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों द्वारा सौन्दर्य विधान का बहुत अच्छा विकास मिलता है इसी के साथ शुंगकालीन कला में रसत्व व आनन्द को भी विशेष स्थंन दिया गया। स्त्री पुरूषों के मुखों पर प्रफुल्लता से भरा हुआ दिव्य आनन्द झलकता हुआ दिखाई देता हे। कला में इस प्रकार का हँसता मुखी सौन्दर्य एवं मग्नानन्दी अंकन तभी होता है जब कलाकार शिल्पी हँसते खेलते लोक जीवन के साथ तन्मय हो गया हो, शुंग कला की विशेषता है कि उसमें सैकड़ों मार्गों से लोक के प्राणवन्त जीवन को अभिव्यक्त होने का स्थान मिला है। प्राचीन अलंकरणों की पुस्तक के अध्याय इस युग में मानो खुलने लगते हैं। श्री लक्ष्मी, पूर्णघट, उतरकुरू के दृश्य धर्मचक्र, त्रिरत, कल्पवृक्ष, मकर कच्छप, यक्ष–यक्षी, नाग–नागी वृक्ष, स्तूप, महाआजानेय पशु जैसे वृषभा, सिंह, अश्व, हस्ती आदि पशुओं की पूजा, देव–देवियां, देव–प्रासाद, पुष्पस्रज, पुष्पमालायें, कल्पलता, सरोवर मालायें एवं और भी अनेक अभिप्राय मिलते हैं जो एक ओर प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के सूचक थे और दूसरी ओर शोभा के लिये कला में अंकित किये जाते थे। शुंग कला में जिनते अधिक अलंकरण हैं उनका वर्गीकरण और सग्रह करने पर तो

---

[1] डा0 एच0सी0 राय चौधरी– पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 201

भारतीय कला की एक पूरी सौन्दर्य संहिता ही हमारे सामने आ जाती है। अशोक ने जिस प्रकार के स्तूपों का निर्माण कराया था उनका और अधिक विकास शुंग युग में हुआ। शुंग के शासन में कला ने राष्ट्रीय रूप लिया और कुछ अभिप्रायों को छोड़ उस कला पश्चिम को कोई प्रभाव नहीं दिखाया जा सकता। जैसे संक्रमण काल के बाद देशकाल शांत हो जाते हैं वैसे ही मौर्यकाल के ईरानी–असूरी प्रभावों को सर्वथा पचाकर शुंग कलावन्तो ने देश की कला को एक नयी दिशा दी। उस युग में कलाकृतियों की बाढ़ सी देश में आ गयी। उत्तर, दक्षिण, पश्चिम, पूर्व सर्वत्र कला के निर्माण कार्य की लहर पर लहर उठी और विलय हुयी। कला के क्षेत्र में उस काल नये क्षेत्र खोले गये। स्तूपों में बहिरंग, उनकी वेदिकायें, तोरण द्वार, हीनयानी बौद्ध लक्षणों से संयुक्त प्रतीक, उत्खचन और चित्रार्थ, सभी इस काल में सफलता से संपन्न हुये। इन प्रस्तर कला–प्रक्रिया से भिन्न एक नयी दिशा में विशेष प्रगति हुयी, मृत्तिका के माध्यम से कलाकारिता में। अनन्त मृण मूर्तियाँ अद्भुत क्षमता, सौन्दर्य और नये लक्षणों से संयुक्त साँचों मे ढाली गयी। भारतीय कला का आंगन नयी विधाओं और उनके उदाहरणो से भर गया। कला की समृद्धि ने अपनी चोटी छू ली।[1]

शुंग काल भवन निर्माण कला में भी एक नया युग लेकर आया। शुंगकाल में बौद्ध स्तूपों के लकड़ी के जंगलों पत्थरों के जंगलों में बदल गये और शानदार प्रस्तर द्वार भी बने। भारहुत के जंगलों ने शुंगकाल को अमर बना दिया।[2]

स्तूप का वास्तु विन्यास :–

स्तूप, चैत्यघर, विहार, स्तम्भ, चतुःशाल वेदिका समेत तोरण और देवस्थान, ये शुंग युग की कला की देन है। स्तूप मिट्टी का बड़ा भारी थूहा होता था जो चिता के स्थान पर बनाया जाता

---

[1] भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय कला, पृ0 59

[2] बी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 330

था। अतएव उसे चैत्य भी कहते थे। यह प्रथा बुद्ध से भी पहले चली आती थी। चिता के स्थान पर स्मृति रूप में पीपल का वृक्ष रोपा जाता था या मिट्टी का थूहा बना दिया जाता था। दोनों को ही "चैत्य" कहते थे।

एक प्रकार का खम्भा खड़ा किया जाता था। जिसकी संज्ञा "चैत्य" यूप" की। यह शब्द महाभारत में आया है और लौरिया– नन्दनगढ़ (विहार) के श्मशान या पितृवन के स्तूपों में प्रतिष्ठित उस प्रकार के चैत्ययूप वस्तुतः पाये गये हैं।[1] मिट्टी के मूल भूत ऊँचों थूहों के बाद में ईटें के कंचुक और पुनः कालान्तर में पत्थर की शिलाओं से ढक दियाग या। इसे शिला कंचुक या शिला आच्छादन कहा जाता है। भरहुत का स्तूप ईटों से सर्वर्द्वित किया गया। उसके ऊपर शोभा के लिये सुधाकर्म या चूने का लेप चढ़ाया गया। उस प्रकार के बड़े स्तूप के निर्माण में 60 करोड़ ईटें तक लग जाती थी। भरहुत का मूल स्तूप तो अब नहीं रहा केवल उसका एक कोना बच रहा है किन्तु सांची का स्तूप जो शिला फलकों पर आधारित है लगभग ज्यों का त्यो अवशिष्ट है। इसके सुगठित शिलापट्टों की रचना शुंग कला का एक आकर्षक उदाहरण है। कालान्तर मे तो ये शिला फलक नाना प्रकार के सुन्दर अलंकरणों से उत्कीर्ण किये जाने लगे जैसे सारनाथ की धमेख स्तूप जिसके आवरण के लिये देवदूष्य अर्थात देवता का वस्त्र इस प्रकार की कल्पना की जाती थी। छोटे स्तूप के आकार और शोभा को बढ़ा कर बड़ा बनाने का रिवाज ही हो गया था। छोटे स्तूप को "अल्पशाख्य" और बड़े की "मटेशाख्य" कहा जाता और इष्टका और शिलाओं मे स्तूप के स्वरूप में परिवर्तन लाया जाने लगा तो वास्तु और शिल्प सम्बन्धी कई प्रकार की नई समस्याओं का जन्म हुआ। उनमें स्तूप के चारों ओर की वेदिका और चतुर्दिक तोरणों का निर्माण मुख्य समस्या थी। भरहुत और सांची कें अलंकृत तोरण और वेदिकायें कला की दृष्टि से बड़ी विशिष्ट कृतियां है, उनकी रचना सौम्य और सुन्दर होते हुए भी निर्माण की दृष्टि से बड़ी जटिल है

---

[1] ए0के0 कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0 30–35

और उनके पीछे शताब्दियों का पूर्वाभ्यास पाया जाता है।[1] भारतीय कला में तीन प्रकार के महान अवशेष हैं जिनका दीर्घकालीन विकास क्रम हमें प्राप्त होता है– एक स्तूप, दूसरे चैत्यगृह और तीसरे वेवमन्दिर। इसमें से प्रत्येक का लगभग 12 शताब्दियों तक का निश्चित विकास क्रम उपलब्ध है, जिसमें रचनाओं और अलंकरणों अर्थात् वास्तु विधान और रूप विधान की एक–एक कड़ी के लिये हमारे पास सामग्री उपलब्ध है। शुंगकाल से लेकर मध्यकाल तक के स्तूपो की कला का अध्ययन किया जाय तो उनके स्वरूप और शोभा सम्पन्न अभिप्रायों की प्रभूत साक्षी हमारे सामने आती है। धार्मिक और वास्तुकला दोनों की दृष्टि से स्तूप की प्राचीनता भारतीय कला के इतिहास में महत्पूर्ण स्थान रखती हैं।[2]

स्तूपों आदि का अध्ययन आरम्भ करने से पहले उचित होगा कि उस काल के कला–कलाप का मूर्ति लक्षणों का जिससे उस युग की कहानी पहचानी जाती है, संक्षिप्त विवरण दे दिया जाये। मौर्यकालीन मिट्टी के ठीकरों की रूपकारिता, अशोकीय, शिलाकार्य के विपरीत, सर्वथा स्वेदशी है। उसी रूप सज्जा भरी और अनन्त है, अधिकतर नारी की सजी उभरी हुयी मूर्ति, अनेकानेक चुन्नटों वाला घाघरा पहले, शुंग कालीन परम्परा में पूर्णतः संपन्न होने वलो केशों का छत्र धारण किये। सांचे का उपयोग भरपूर तभी होने लगा था। शुंगकाल की मृणमूर्तियों की अपनी, सर्वथा अपनी, विधा है, यद्यपि कुछ अंशों में वह मौर्यकालीन शैली की परिणति भी है।[3]

शुंगकाल में कला की आकृति, उसके आकलन की शैली बदल जाती है उसकी प्रकृत यथार्थता का स्थान प्रतीकता ले लेती है। आकृतियों का अपना रूप, अपना मान, अपना आदर्श निरूपित हो जाता है। इस युग की कला सिंधु सभ्यता के बाद पहली राष्ट्रीय कला थी जिसने अपने प्रतीक तो स्थिर

---

[1] भारतीय कला, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, वो० ।, पृ० 132

[2] एफ०ई० फाउचर– एनशिएन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन पृ० 106

[3] एन०आर० राय, मौर्य एण्ड शुंग आर्ट, पृ० 64

किये ही, रसात्मक सौन्दर्य के अपने मान भी स्थापित किये और अनायास नहीं सचेत रूप से। सौन्दर्य बोध अब मात्र आवयवीय न रहा। अशोकीय प्राकृतता छोड़ दी गयी, यथार्थ के अनुकरण से कलावंत विरत हुआ।[1] उसका मूर्तन जरा ठिगना होने लगा। सामने से कुछ चपटा कोरकर सर्वतोभद्रिका मूर्ति बनाने की अपेक्षा अधिक मूर्ति शिला की पृष्ठभूमि से उभारकर हंदस की परपंरा में अर्द्ध चित्रशैली में रूपायित होने लगी। अधिकतर उनका उपयोग कला प्रसंग विशेषतः जातकों की घटनाओं का निरूपण में होने लगा। वैयक्तिकता, सामाजिकता मे बदल गयी। जीवित तरल कथायें पाषाण में उभर आयी।[2] व्यक्ति उन कथाओं के अंग बन गये। यक्ष, याक्षिणी की उभरी अकेली मूर्तियों के नीचे उनके निजी नाम खुदे होने पर भी वे अकेली न थी, कथा परम्परा क अवयव थी, अंग। उभरी चिपटी वृक्षिकायें शाल भंजिकाओं की अग्ररूपणी सी वृक्ष के नीचे उसकी शाखा को कही नवाती, कहीं छूती सी खड़ी हुई। वाहन उनका राज था, मकर अथव वामन पुरूष, उनके पैरों के बीच शुंग कालीन धोती का कोंण भूमि को छूने लगा। हाथों पैरों में कड़े भर गये, ग्रेवेयक और तार हारों से वृक्ष ढक गया, केश मोती की अगणित कडियों से सर्वथा आच्छादित हो गये, या जहां तहां वेणियों से गूंथ कर पीठ पर लटका दिये गये। मृण मूर्तियों में बाणवत शूलवत गूंथे केशों का सामने दत्र बन गया और समूची अग्रभूमि फूलों, विखरे फूलों से भर दी गई। पुरूषों के पग मध्य प्रायः उसी रूप से तिकोनी धोती के ऊपर उत्तरीय फवने लगा और उष्णीष की दोहरी ग्रथ्यि ललाट क`ऊपर कहीं पास–पास, कही दोनों सिरों पर बिन्वाकार मंडित हुई। (चित्र- 51)

नारियों ने भी उसी प्रकार गॉठदार पगड़ियॉं धारण की उनकी पगड़ियों में गॉठ कभी दो कभी केवल एक ही होती थी।

मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रतीकों की बाढ़ सी आ गई। भरहुत और सांची के स्तूपों की

---

[1] एन0एन0 घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 105

[2] एफ0 ई0 फा उचर एन्शिएंट इण्डियन हिस्ट्रीरीकल ट्रेडीशन, पृ0 107
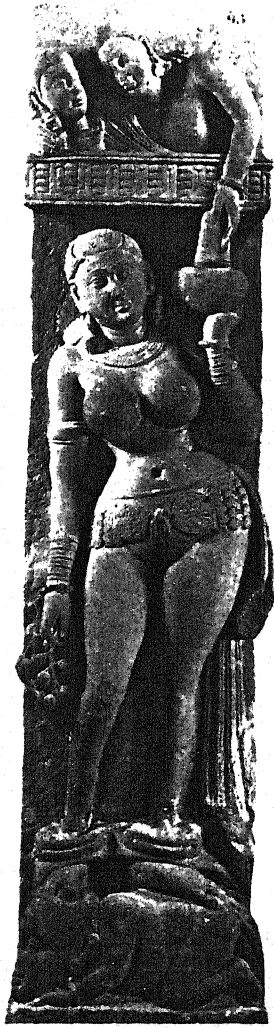
चित्र - 51

चित्र - 52

वेष्टनी उसी शुंग काल पहली सदी ई0पू0 में बनी। अपनी रूचिरता, नई गतिमानता, नई आकृति वृद्धि के साथ जो कला सम्पदा अशोक के बाद युग कालीन मूर्ति क्षेत्र में रूपायित हुई वह अप्रतिम रही। शुंग राज्य की पैतृक विदिशा नगरी के ही राजदंत का कलावन्तों ने भरहुत और सांची के स्तूपों की वेदिकायें और तोरण द्वारों की विस्मयकारी आकृतियाँ उभारी। इन वेदिकाओं और तोरण द्वारों पर जो मानव भाव सत्ता का स्रोत फूट पड़ा है वह सर्वथा अध्यावधी दुर्लभ एवं अनुपम है उभरी आकृतियाँ संजीव हो उठी है, गज, अश्व, कपि , मृग जैसे मानव की भाषा बोलते समझते हैं। उसके भव सागर में डूबते उतरते हैं।[1]

फुल्लों के अंदर प्रफुल्ल प्रसन्न मानव मस्तक अचरज की दक्षता से उभार कर अमर कर दिये गये हैं। साँची के तोरणों पर, उसके द्वार स्तम्भों पर भी जीवन लहरा उठा है। सचेत गतिमान गजों द्वारा स्तूप की मानवीय पूजा, उनका आकृति आकुल परिवार, अशोक के जूलूस की जनसकुलता और अनेक अन्य रूपयित दृश्य अपने वेश और अंकन की मानुवतीव्रता से दर्शक को जड़ बना देते हैं।[2]

शुंगकला के केन्द्र श्रीवसती, भीटा, कौशांबी, मथुरा, बोधगया, पाटिलपुत्र, भरहुत, सांची, सारनाथ आदि थे, बोधगया में भी वेदिकाओं पर आकृतियों का अंकन उसी पकार का है जिस प्रकार भरहुत सांची की बेदिकाओं पर है। मथुरा में शुंगकालीन अनेक उभरी मूर्तियां मिली है। स्तम्भों पर उत्कीर्ण अनेक जातक कथायें भी। वहां का एक आकर्षण है स्तम्भ यक्षी, प्रायः तीन ओर से कोरी, नर्तन के लिये जिसे भूमि पर पग मारने को उद्यत।[8] इसी प्रकार वहां की बलराम की हल मूसलधारी एक मूर्ति लखनऊ संग्रहालय में रखी है निश्चय उस पर परिष्कार दृष्टिगोचर नहीं होता पर महत्व उसका इसमें है कि वह संभवतः अब तक मिली पहली हिन्दू देव परिवार की मूर्ति है।[3]

---

[1] सर जॉन मार्शल– गाइड टू सांची, पृ0 45

[2] भगवत शरण उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका पृ0 83–84

[3] हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनिशयन आर्ट– ए0के0 कुमार स्वामी, पृ0 31

8 चित्र - 52

स्तूप का सम्बन्ध अब प्रायः बौद्ध धर्म से माना जाता है पर यह उसे कहीं अधिक प्राचीन था। स्तूप की कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है वहां अग्नि की उठती हुयी ज्वालाओं को स्तूप कहा है।[1] विवान लेकर फैले हुये वृक्ष के साथ स्तूप की तुलना की गई है।[2] ऋग्वेद में अंगिरस के एक पुत्र का नाम हिरण्यस्तूप पाया जाता हे। वह द्युलोक के सविता देव की स्तुति करता है हिरण्यस्तूप का शब्दार्थ था सोने का थूहा या ढेर। वैदिक कल्पना के अनुसार सूर्य हिरण्य स्तूप है जिसकी सुनहली किरणें चारों ओर स्तूप के आकार में फैली हुयी हैं।[3] किसी मूलभूत सुवर्ण के स्तूप की कल्पना जैन साहित्य में भी पाई जाती है। जहाँ मथुरा के प्राचीन स्तूप को देवनिर्मित स्तूप कहा है। वस्तुतः विराट् प्राण तत्व को देवनिर्मित स्तूप कहा है। वस्तुतः विराट् प्राण तत्व की संज्ञा हिरण्यस्तूप थी। वहाँ हिरण्य का अर्थ दिव्य प्राण है बुद्ध से भी पहले स्तूप का सम्बन्ध महापुरूष से माना जाने लगा। उसके जीवन की कल्पना अग्नि–स्कन्ध या अग्नि के ऊँचे जलते दहाड़े के रूप में की जाती थी। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सूर्य या सविता अग्नि का महान स्तूप है जिसे ब्रह्म की ज्योति माना जाता है। भगवान बुद्ध आने ज्ञानमय प्रकाश के कारण अग्निस्कन्ध बन गये थे और स्तूप के रूप में उनकी स्मृति या पूजा को उचित समझा जाता था। अनुश्रुति है कि बुद्ध की शरीर धातु के आठ भाग किये गये और प्रत्येक भाग के ऊपर एक–एक स्तूप की रचना हुयी। उनमें से सात स्तूप क्षत्रियों या राजाओं द्वारा निर्मित किये गये और आठवां ब्रह्म या ब्राह्मण के द्वारा, इससे यह सूचित होता है कि बुद्ध के जीवन में ब्रह्म और क्षत्र इन

---

[1] जुपस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद्यजतं धूममृण्वन्।
उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मि मिस्ततनः सूर्यस्य।। (ऋग्वेद 6/2/11)

[2] अबुध्ने राजा बरूणों वनस्योर्ध्व स्तूपं ददते पूवदक्ष।
नीचीनाः स्थुरूपरि बुध्न एषामस्ये अन्तर्निहिताः केतवः स्युः।। (ऋग्वेद 1/24/7)

[3] हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वागिंरसो लुहो वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चत्रवसे वन्दमानः सोमस्ये वांशु प्रति जागराहम्।।

दोनों तत्वों का समन्वय था, अर्थात् वे योगी और चक्रवर्ती इन दो आदर्शों के प्रतीक थे। इन्हीं दो तत्वों के सम्मिलन से बु8 की मूर्ति का निर्माण हुआ। चक्रवर्ती रूप मे वे सिंहासन पर छत्र और चंवर के साथ विराजमान देखे जाते हैं और योगी रूप में पद्मासन में स्थित हैं।

<u>भरहुत स्तूप</u> :-

भरहुत गांव उचहरा स्टेशन से 6 मील उत्तर-पूर्व में तथा सतना स्टेशन से 9 मील दक्षिण है। यह प्रयाग से दक्षिण पश्चिम दिशा में 120 मील था और वहां से चेदि की ओर जाने वाले प्राचीन यात्रा पथ के लगभग मध्य बिन्दु पर था।[1]

दो स्तूपों का निर्माण तत्कालीन धार्मिक और समाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया गया। अनेक छोटे-बड़े गृहस्थ व्यापारियों ने उसें भाग लिया जैसा उनके दान के सूचक लेखों की नौध से ज्ञात होता है। धनी व्यापारियों ने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग स्तूप की रूप समृद्धि के लिये किया। मथुरा से विदिशा होकर प्रतिष्ठान को जाने वाले यात्रा पथ पर भी इसी प्रकार के महाचैत्य का निर्माण किया गया। जो वर्तमान सांची का स्तूप है। इन दोनों स्तूपों की भोगौलिक स्थिति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मानो उनके निर्माण कर्ताओं ने राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार के आयोजन किये।[2]

इसमें प्राचीन भारतीय लोक धर्मो का अंकन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। शुंग युग में जो देश व्यापी कला भावना भाजा से लेकर खण्डगिरि उदयगिरि तक व्यापक आंदोलन के रूप में फैली गयी थी उसका प्रत्यक्ष रूप भरहुत साँची के इन दो महान स्तूपों के रूप में आज भी उपलब्ध

---

[1] वी0डी0 महाजन, प्राचीन भारत, पृ0 436

[2] वासुदेव शरण- भारतीय कला, पृ0 139

है।

1873 ई0 में जनरल कनिंघम ने यहां पर एक बड़े बौद्ध स्तूप का अवशेष पाया, जिसके तले का व्यास 67 फुट था। इसके चारों ओर भी पत्थर की बाड़ ली जो अद्भुत मूर्ति शिल्प से अंलकृत थी। इसका पत्थन लाल रंग का तथा चुनार जैसा रवादार है स्तूप की ईटों को आस–पास के गावं वालों ने अपने प्रयोग के लिये प्रायः साफ कर दिया था। बाड पर की मूर्तियों को भी कम क्षति न पहुंची। 1876 ई0 तक कनिंघम और उनके दल ने वहां खुदाई की और अधिकांशतः मूर्ति युक्त पत्थरों को कलकत्ता संग्रहालय में भेजकर बचा लिया। वहां जो कुछ बाकी रह गया था, वह इधर उधर हो गया। हाल में उसका कुछ अंश इलाहाबाद संग्रहालय के प्राण श्री ब्रजमोजन व्यास ने अपने संग्रहालय के लिये बड़े परिश्रम से प्राप्त किया है जिसमें का एक टुकड़ा उन्होंने भारत कलाभवन, काशी को भी दिया है।[1]

भारहुत स्तूप की ईटें पास के गांवों में खुद कर चली गयी हैं। पर उसकी वेदिका के खण्ड कलकत्ते के इण्डियन म्यूजियम में सुरक्षित है, कुछ यूरोप के संग्रहों में भी उपलब्ध है।[2]

एक ओर छोटा सा दस फुट लम्बा और छः फुट ऊँचा भाग बच गया था। दक्षिण पूर्व के इस अविशिष्ट भाग में दीये रखने के आले बने हुये थे। प्रत्येक आला ऊपर की ओर 13.5 इंच चौड़ा, नीचे 4.5 चौड़ा था और दो आलों के बीच की दूरी 8.5 इंच या 9 इंच थी। स्तूप के चारों ओर की दीपपंक्ति के इन आलों के स्थानों की संख्या 100 थी जिनमें कुल मिलाकर 600 से ऊपर दीपक जगमगाते थे। स्तूप पक्की ईटों से बना हुआ था जिनका आकार 12 इंच×12 इंच×3.5 इंच था। इनमें से कुछ बड़ी ईटों की मोटाई 5 इंच से 6 इंच थी। स्तूप की ऊचाई ज्ञात नहीं हो सकी। किन्तु

---

[1] रायकृष्ण दास– भारतीय मूर्तिकला, पृ0 44

[2] भ0श0 उपाध्याय, भारतीय कला की भूमिका, पृ0 61

उसके आकार का अनुमान वेदिका पर उत्कीर्ण मूर्तियों से होता है मूल स्तूप पत्थर और बजरी की दृढ़ नींव पर पकी ईटों से बना है।[1] उसके चारों ओर नीव में पत्थर के ढोके और मिट्टी से बजरी भस्सी का पतस्तर था।[2]

स्तूप की चारों ओर भूमि पर बनी हुयी बड़ी वेदिका थी। जिनमें चार तोरण द्वार थे। वेदिका का आकार परिमंडल या गोल था मानों कोई बड़ा चक हो। तोरणों से वह चार फाकां में बंट गयी थी। स्तूप और वेदिका के बीच की 10 फुट 4 इंच चौड़ी भूमि प्रदक्षिणा पथ में काम आती हो। कुल वेदिका में 80 खम्भे थे और सब मिलाकर उसका मंडलाकार घेरा लगभग 330 फुट का था। प्रत्येक स्तम्भ की ऊचाई 7 फुट 1 इंच थी। खम्भों के ऊपर उष्णीष के पत्थरों की पंक्ति बैठाई गयी थी। प्रत्येक उष्पीष की लम्बाई 7 फुट और ऊँचाई 1 फुट 10 इंच थी। इससे वेदिका की पूरी ऊचाई 9 फुट के लगभग हो गयी थी। प्रत्येक स्तम्भ के ऊपर का चोटिया या महादेवा ऊष्णीष की चूल में पिरोया रहता था दो स्तम्भों के बीच में तीन–2 आड़े पत्थर लगे हुये थे, जिनकी संज्ञा सूची थी। प्रत्येक सूची का नाप 1'11.25''लम्बाई, 1' 10.5''चौडाई, 6 इंच मोटाई, कुल 228 सूचियां लगी थी।[3] (चित्र-53. A+B)

स्तूप की बाड़ बड़ी विराट थी। इसकी ऊँचाई सात फुट एक इंच है और तकियों के दाब के प्रत्येक पत्थर की लम्बाई भी इतनी ही है। इस बाड़ के प्रत्येक अंश पर बौद्ध कलाओं के चित्र अलंकरण, गोभूत्रिका, कुल्ले और यक्षिणी तथा देवयोनि आदि बने हैं वहां के पूर्वाय तोरण पर के एक लेख से पता चलता है कि शुंगकाल में यह कृति तैयार हुयी थी। भरहुत का जो वर्णन कनिंघम ने किया है वह आज भी अद्यतन है।

भरहुत की मूर्तियों के अनेक और विभिन्न है। प्रायः दो काडी तो जातकों के दृश्य है। कोई आधा दर्जन बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक दृश्य है। महत्व की बात यह भी है कि

---

1 हरमैन गोट्स, फाइव थाउजेन्ड ईयर्स ऑफ इण्डियन आर्ट, 1980, पृ0 204

2 महावंश में वर्णित है।

3 इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू) बोम्बे– 1949 पृ0 186

← चि.-53 A

चि.-53 B →
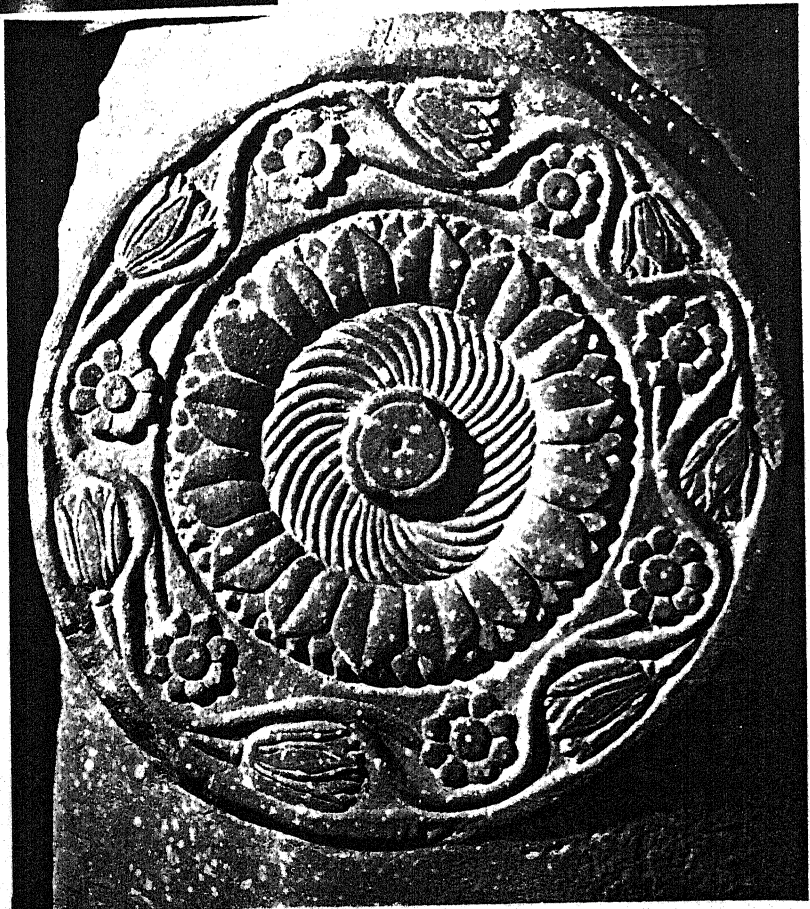
इनमें से अनेक पर मूर्ति के विषय निर्देशक लेख अंकित है। ऐतिहासिक दृश्यों को चौकड़ी जुते हुए रथ पर बुद्ध के दर्शनों को जाते हुए कौशल के महाराज प्रसेनजित की सवारी उसी निमित्त हाथों पर जाते हुए मगधाधिप अजातशत्रु की सवारी, विशेष आकर्षण है। इन दृश्यों का जैसा वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में आया है वैसे ही यह अंकन भी है इसी प्रकार एक मूर्ति में जेतवन के कय और दान का आकर्षण दृश्य है। इसकी कथा इस प्रकार है कि बुद्ध के समय में कौशल की राजधानी श्रावस्ती के नगर सेठ सुदत्त ने, जिसे अनाथों को भोजन देने के कारण अनाथ पिंडक कहते थे और जो बुद्ध का परम भक्त था, बौद्ध संघ के दान देने के लिये श्रावस्ती के राजकुमार जेत से एक बारी मोल लेनी चाही जिसका नाम कुमार के नाम पर जेतवन था। जेत ने कहा– जितने सोने के सिक्के जेतवन को भूमि पर बिछ जाये वही उसका मूल्य है। सुदत्त ने इसे ललककर स्वीकार किया पर कुमार नटने लगा। यह विवाद न्यायालय तक पहुँचा। वहाँ अनाथ पिंडक के पक्ष में निर्णय हुआ क्योकि असम्भव दान मांगे जाने पर भी वह सहर्ष तैयार हो गया था। उस बारी को लेकर नगरश्रेष्ठि ने वहाँ संघ के लिये बिहार अर्थात् मठ बनवा दिया। मूर्ति में तीन वृक्षों तथा कुछ वास्तु द्वारा जेतवन दिखाया गया है। आगे एक बैलगाड़ी से स्वर्णमुद्रायें उतारी जा रही है। कुछ लोग स्वर्ण सिक्कों को जमीन पर बिछा रहे है। सब सिक्के चौकोर है, जैसे शुंगकाल में चलते थे। सुदत्त जल की झारी लिये वन का दान कर रहा है। एक ओर मंघ की भीड़ खड़ी है। वास्तु में से एक में भद्रासन बना है यह बुद्ध का द्योतक है क्योकि भरहुत में भी सांची की भाँति बुद्धि मूर्ति का अभाव है।[1]

चालीस के लगभग यक्ष–यक्षिणियों, देवता और नागराज की बड़ी मूर्तियाँ है, जिनमें से अनेक पर उनके नाम खुंदे हैं। (चित्र- 54)

भरहुत की वेदिकाओं पर उभरी यक्ष यक्षियों, नागराजाओं, देवताओं की दीर्घाकृतियाँ

---

[1] भारतीय मूर्तिकला, रायकृष्ण दास, पृ0 47

चित्र - 54

अत्यन्त मनोहारी काटी गई है।[8] एकाकी मूर्तनों में नाम भी खुदे हैं। इनके अतिरिक्त बाड़ों पर वृत्तों में नरनारियों के सुदर्शन, फुल्ल, कमल आदि के प्रतीक उत्कीर्ण है। अभी महायान का उदय नहीं हुआ था केवल हीनयान अथवा अर्हतवाद का ही बौद्ध धर्म का बोलबाला था। इससे बुद्ध की प्रतिमा अभी नहीं बनी थी और बुद्ध की उपस्थिति का बोध उनके छत्र धर्मचक्रप्रवर्तन, पदचिन्ह, पादुका भिक्षापात्र, बोधि वृक्ष आदि के रूप में कराया जाता था।[1] ये प्रतीक वेदिका पर अत्यन्त आकर्षक रूप में उभारे गये हैं। जातक कथाओं के कला में अनुकार्य दर्शक को बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं से परिचित कराते हैं। उस पर बने गज–मृग–वानरों की सजीवता तो संसार की समूची कला में अलभ्य है। भरहुत रेलिंग के स्तम्भों पर बनी एक विशेष प्रकार की नारी मूर्तियाँ वृक्ष की शाखा झुकाये या उसके तने को शरीर से लगाये उसके नीचे खड़ी है। इनके नाम भारतीय कला समीक्षा में वृक्षिका, शालभन्जिका, यक्षी यक्षिणी आदि पड़ गया है। यक्ष यक्षियों का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय जनविश्वास में वृक्षों से किया गया है। वे उर्वरा शक्ति से सम्पन्न मानी जाती है। जल और वृक्ष दोनों ही उर्वरा शक्ति के साधक माने जाते हैं और दोनों से उनका सम्बन्ध अथवा उनमें उनका निवास रहा है। इनका बहुत ही सफल व सपाट निरूपण इन वेदिकाओं में हुआ है।[2]

मातृशक्ति को विशेषतः स्पष्ट करने के लिये उनके रतन सुपुष्ट और नितम्ब भंरी बनाये गये हैं। जानवरों की भी अनेक मूर्तियां हैं जिनमें से कुछ में काफी सजीवता और स्वाभाविकता है। यही हाल वृक्षों की मूर्तियों का है। उनमें भी सौन्दर्या और निजस्व है। मानव जीवन में बरती जाने वली अनेक वस्तुओं की प्रतिकृतियाँ भी यहा मौजूद हैं, जैसे गहने, कपड़े, बरतन भांडे, बाजे शस्त्रास्त्र, नाव रथ पताका आदि राजचिन्ह इत्यादि। अलंकरणों में कटहल, माला, कमल आदि की गोमूत्रिका बेलें बनी

---

[1] एम0 फाउचर, विगिनिंग ऑफ बुद्धिस्ट आर्स्ट, पृ0 125

[2] भ0श0 उपाध्याय, भारतीय कला, पृ0 110–113

8 चित्र – 55

चित्र- 55

चित्र- 56

हैं। एक स्थान पर बन्दरों का एक दल एक हाथी को गाजे–बाजे से लिये जा रहा है। एक दृश्य में एक मनुष्य का दॉत भारी संडासे से उखाड़ा जा रहा है जिसे हाथी खींच रहा है।[1]

भरहुत के एक वेदिका स्तम्भ पर यक्षी चल कोक देवता का बड़ा सुन्दर चित्रण है वह बाईं भुजा और टॉंग से अशोक वृक्ष का तना लपेटे हैं। दाहिने हाथ से शाखा झुकाती हाथी पर खड़ी है। वृक्ष खुला है। तिकोनी धोती का एक कोना पैरों के बीच लटक रहा है। बालों की लड़ियाँ बंधी है। कानों में भारी कुन्डल पहने हुये हैं। गले में एक हसली जैसा छार है, कमर में सात लड़ियों की करधनी है। भुजाओं पर भुजबन्द, कलाई पर बहुत सी चूड़ियाँ और पैरों में कड़े तथा पाजेब है।[&] एक स्तम्भ पर वामन के ऊपर पैर रखे धोती, उत्तरीय, कुन्डल भुजबन्द और हार पहने प्रणाम मुद्रा में यक्ष खड़ा है। इसी स्तम्भ के दूसरे सामने शाल भंजिका मुद्रा में गुथी वैणी और साधरण आभूषण धारे अभिराम खड़ी है कुछ। कानों में वोधि वृक्ष और स्तूप के दृश्य पूजकों के साथ अंकित है जिन पर देवता, गंधर्व या विद्याधर पुष्प वर्षा कर रहे है। एक पर इन्द्र का स्वर्ग चित्रित है। एक में दम्पति का सुघड़ निरूपण है जिससे पति पत्नी का पहनावा प्रकट है पति धोती, उत्तरीय और हसली पहने है। पत्नि के केश मोती की लड़ियों से ढके हैं, गले में हार, करधनी और हाथों में चूडियां पहने हैं। एक हाथ में कमलदण्ड लिये हैं।[2]

भरहुत वेदिका की बाड़ों और स्तम्भों पर अत्यन्त सुन्दर वृतें में विविध अंकन हुए हैं। एक जगह फुल्ल कमल के बची फैली अत्यन्त सुन्दर पंखुड़ियों के वृत में विस्मयकारी एक आकार्षण पुरूष उभारा गया है– कानों में गोल कुण्डल हैं, गले में हसली और एक चौड़ा हार है एवं प्रसन्न भाव में दिखंया गया है जो सकता है कि यह चित्र उस व्यक्ति का हो जिसने यह वेदिका बनवायी हो।[3]

---

[1] भारतीय मूर्तिकला– रायकृष्ण दास, पृ0 45

[2] भ0शरण उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका, पृ0 63

[3] एन0आर0 राय– मौर्य एण्ड शुंग आर्ट– पृ0 68–9

& चित्र - 56

एक वृत्त में अश्वमुखी जातक कथा उकेरी गई है। रूरू जातक वाली कथा तो संजीव सी जान पड़ती है। जिसमें बोधिसत्व मृग डूबते हुए अभिजात की रक्षा करते हैं। रानी के स्वप्न में देखे उस स्वर्ण मृग को मारने के लिये राजा वन में अनुसंधान करता है। रूरू क मधुर वक्तव्य से विरत होकर हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। दृश्य पर दृश्य बनते चले गये हैं। प्रमाणतः शुंगकालीन कलावन्त को इस समय तक तीसरे आकार के प्रदर्शन का ज्ञान नहीं है।[1]

वेष्टिनी के प्रत्येक चतुर्थांश में सोलह स्तम्भ तो परिमंडल की आकृ2ित में लगे हुए थे और चार अधिक स्तम्भ तोरण द्वार के पदरे के लिये थे जिनमें दो खम्भे वेदिका के अन्तिम स्तम्भ से बाहर की ओर निकलते हुए और दो मुड़कर द्वार के सामने का जंगला बनाते थे। तोरण द्वार के खम्भों की ऊँचाई 9 फुट 7.5 इंच थी। दोनों और के दो ऊँचें खम्भे 4–4 पतले खम्भों को जोड़कर बनाये गये हैं। पूर्व और पश्चिम के द्वारों के ये खम्भे उठपहल है और उत्तर व दक्षिण के चौपहल है इस प्रकार चार–चार डंडियों को जोड़कर जो प्रत्येक द्वार के दो खम्भे बने उनके ऊपर पत्थर का बडा जंगला है। प्रत्येक जंगले की तीन बड़ेरिया है और उनके बीच में छोटे खम्भे है। दो बड़ेरियों को एक दूसरे से अलग करने के लिये चौकोर पत्थर है।[2]

बडेंरी या धरन के लिये संस्कृत शब्द तोरण का प्रयोग हुआ है और पूरे द्वार या जंगलों को भी तोरण कहा जाता था। तोरण का यह अर्थ अभी तक भाषा में प्रचिलित है।[3] भरहुत के तोरणों की एक विशेषता उनकी बड़ेरियों के दोनों गोल सिरों पर बनी मगरमच्छ की आकृतियां हैं, जिनके मुख

---

[1] भगवत शरण उपाध्याय– भारतीय कला, पृ0 62

[2] ई बी0 हैवेल– हैण्डबुक ऑफ इण्डियन आर्ट, पृ0 113

[3] वी0ए0 स्मिथ, ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया, पृ0 210

खुले हुए है और पूँछ गोलाई में है। इन्हें शिशुमार शिर कहा जाता था।[1] सबसे ऊपर के तोरण के बीच में एक बड़ा धर्मचक्र मुचकुन्द पुष्प में की चौकी देकर लगाया गया था। इसके दोनों ओर त्रिरत्न चिन्ह लगाये गये थे।

भरहुत की वेष्टनी पर एक सुन्दर ऐतिहासिक घटना खुदी हुई है- बुद्ध की श्रावस्ती में जो उपवन आकर्षक लगा वह जेत का था। बुद्ध ने उसके सौन्दर्य का वर्णन किया तो बौद्ध उपासक सेठ अनाथ पिंडय ने राणा जेत से उस उपवन को खरीद कर संघ को दान देने की इच्छा प्रकट की। जेत ने उसे बेचना स्वीकार नहीं किया लेकिन बाद में इतने सोने सिक्के मांगे जिसके उस उपवन की भूमि ढक जाये। जब सेठ अनाथ पिंडय उतना धन देने को तैयार हो गया तो जेत मुकर गया। अभियोग विचारार्थ न्याय सभा में पहुंचा और जेत को हराकर अपना मांगा मूल्य स्वीकार करना पड़ा। सेठ ने जेतवन की भूमि को सोने के सिक्कों से पाटकर उपवन का मूल्य चुका दिया।[2] यह घटना इतनी महत्वपूर्ण मानी गई कि इसे भरहुत की स्तूप वेष्टिनी पर उकेरा गया व अमर बना दिया गया। बैलगाड़ियाँ सिक्कों से भरकर लायी जा रही है, सिक्के भूमि पर बिछाये जा रहें हैं। थके बैलों की खोल कर आराम करने दिया जा रहा है।[3]

इस प्रकार जीवन और साहित्य की कथायें इन कलाकृतियों में उतार दी गयी हैं, अनेक प्रतीकों ने साहित्य में स्थान पाया है। जातक कथाओं का कला में निस्सीम मूर्तन साहित्य और कला के इस घनिष्ठ सम्बन्ध और आदान प्रदान को व्यक्त करता है।[4]

---

[1] आदिपर्व 176/15, शिशुमार शिरः नामक वासुदेव शरण अग्रवाल का लेख में उदद्धृत, महाभारत "नोट्स", भण्डारकर शोध संस्थान पत्रिका के वर्ष 26, भाग- 3-4, पृ0 283-86

[2] जातक कथाओं में वर्णित

[3] ए0के0 कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0 35

[4] भगवत शरण उपाध्याय- फीडर्स ऑफ इण्डियन कल्चर, पृ0 23

भरहुत पर उत्कीर्ण मूर्तियां उस समय की अन्य मूर्तियों की भाँति चिपटे डौल की है। अर्थात् जैसा सांची के विषय में बता चुके हैं, ये मूर्तियां न होकर पत्थर पर काटे गये चित्र हैं, इनमें भी बुद्ध का सकी अभाव है। जहां उनका प्रसंग लाया है वहां चरण चिन्ह, पादुका, छत्र, धर्मचक्र का आसन आदि से उसका बोध कराया गया है, भरहुत की कला में एक विशेष बात यह है कि वह लोक कथा जान पड़ती है। उसमें वह सुथरापन नही है जो अशोकीय खम्भों या सांची के तोरणों में है किन्तु भरहुत की यह विशेषता वहीं तक सीमित है यह बात नहीं है। मथुरा, बेसनकर, भीटा[1] बुद्धगया[2] काशी[3] कौशाम्बी तथा सुदूर दक्षिण में जगय्या पेटा[4]आदि में जहां कहीं भी शुंगकाल की पत्थर या मिटट्टी की मूर्ति मिली है वहां यही लोक कला विद्यमान है। उस समय तक लोक ने बौद्ध सम्प्रदाय को अपना लिया था जिसकी कलात्मक अभिव्यक्ति उस कला द्वारा होती थी जो उस समय के लोक जीवन में ओत–प्रोत थी।[5]

भरहुत के स्तूप का वास्तु विवरण कनिंघम और बरूआ ने अपने ग्रन्थों में दिया है। कनिंघम को वेदिका के 47 स्तम्भ प्राप्त हुये थे। 35 तो अपनी असली जगह मिल गये थे और 12 बटनमारा, निथौरा आदि पास के गाँवों में ढूढने से मिले थे। उसे ऊष्णीय के 40 पत्थरों में 16 उपलब्ध हुये थे। पं0 ब्रजमोहन ब्यास ने भरहुत तोरण और वेदिका के 53 भाग इलाहाबाद संग्रहालय के लिये अपनी कुशलता से पुनः प्राप्त किये। उनमें 32 वेदिका स्तम्भ, 1 दोरूखा कोण स्तम्भ, 3 सूची, 14 ऊष्णीष एक खंडित शीर्षक और दो सोपान खण्ड है वेष्टिवी और तोरणों की रचना और उन्हें जंगले के

---

[1] प्रयाग के दक्षिण, यमुना पार चेदि की राजधानी सहजाती।

[2] बौद्धगया की कला इस समूह में कुछ उन्नत है। इसका कारण राजधानी पाटिलपुत्र सान्निध्य हो सकता है।

[3] सारनाथ में है– इस काल का एक घुड़सवार उकेरा गया है जो घोड़ा दौड़ाता हुआ प्रसन्न मुद्रा में दर्शाया गया है।

[4] जगयपेटा के निकट अमरावती की पाषाण कला का आरम्भ भी सम्भवतः इसी समय हुआ होगा।

[5] रायकृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला, पृ0 46

रूप में बांधकर खड़ा करने का अनुकृति काष्ठ शिल्प से की गयी थी। पत्थर में उस प्रकार का जंगला बहुत उपयुक्त नहीं माना जा सकता पर फिर भी उस कटघरे की सुरक्षा दो सहस्त्र वर्षों से ऊपर रही है जिससे उसके रचना के मूल नियम सही जान पड़ते हैं। स्तूप के अंड की मूल आकृति वेदिका पर तीन चार जगह अंकित है, जिसमें उसकी सच्ची प्रतिकृति का अनुमान होता है। इससे ज्ञात होता है कि मूल स्तूप एक बड़े घण्टे की आकृति में लगभग अर्धचन्द्राकार था। उसमें व्यास और ऊँचाई का अनुपात कालान्तर के स्तूपों की अपेक्षा कम था जिस समय कि स्तूप की ऊँचाई बढ़ती चली गई थी।[1]

एक वेदिका स्तम्भ पर उत्कीर्ण आकृति इस प्रकार के स्तूप का परिचय देती है उसके चारों ओर वेदिका भी दिखाई गयी है। अंड के मस्तक भाग पर हर्मिका और छोटे खम्भों की वेदिका बनाई जाती थी। बीच में छत्र और उसकी यष्टि लगाई जाती थी और छत्र के गोल पार्श्व भाग की किनारी से लटकती हुयी मालायें दिखाई जाती थी। शिखर को चौकोर वेदिका के पाद और मस्तक भाग में बड़े फुल्लां का अलंकरण पाया जाता है और अंड के ऊपरी भाग में भी एक बेलनावृति अलंकरण की सज उकेरी गयी है।[2]

महास्तूप के वस्तु की कल्पना एक महान दिक स्वास्तिक के रूप में की गई थी जिसमें चक्राकार वेदिका के चार भाग और चार द्वार तोरण दिशाओं की दृढ़ सत्ता के सूचक थे। इस भाव के पीछे विश्व सृष्टि का तत्व निहित था। इस प्रकार की मान्यता को दिशावृत कहते हैं और ऋग्वेद के समय में ही वह अस्तित्व में आ चुकी थी। वहाँ उत्तर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, ऊर्व और ध्रुव इन छह दिशओां में दृढ़ संस्थान का वर्णन कई मन्त्रों में पाया जाता है। लोक में चार महाराजिक देवों की पूजा का सम्बन्ध स्तूप के वास्तु का विकास हुआ तब भी चार दिशाओं का अव्यक्त प्रभाव उसके स्वरूप पर बना ही रहा जिसके कारण चार दिशाओं में बुद्ध की चार प्रतिमाएं और बोधिसत्व तथा अन्य देवताओं

---

[1] आर0के0 मुकर्जी, एंशिऐंट इण्डिया, पृ0 209।

[2] बी0ए0 स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ एंशिऐंट इण्डिया, पृ0 116

की मूर्तियाँ बनायी जाती रहीं।[1]

वेदिका के निर्माण में सूचियों का स्थान भी उल्लेखनीय है। दो खम्भों के बीच में तीन–तीन सूचियाँ लगायी जाती थी और यह प्रथा कई सौ वर्षों तक बनी रहीं।[2] कुल 228 सूचियाँ थी जिनमें से 80 मिली हैं। प्रत्येक सूची 1 फुट 11.5 इंच लम्बी, 1 फुट 10.5 इंच चौड़ी तथा 6 इंच मोटी है। इनमें से कुछ पर जातक कथायें अंकित है पर मुख्यतः पुष्पों की आकृतियाँ है। तोरण द्वारों के सामने जहाँ वेदिका का मोड़ भाग है वहाँ की सूचियाँ खम्भों की दूरी के कारण कुछ अधिक लम्बी है। उन पर स्तूप, बोधिवृक्ष, और धर्मचक्र के दृश्य अंकित हैं।

<u>प्रदक्षिणा पक्ष</u> :–

देवता की परिक्रमा, उसी पूजा का आवश्यक अंग था। प्राचीन काल से ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण दिशाओं में देव के लिये नमस्कार की प्रथा थी। ज्ञात होता है कि यह दिशाव्रत की धार्मिक विधि थी, तदनुसार यज्ञ की वेदी देवता के स्यीमल, बोधि मण्ड, स्तूप इन सबके चारों ओर घूम कर दर्शन करना लोक में पूजा का सर्वमान्य प्रकार था। इसके लिये स्तूप और वेदिका के बीच प्रदक्षिणा पद बनाया जाता था। इसका बहुत महत्व था और किसी भी देवता की पूजा परिक्रमा के बिना पूनी नहीं समझी जाती थी। आगे चलकर देव प्रासाद या मन्दिरों में भी परिक्रमा की प्रथा का महत्वपूर्ण स्थान बना रहा और उसके लिये मन्दिरों की वास्तुकला में प्रदक्षिक पथ का निर्भाव किया गया। प्रदक्षिणा को भ्रमण या भ्रमणी भी कहा जाता है, जिस मन्दिर में प्रदक्षिणा पथ बनाया जाता था उसे सान्धार और जिसमें प्रदक्षिणा पथ के लिये जगती पर खुला स्थान रहता था उसे निस्थार संज्ञा दी गयी।

भरहुत स्तूप के चारों ओर का प्रदक्षिणा पथ बढ़िया बज्रलेप से आच्छादित था। इस

---

[1] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत, 339

[2] बासुदेव शरण अग्रवाल– भारतीय कला, 143

मिट्टी को नवनीत मृत्तिका कहा जाता था। वह चिकनी और महीन होती थी। उसके नीचे लगभग 1 पोरसा या 7–8 फुट की गहराई तक पत्थर के रोरे, गिट्टी, बजरी की एक के ऊपर एक तह देकर सबके ऊपर नवनीत मृत्तिका या मसके–दोगे का भूमि बन्धन किया जाता था। इस प्रकार का प्रदक्षिणा पथ स्तूप में वस्तुतः पाया गया।

सांची का स्तूप :–

सांची विदिशा से केवल 5 मील है। वेत्रवती और विदिशा नामक नदियों के संगम पर दशार्ण देश की प्राचीन राजधानी विदिशा मथुरा से प्रतिष्ठान को जाने वाले महापथ पर प्राचीन व्यापारिक केन्द्र था। वह पूर्वी मालवा का सबसे बड़ा स्थान था, अतएव उसे महाचैत्यों के निर्माण के लिये उपयुक्त समझा जाता है। विदिशा के पास एक और सांची की पहाड़ी पर बौद्ध भिक्षुओं ने अपने विहार और स्तूपों का निर्माण किया तो विदिशा के दूसरी ओर भागवतों ने भगवान विष्णु के मन्दिर, गरूड़ध्वज और कामदेव के लिये मकरयष्टि या मकरध्वज नामक स्तम्भ स्थापित किये। सौभाग्य से सांची के स्तूप बहुत अच्छी दशा में सुरक्षित रह गये और भारतवर्ष के बौद्ध अवशेषों में उनका मूर्धन्य स्थान कहा जा सकता है।[1]

वस्तुयें नष्ट नहीं हुयी है क्योकि ये इस्लाम की सेनाओं के पथ से दूर थी। इसे नये पुरातत्वशास्त्रियों ने कुछ हानि पहुँचाई पर उसे पुनः स्थापित कर दिया गया है। और यह कहना उचित है कि सांची आजकल पुरातत्व पुनः स्थापन की विजय का नमूना है। बी0ए0 स्मिथ का कथन है कि भारतीय कला के इतिहास में सांची का महत्व मुख्यतः स्तूप और उसके चारों ओर की रेलिंग के बीच में जुलूस के मार्ग में बने हुए चार आश्चर्यजनक तोरण द्वारों पर आधारित है।[2]

---

[1] गाइड टू सांची, पृ0 20–21

[2] बी0ए0 स्मिथ, ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन (आक्सफोर्ड) 1930, पृ0 201
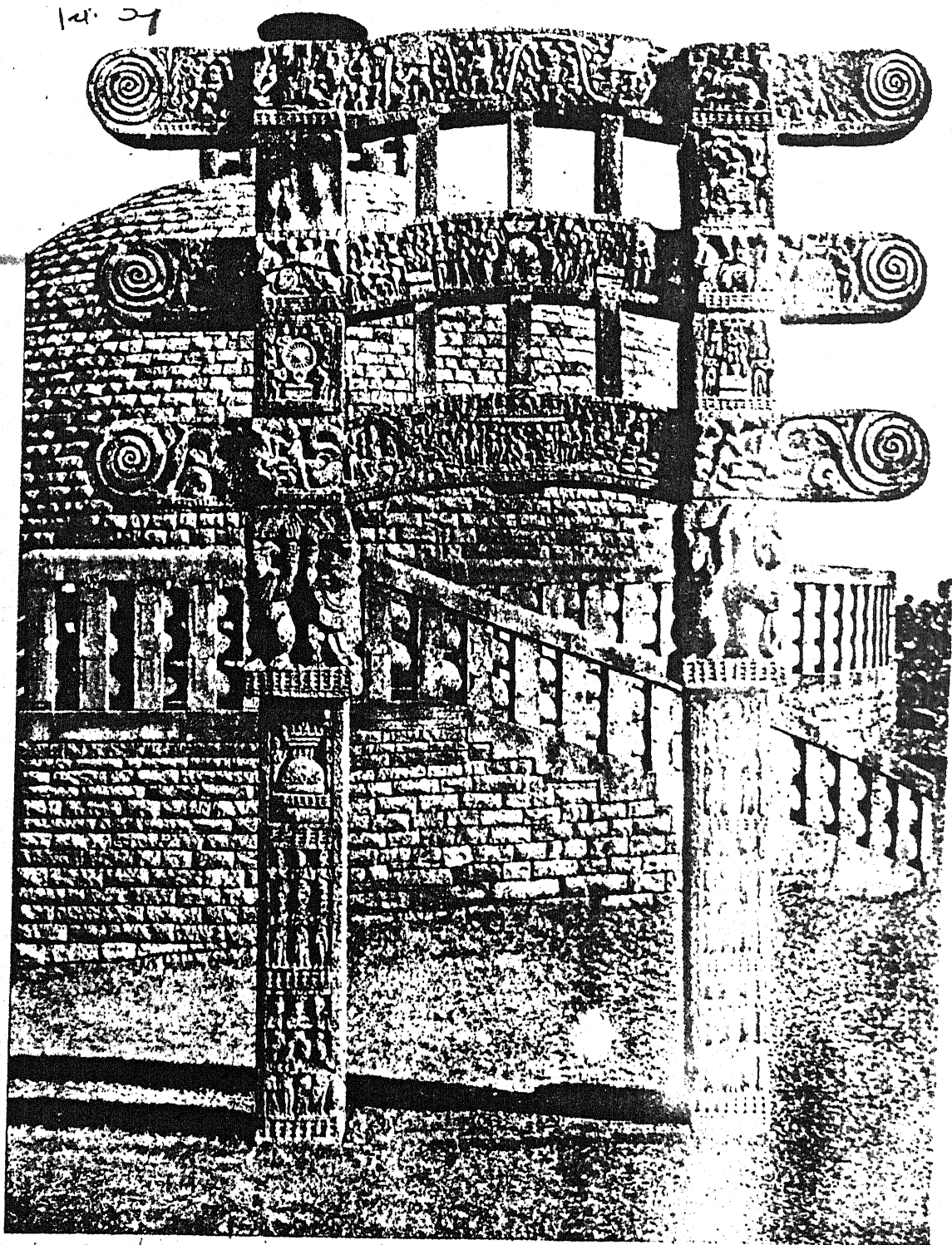
चित्र- 57

सांची के टीले को महाचैत्य गिरि कहा गया है। यह संज्ञा उस पर बने बड़े स्तूप के कारण पड़ी होगी। यह टूंगरी 300 फुट के लगभग ऊँची और आकृति में कमल पृष्ठ के समान है। सांची में और उसके आसपास लगभग 61 स्तूप है- (1) सोनारी में 8 स्तूप (2) सतधारा में 5 स्तूप (3) अंधेर में 3 (4) भोजपुर में 37 (5) सांची में 8

सांची के मुख्य स्तूपों की संख्या 3 है, इनमें सबसे बड़ा महान स्तूप कहलाता है। पास ही दो और स्तूप बने हैं। जिनमें से नं0 2 में बुद्ध के सारिपुत्र और महामोघ गल्ययिन नामक दो शिष्यों के अस्थि अवशेष मिले हैं। कुछ अस्थि अवशेष उस तीसरी संगीति के सदस्य बौद्ध स्थविर, आचार्य अथवा महा भिक्षुओं की अस्थि अवशेष भी मिले हैं। इन्हें अशोक ने 250 ई0पू0 में बुलवाया था। स्तूप 19वीं शदी में खोला गया।[1] तब उसमें संचित अस्थियों का पता चला। स्तूप (1) और (3) खास टीले पर है और स्तूप सं0 2 पहाड़ी के पश्चिम की ओर है। पहाड़ी पर दो बेसर आकृति के चैत्य घर भी है जिनकी नींव शेष है। उनमें से एक[2] महास्तूप के दक्षिण की ओर है और दूसरा[3] ही भाग में कुछ दूरी पर है। महान स्तूप का व्यास आधार पर 121.6 फुट ऊँचाई 77.6 फुट और उसकी वेदिका स्तम्भों द्वारों की 11 फुट है।

महास्तूप के चारों ओर की चार दिशाओं में चार तोरण द्वार है और दक्षिण तोरण के सामने एक अशोक स्तम्भ है। स्तूप सं0-3 के साथ केवल एक तोरण द्वार है[4] और स्तूप-2 में कोई तोरण नहीं है। अशोक ने सांची में इष्टिका स्तूप का निर्माण कराया था जो शुंग काल में शिला कंचुक से आच्छादित कर दिया गया। पांचों द्वार तोरणों और महावेदिका का निर्माण भी शुंगयुग में प्रथम शती

---

[1] भारतीय कला, भगवत शरण उपाध्याय, पृ0 40

[2] स्तूप सं0-18

[3] स्तूप सं0-40

[4] चित्र - 57

ई0पू0 के लगभग हुआ। दक्षिणी द्वार तोरण की सबसे ऊपर की बडेरी पर स्तूप के सामने की ओर एक लेख उत्तीर्ण है।[1]

इन द्वार तोरणों में चौपहल खम्भे है जो 14 फुट ऊँचे है। उन पर तेहरी बडेरियां है जो बीच में से तनिक–तनिक कमानी दार है। बडेरियों के ऊपर सिंह, हाथी, धर्मचक्र, यक्ष और त्रिरत्न[2] आदि बने हुए है। समूचे तोरण की ऊँचाई चौतीस फुट है। इसी से इनकी भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। तोरणों पर चारों ओर बुद्ध की जीवनी के और उनके पूर्वजन्मों के अनेक दृश्य बड़ी सजीवता से उभार कर अंकित है। बड़ेरियों में इधर–उधर हाथी, मोर, पक्ष वाले सिंह, बैल, ऊट और हिरन के घोड़े, जिनके मुँह विरूद्ध दिशाओं में है।

बड़ी सफाई और वास्विकता से बने हैं। खम्भे के निचले अंश में और अगल–बगल ऊँचे पूरे द्वार रक्षक यक्ष बने है, जहाँ खंभा पूरा होता है, वहाँ ऊपर की बड़ेरियों का बोझ झेलने के लिये चौमुखे हाथी या बौंने इत्यादि बने हैं तथा इनके बाहरी ओर मानो और सहारा देने के लिए वृक्ष पर रहने वाली यक्षणियाँ बनी है, इनकी भावभंगी बड़ी सुन्दर है। ये तोरण उस युग की संस्कृति एवं जीवन के ब्यौरों के विश्वकोश है। (चित्र- 58)

स्तूप के पादभूल में पहले अनगढ़ पत्थरों का चोला बनाया गया और फिर उस पर गढ़े हुए पत्थरों की ईटों का आच्छादन ढका गया। इनमें किसी तरह की जुड़ाई का मसाला नहीं था। भारतवर्ष में ये चूने के बिना की हुयी चुनाई का पहला नमूना है।[3]

---

[1] सर जान मार्शल, सांची, वो0–1, पृ0 142

[2] बुद्ध, संघ, धर्म, बुद्ध सम्प्रदाय का चिन्ह

[3] वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 163–5
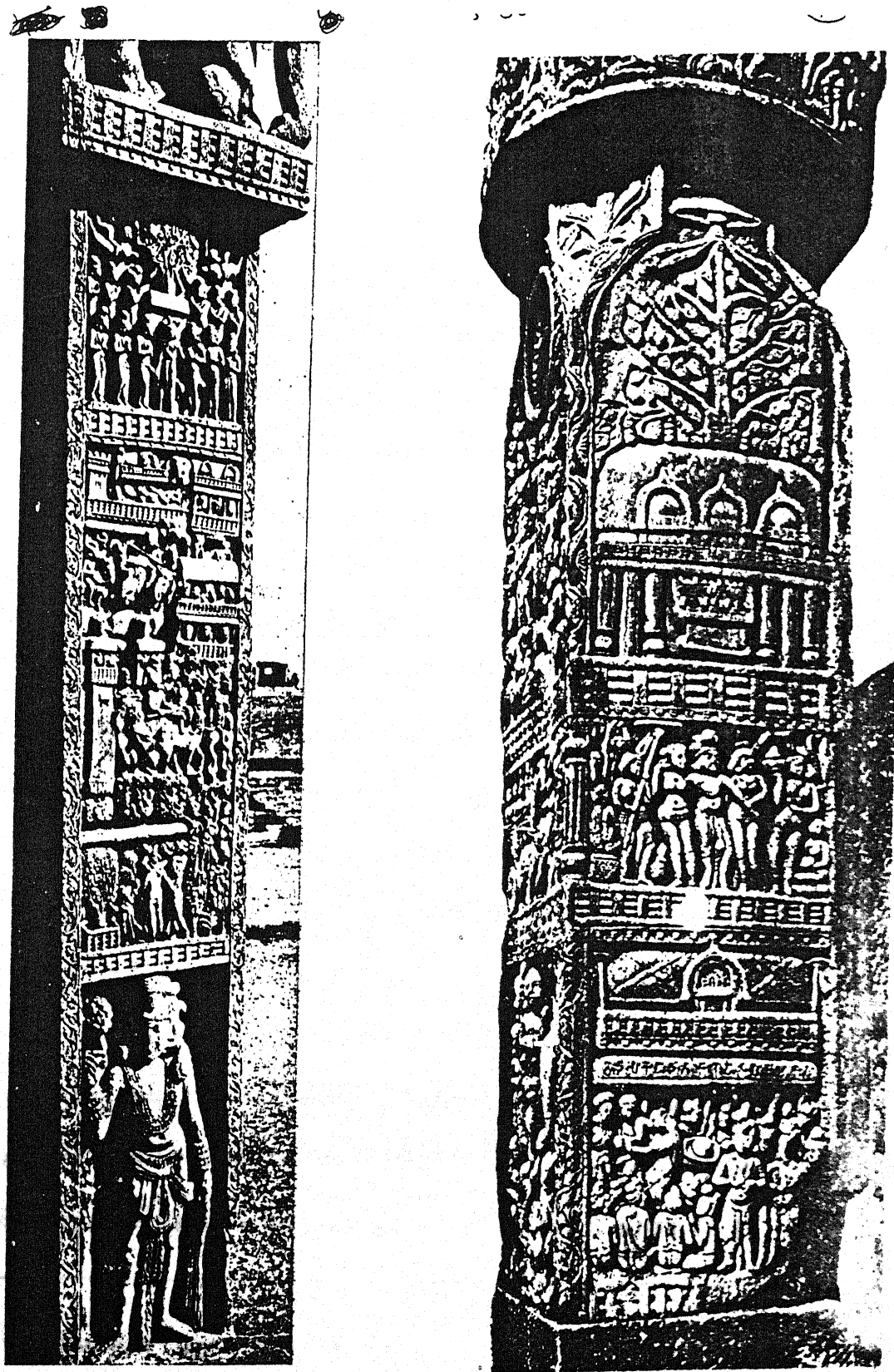
चित्र - 58

शिक्षा कंचुक के ऊपर 4 इंच मोटी कंक्रीट का खोल चढ़ाया गया है। उसके ऊपर गचकारी का लेप और दोगा पन्नी या स्वर्णद्रव चढ़ाकर और रंगबिरंगी चित्रकारी की गयी।

सांची का महाचैत्य त्रिमेधि स्तूप था अर्थात् उसमें भूमि तल की मेधि, बीच की मेधि या कमरपेटी और हर्मिका की मेधि या पगड़ी– ये तीन मेधियाँ थी। अण्ड अर्द्धचन्द्राकृति या आंधे कटोरे के समान है। उसकी मध्य की मेधि भूमि से 16 फुट ऊँची है, जिस पर बीच का प्रदक्षिणा पथ था। इस पर पहुँचने के लिए दक्षिण की ओर से दोहरा सोपान चढ़ाया गया था। इस दूसरी मेधि की चौड़ाई 5.07 फुट है। इसी पर प्रदक्षिणा पथ था। प्रत्येक सोपान में 25 सीढ़ियां है। प्रत्येक सीढ़ी 17 इंच चौड़ी और 7 इंच ऊँची है।[1]

भूमि तल पर स्तूप के चारों ओर पत्थर का फर्श है। वही स्तूप की पहली मेधि थी। उसी पर महावेदिका या गोल वेष्टनी है। वेदिका बड़े प्रमाण की पर सादा है। भरहुत की तरह उस पर कोई अलंकरण नहीं है। वेदिका कुल मिलाकर 11 फुट ऊँची है और देखने में इंग्लैण्ड की स्टोन हेंज की भाँति भव्य है। स्तम्भ, सूची और उष्वीपो पर किसी प्रकार की उकेरी नहीं है। अपने सादा लक्ष्ण में सांची की वेदिका भरहुत से भिन्न है। हरेक स्तम्भ भूमि से 9 फुट ऊँचा है। दो स्तम्भों के बीच में 2 फुट की दूरी है और उनके बीच में दो सूचियां है। प्रत्येक सूची 2 फुट की है और उनके बीच में केवल 3 इंच की तंग जगह है। स्तम्भों के मस्तक पर गोल मुंडेर वाला बड़ा मण्डलाकार उष्णीय है।[2] उसमें मूलभूत काष्ठ शिल्प की विशेषतायें है। विशेषतः उष्णीषो के आपसी जोड़ और वेदिका स्तम्भों के साथ उन्हें जोड़ने की गाहगूहन या चूल और चोटियों का प्रयोग। तीन सूचियाँ और उनके प्रवेश के लिए शिल्पी द्वारा पार्श्व पुडत्तरो का प्रयोग यज्ञ भूमि की काष्ठ वेदिकाओं से अपनाया गया है।

---

[1] सर जॉन मार्शल, गाइड टू सांची, पृ0 19–21

[2] ई0बी0 हैवेल, एंशिएंट एण्ड मेडिवल आर्कीटेक्चर–138

सांची के तोरणों पर कहीं बोधिवृक्ष का अभिवादन करने के लिए सारा जंगल सिंह, हाथी, महिष, मृग, नाग आदि उलट पड़ा है। कहीं बुद्ध स्तूप की अर्चा के लिये गलदल कमलपुष्प लिये चला आ रहा है। कहीं बुद्ध के एक पूर्व जन्म का दृश्य है, जब वह छः दांत वाले हाथी थे। अपनी हथिनियों के साथ वे कमल सरोवर में नहा रहे है। एक हाथी उन पर गजपतित्व सूचक छत्र लगाये है, दूर ओट से व्याघ उन पर बाण संधान रहा है। कहीं बुद्ध के घर से निकलने का दृश्य है, कहीं बोधिवृक्ष पर पंख वाले आकाश चारी मालायें चढ़ा रही है। कहीं मुनियों के आश्रम के दृश्य है। इन सब की खुदाई ऐसी है कि इन्हें मूर्तियों के बदले पत्थर पर उभरे हुए चित्र कहना अधिक उपयुक्त है। ये कृतिया देखने की चीज है। वाणी इनका वर्णन नहीं कर सकती।[1]

दोहरी वेष्टिनी में जो बड़ी भारी और काफी ऊँची है जगह–जगह फुल्ले बने हुए है जिनमें गज लक्ष्मी[2], कमल कलश एवं खिले हुए कमल आदि है। स्थान–स्थान पर गोभूर्षक की दौड़ है। किन्तु जहाँ तहाँ यह सब कुछ है, वहाँ सबसे प्रधान बात यह है कि कहीं भी बुद्ध की मूर्ति नहीं बनी है। जहाँ उनका स्थान है, वहाँ एक स्वस्तिक, कमल या चरण[3] आदि के संकेत से वे सूचित किये गये है। यही बात भरहुत में है और अंशतः अमरावती में भी। इसका कारण यह है कि भगवान तथागत अपनी पूजा के विरूद्ध थे। इसी विचार से उन्होंने अपने अनुयायियों को चित्रकला में प्रवृत्त होने का निषेध किया था क्योंकि सभी प्रकार की प्रेक्ष्य कलाओं का मूल चित्रण ही है।[4]

सांची की समस्त वास्तु कला, अजंता के चित्रों की तरह बौद्ध विषयों से सम्बन्धित है। पंखो वाले पौराणिक प्राणी आकाश में मंडराते हुए, नागों के मुंह वाले या मछलियों का दुम वाले राक्षण कन्दराओं से निकलते हुए या बुद्ध को अपनी शान्त एवं गम्भीर श्रद्धान्जलि अर्पित करते हुए दिखाया गया

---

1 उपनिषदों में श्री लक्ष्मी की उपासना है। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में नगर मध्य में लक्ष्मी के मंदिर बनाने का विधान किया है। शुंगकाल के खारवेल के मंदिरों में लक्ष्मी की मूर्तियां थी।

2 एस0सी0 मैसी– सांची एण्ड इट्स रिमेन्स, लन्दन, पृ0 92

3 चरण चिन्ह की पूजा बहुत पुरानी है। ई0पू0 8वीं शती में विष्णु के चरण की पूजा होती थी– विष्णोः पदं गयशिरसि – यास्क, निरूक्त

4 रायकृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला, पृ0 43

है। बन्दर भी बुद्ध के सामने भक्ति में नीचे झुके है।[1]

इनकी खुदाई का आदर्श लकड़ी वा विशेषतः हाथी दांत की नक्काशी जान पड़ती है। इनमें से दक्षिण वाले तोरण पर लेख भी है कि वह विदिशा नगरी के हाथी दाँत के कारीगरों के द्वारा खोदा गया और उत्सर्ग किया गया है। दक्षिण भारत में आज भी चंदन और हाथी दांत पर जो खुदाई का काम बनता है, वह बहुत कुछ इसी शैली का होता है। हमारी प्राचीन प्रस्तर मूर्ति का आदर्श अनेक अंशों में हाथी दांत की कारीगरी पर आधृत है। हाथी दांत पर उाार दार काम मोहन जोदड़ों काल में भी होता था। अफगानिस्तान की खुदाई में हाथी दांत की नक्काशी के कुछ बड़े ही सुन्दर फलक कुछ समय पूर्व प्राप्त हुए है।[2] वे इसी शुंगकालीन कला के है और सांची, भरहुत, मथुरा आदि की प्रस्तर मूर्तिकला से बिल्कुल मिलत जुलते है। सम्भवतः गंधार शैली की मूर्तिकला का विकास ऐसे ही नमूने से हुआ था।

सामान्य रूप से सांची की उभरी हुई नक्काशी की शैली भारहुत से मिलती है। सांची कला की प्रमुख विशेषता सुन्दर कोष्ठक के चित्र है। ये नारी और वृक्ष के प्रेरक चित्र है। स्तम्भ की सजावट की बारीकियाँ सावधानी से अध्ययन किये जाने योग्य है। वी0ए0 स्मिथ का कथन है– 'किसी अन्य राष्ट्र ने भारतीयों को, उनकी नक्काशी और चित्रों में फूलों से सम्बन्धित डिजाइनों की भिन्नता एवं कोमलता में नही पछाड़ा है।[3]

सांची की रेलिगों के अर्द्ध चित्रों का छन्द्स इनसे भी तीव्रतर हो गया है, उनकी आकृतियों की विविधता बढ़ गयी है और जीवन तरंगाथित और ध्वनिमान सा अनेक स्रोतों से बह निकला है, वहाँ व्यक्ति विन्यास का सामूहिक रूप प्रस्तुत हुआ। अनेकानेक, पशु, मानव वहाँ प्रदर्शित हुए हैं।

---

1 बी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत, पृ0 438

2 राहुल, सोवियत भूमि, नागरी प्रचारिणी सभा, 1939, पृ0 749

3 वी0ए0 स्मिथ–हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन 1930, पृ0 201

समूचे जुलूसों का उत्खनन हुआ है, जिनकी गतिभानता दर्शक को आकुल कर देती है। नीख कला भी बोलती है, पर शब्दों द्वारा नहीं अपने प्रतीकों और प्रभावों द्वारा। उसका एक प्रभाव यह है कि विचल को गतिमान और गतिशील को निस्पन्द कर देती है। उसका यह प्रभाव सांची के वेदिका तोरणों पर कढ़े इन जुलूसों में घना प्रकाशित है। इस देश के स्तूपों में सबसे अधिक सुरक्षित अवस्था में यह सांची का ही महान स्तूप है। अधिकतर तो गाँवों के घरों के निर्माण लोभ अथवा आततायियों की ध्वंसलीला के शिकार हो गये है। इतनी ऊँचाई पर पहाड़ों की चोटी पर बने होने से दूर से ही सांची के स्तूप लक्षित हो जाते हैं। आश्चर्य है कैसे ये विध्वंसक मानव की कुचेष्टाओं से सदियों बचे रहे।

शुंगकालीन कला का केन्द्र – मथुरा :–

मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन सम्प्रदाय की है किन्तु उसमें ब्राह्मण विषय भी पाये जाते हैं। इन अवशेषों में जैन स्तूपों के जो रूप मिलते है, उनका बौद्ध स्तूप से कोई अन्तर नहीं है।

इसी काल में ग्रीक वेष्णव हेलिउदोर ने प्रायः 140 ई0पू0 बेसनगर में भगवान वासुदेव के पूजार्थ एक गरूड़ध्वज बनवाया। इसके गरूड़ का तो कुछ पता नहीं किन्तु शेष अंश वहाँ खड़ा है जिसे गाँव वाले खाम बाबा कहते हैं। स्तम्भ के परगहे की शैली में कोई ग्रीकपन नहीं है बल्कि वह अशोकीय स्तम्भों की परम्परा में है।[1]

इस काल में पश्चिमी घाट के पहाड़ों में आंधकुल ने अनेक गुफायें कटवायी। इनमें से भाजा, बेदसा, पथिला, खौरा कोडिण्य की गुफायें मुख्य है। यद्यपि आंध्र ब्राह्मण थे किन्तु ये गुफायें बौद्धों की है जिससे प्रमाणित होता है कि वे धार्मिक रूप से संकीर्ण विचारधारा के नहीं थे। परन्तु कला की दृष्टि से उनमें कोई विशेषता नहीं थी। केवल भाषा में दीवारों पर सूर्य और इन्द्र की भारी और दल

---

[1] ए0के0 कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0 39–40

चित्र - 59

बल सहित मूर्तियाँ चपटे उभार में बनी है जो लोककला का विशेष उदाहरण है। वहाँ इसी प्रकार की यक्ष व राजा की मूर्ति भी है। इन गुफाओं का नक्शा अशोककालीन गुफाओं के नक्शे का विस्तृत रूप है। इनमें कहीं भी बुद्ध मूर्ति नहीं है।[1] (चित्र - 59)

अन्य अवशेष :-

बोधगया के चक्रम की वेदिका और जग्मयपेट तथा अमरावती के स्तूप भी शुंगों और आन्ध्रों के शासनकाल की इसी कालावधि में बने थे। बोधगया में स्तूप के अवशेष तो नहीं मिले है पर उस वेदिका के खण्ड मिले हैं जो उसे घेरती है। चक्रम वह स्थली थी जहाँ बोधि वृक्ष के नीचे सम्बोधि प्राप्त कर बुद्ध टहले थे। वहाँ के वेदिका स्तम्भों पर भी अनेक चित्र उत्कीर्ण है जिनमें प्रधान जेतवन विक्रय, अस्समुखी जातक आदि के घटनांकन भरहुत की ही भाँति हुए है।[2] अनेक वृक्षिकायें भी यक्षी परम्परा के स्तम्भों पर उकेरी हुई है। एक पर इन्द्र का उत्कीर्णन हुआ है। दूसरे पर सूर्य का। सूर्य चार अत्यन्त गतिमान तुरंगों के रथ पर विराजमान है और ऊपर दोनों और उनकी पत्नियाँ प्रभा और छाया तिमिर पर धनुष तानें वाण मार रही है। सूर्य का यह अंकन भाषा और उदयगिरि की रानी गुम्फा के साथ भारत में प्राचीनतम है।[3] बोधगया की वेदिका का समय 1000 ई0पू0 के लगभग माना गया है। कुमार स्वामी के विचार में बोधगया की कला भरहुत से तनिक अधिक मुखर है।[4]

जग्गथपेट अमरावती से लगभग 30 मील दूर है जहां का स्तूप दूसरी पहली सदी ई0पू0

---

[1] रायकृष्ण दास– भारतीय मूर्तिकला, पृ0 47

[2] एस0के0 कुमारस्वामी– हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0 27

[3] भगवत शरण उपाध्याय– भारतीय कला वं संस्कृति की भूमिका, पृ0 64

[4] कुमार स्वामी– हि0आ0इ0ए0इ0आ0, पृ0 32–33

कभी बना था। वहां से अउत्कीर्णनों के अनेक नमूने प्राप्त हुए हैं। जिनमें से प्रधान स्तम्भ खण्ड है। एक स्तम्भ घण्टीनुमा शीर्ष वाला था। स्तम्भों पर भरहुत शैली के पक्षधारी पशु बने हैं। एक पर आराधकों के साथ पुण्यशाला बनी है दूसरे पर चक्रवर्ती राजा अपने सातों रत्नों के बीच खड़ा है जिसके पीछे चक्र है।

अवशेषों और वेदिका खण्डों से पता चला है कि विदिशा, भीटा, गढ़वा, कौशाम्बी और करनाल जिले के अमीन नामक स्थान में भी कभ्भ स्तूप खड़े थे जो शुग काल में बने थे। राजसन और बटनमारा के वेदिका स्तम्भों पर यक्षी मूर्तियाँ उत्कीर्ण थी, यह वहां से प्राप्त उनके खण्डों से प्रमाणित है। पाटिलपुत्र से प्राप्त एक वेदिका स्तम्भ खण्ड कलकत्ते के संग्रहालय में सुरक्षित है। भीटा से प्राप्त और लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत दाहिना हाथ अभयगुद्रा में उठाये बायें में कमण्डल लिये पंचमुखी शिवलिंग सम्भवतः इसी युग का है। इस पर खुदे अभिलेख– "देवता प्रसन्न हो।" का समय लिपि के आधार पर पहली सदी ई0पू0 बताया जाता हे।[1]

उड़ीसा के उदयगिरि और खंडगिरि में इस काल की कढ़ी हुई सौ के लगभग जैन गुफायें है जिनमें मूर्तिशिल्प भी है। इनमें से एक का नाम रानी गुफा है। यह दो मंजिली है और उसके द्वार पर मूर्तियों का एक लम्बा पट्टा है जिसकी मूर्तिकला अपने ही ढंग की निराली है। यह ऐसी प्रतीत होती है जैसे पत्थर की मूर्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काठ पर नक्काशी की गई हो।[2]

उड़ीसा की हाथी गुम्फा इस कारण महत्वपूर्ण है कि उस पर सम्राट खारवेल का लेख

---

[1] वर्गस गर्नलेडल– बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0– 58–59

[2] उड़ीसा में आज भी काठ पर ऐसा काम होता है जो रंगे जाने पर उभरा जान पड़ता हो। वहां ऐसा काम शुंगकाल में भी होता था जो कि इस पट्टे का आधार है। इसी दृष्टि से यह पट्टा अधिक महत्व रखता है।

उत्कीर्ण है जो काफी लम्बा है और ऐतिहासिक अभिलेखों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

शुंग छत्रय कालीन कुछ मूर्ति और वेदिका स्तम्भ तथा स्तूपावेशष मथुरा में पाये गये हैं। मथुरा कुषाण और गुप्त युगों में विशेष महत्व का कलाकेन्द्र बन गया है। पर उससे पूर्व शक क्षत्रयों के शासनकाल और शुगों के काल में भी वहां अनेक उपक्रय हुये, जिनसे प्राक् कुषाणकालीन कला समृद्ध थी। इनमें विशेष सुन्दर तो संभवतः प्रथम शती ई0पू0 की कंबोजिका है जो नारी मूर्ति है। संभवतः क्षत्रपों में से किसी की रानी। मूर्ति आदमकद है, गांधार शैली की सिलवटों के साथ उसका सर्वथा यूरोपीय है और केशों पर पट्टबन्ध है। एक ही वस्त्र की बनी साड़ी का यह प्रथम और अंतिम भारतीय का उदाहरण प्रस्तुत करती है और यदि गांधार कला के उदाहरणों को प्रथ्म शती ई0पू0 में रखना दोषपूर्ण न हो तो निश्चय ही मूर्ति तभी की है जो साभवतः पश्चिमोत्तर भारत में लाकर राजाओं की मूर्ति की गैलरी देवकुल में रखी गयी थी। मथुरा के पास का यह देवकुल गाँव संभवतः ऐसा गांव है जहां क्षत्रियों की मूर्तियाँ सुरक्षित रखी जाती थी। अधिकतर एक साथ वहीं से वे प्राप्त भी हुयी हैं, देवकुल शब्द का अर्थ है राजपरिवार।[1] (चित्र - 60)

कंकाली टीला और अन्यत्र मथुरावर्ती स्थानों से प्राप्त अनेक स्तम्भ वेदिका तथा शिलाखण्ड ऐसे ही है, जिन्हें पहली शती ई0पू0 का मानना अनुचित न होगा। इसमें से अधिकतर पूजन के लिये प्रस्तुत अयाग पट हैं, जो जैन सम्प्रदाय के है, इनमें जिन पार्श्वनाथ की बैठी हुयी मूर्ति है और चारों ओर अष्ठमांगलिक चिन्ह हैं।

शुग ब्राह्मण थे। इतना ही नहीं ब्राह्मण धर्म का उनके समय में विशेष उत्कर्ष हुआ। उन्होंने अश्वमेघ यज्ञ किये जो पाण्डवों के पौत्र जन्मेजय के काल से बन्द था। मनुस्मृति शुंगों के समय

---

[1] देव का अर्थ राजा होता था अर्थात् वह स्थान जहां राजाओं की कुल मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं।

चित्र - 60

में बनी। महाभाषी लिखा गया। रामायण, महाभारत में अपना वर्तमान रूप बहुत कुछ उनके समय में पाया जिनके आधार पर भाष ने अपने नाटक इसी काल में लिखे। ब्राह्मण सम्प्रदाय में उस समय मूर्ति पूजा भली भाँति प्रचिलित थी।[1]

शुंग काल में एक पंचमुख शिवलिंग भीटा में पाया गया है। एक अन्य शिवलिंग सुदूर दक्षिण गुडिमल्लम नामक स्थान में पाया गया है। इसका ध्यान भिन्न है। पांच फुट लम्बे लिंग के सहारे शिव खड़े हैं इस काल की एक शिवमूर्ति रामनगर से प्राप्त हुयी है।[2] इन उदाहरण से ज्ञात होता है कि शिवमूर्ति की पूजा इस काल में बहुत प्रचलित थी और विभिन्न रूपों में शिव की प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। इस काल में विष्णु या कृष्ण उपासना के कई स्थान थे। किन्तु उनके कोई अधिक अवशेष प्राप्त नहीं होते हैं।

यह निश्चित हे कि इस काल में ब्राह्मण सम्प्रदाय के देवमन्दिर बहुत थे। यहां तक कि बौद्धों में जिनमें कि अभी तक बुद्ध की प्रतिमा का प्रचलन नहीं था। ब्राह्मण मन्दिरों में अनुकरण एवं प्रतिद्वन्दिता के बुद्ध सूचक चिन्हों पर शिखर वाले मन्दिर बनाना शुरू कर दिया था।[3]

बिहार में इस काल का पकाई हुई मिट्टी का एक ठीकरा मिला है जिस पर एक ऐसा शिखर वाला मन्दिर स्थित हे जिसमे बुद्ध का प्रतीक भद्रासन स्थित है।[4]

जिस प्रकार ब्राह्मण सम्प्रदाय के मन्दिरों की शैली का आधार पर्वत शिखर था उसी

---

[1]. महाभाष्य में शिवरकन्द और विशाख की मूर्तियां की बिक्री की चर्चा है। (कीलधर्न द्वारा सम्पादित वो0– II, बम्बई, 1952

[2] शैव कैटेलोक, राजसंग्रहालय भोपाल से प्रकाशित

[3] हरिगणेश खरे, मूर्ति विज्ञान पूना, 1936, पृ0 52

[4] इण्डियन इमेजिज, बी0सी0 भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1954 पृ0 101

प्रकार बौद्ध सम्प्रदाय के ऐसे मन्दिरों की शैली अपना नमूना सत्पभौम घरों से लेती है।[1] ये मन्दिर ब्राह्मण मंदिरो के कारण बनने लगे थे अतः बौद्ध न तो यह कह सकते थे कि अपने मंदिरों को कोई नयी शैली दे न यह है कि ब्राह्मण सम्प्रदाय के मन्दिरों का अनुसरण करें। क्योकि ब्राह्मण मंदिर पर्वत के नमूने पर अविलम्बित थे और बौद्ध उपासना में पर्वत का कोई स्थान नहीं था। फलतः उन्होंने अपने मन्दिरों की सीमा रेखा तो ब्राह्मण मंदिर की रखी किन्तु अन्तर यह कर दिया कि शिखर में पर्वत के बदले भवन के कई खण्ड समेट–समेट कर कायम कर दिये मानो कई खण्डो वाला घर ऊपर की ओर सकरा होता हुआ मन्दिर की आकृति का बन गया हो। यह बात उस ठीकरे से स्पष्ट हो जाती है। शुंगकाल तक बुद्ध प्रतिमा न मिलने का कारण यह हे कि सभी युग पुरूषों की भांति बुद्ध भी यह नहीं चाहते थे कि उनकी प्रतिमा बनाई जाये। अतः उन्होने अपने शिष्यों को केवल बेलबूते ही चित्रित करने की आज्ञा दी थी। किन्तु इस आज्ञा का पालन केवल इस हद तक किया गया कि सब कुछ बना कर उनकी आकृति मात्र छोड़ दी गयी उस समय ब्राह्मण व जैन सम्प्रदायों में मूर्ति पूजा बहुत पहले से चली आ रही थी। अतः इन्हीं की देखा–देखी बौद्धों ने भी भक्ति का सिद्धान्त अपना लिया और आराध्य देवता के रूप में बुद्ध मूर्ति की पूजा आरम्भ कर दी। जिस प्रकार मंदिर का नमूना ब्राह्मण सम्प्रदाय से लिया गया उसी प्रकार प्रतिमा का नमूना जैनों से लिया गया।[2]

भारतीय कला में मृण्मयमूर्तियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसकी सामग्री बहुत है और प्राचीन भी है और मूर्तियों में ढाले गये विषय भी विविध प्रकार के हैं। शुंगकाल की असंख्य मृण्मय मूर्तियाँ एक छोर से दूसरे छोर तक पायी जाती हैं। अपने चपटे डोल के कारण जो इस काल को मूर्ति शिल्प की विशेषता थी तुरन्त पहचान ली जाती है सर्वप्रथम शुंगकाल में साँचे से मूर्ति बनाने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इन साँचों को संचक कहा जाता था।[8] शुंगकालीन खिलौनों का बसाड एक बड़ा केन्द्र था। एक डिकरे पर 5.5 इंच ऊँची एक मूर्ति कमलवन में खड़ी हुयी है इसके दोनों हाथों मेंकमल व कमर

---

[1] ई0बी0 हैवेल, दी हैण्ड बुक ऑफ इण्डियन आर्ट, लंदन, 1920, पृ0 92

[2] रायकृष्ण दास, भारतीय मूर्तिकला, पृ 50
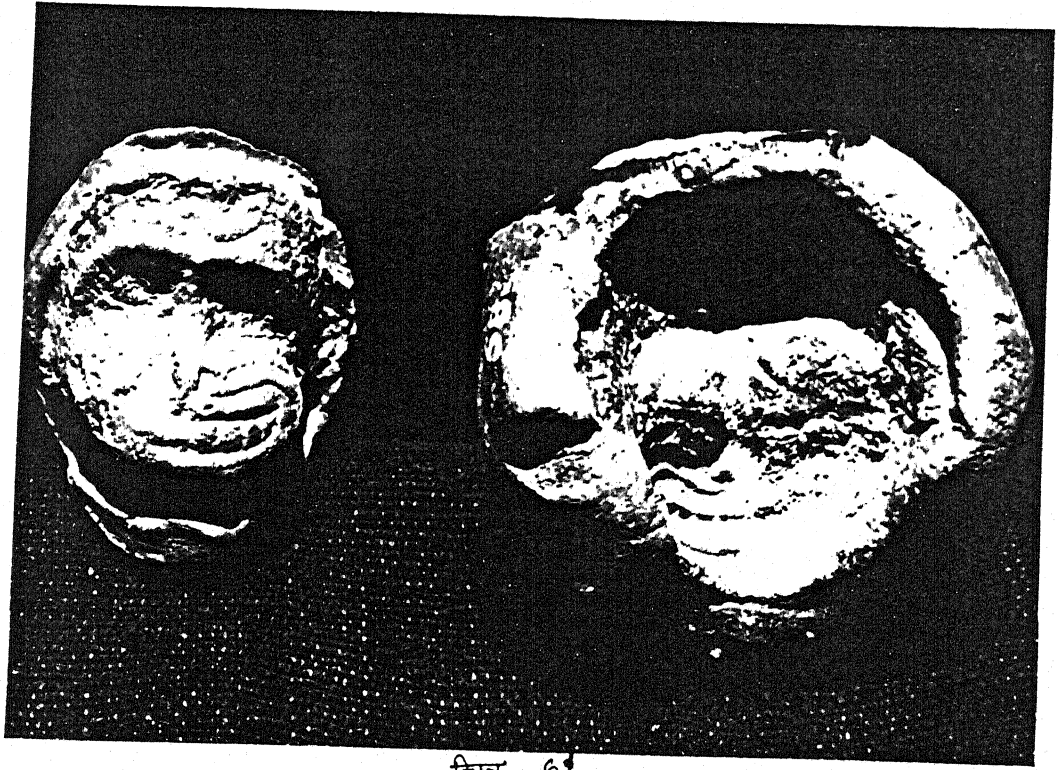
8 - चित्र - 61

चित्र - 61

चित्र - 62

में पंख है। स्तन पुरूषों की भाँति चपटे हैं, कानों में गोल कुण्डल हैं। गले में कण्डा है, हाथो में चूड़िया हैं कमर में करधनी है यह प्रतिमा लक्ष्मी की जान पड़ती है[8] इसी से मिलता जुलता दूसरा नमूना कोसम में मिला है जो अब प्रयाग संग्रहालय में है। यह मूर्ति 5 इंच ऊँची और 3.5 इंच चौड़ी है। यह मूर्ति पुरूष की है।

शुंग कालीन मिट्टी के टिकड़ों में सबसे सुन्दर दम्पत्ति मूर्तियां हैं। कौशम्बी में शुंगकालीन मृणमूर्तियां का जो कला सौष्ठव और दृश्यों की बहुलता पाई जाती है[8] वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है कौशाम्बी से भी शुंगकालीन मृण्मयी मूतियां बहुत मात्रा में मिली है। एक टिकेर पर जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं एक दम्पत्ति बड़े आसन पर बैठे हैं जिनके तीन ओर वेदिका है पृष्ठ भूमि पुष्पों से भरी हुयी है।[1] (चित्र- 62)

कौशाम्बी से एक टिकश मिला है।[2] जिसमें एक पुरूष और स्त्री आमने-सामने और एक हाथ पुरूष की कमर पर रखा हुआ है। पुरूष भी दोनों हाथों में कुछ सामान लिये हुये हैं। पुरूष के सिर पर पगड़ी और महिला कुछ वस्त्र आभूषण धारण किये हैं। कोसम से एक गोष्ठियान भी मिला है जिसमें कुछ लोग लिये जा रहे हैं। अपने ढंग का एक अपूर्व नमूना है इस खिलौने की एक ही सांचे से निकली हुयी कई मूर्तियां मिली हैं।[3]

कोसम के एक खिलौने में दाहिने हाथ में नीला कमल लिये हुये एक स्त्री दिखाई देती है। उक अन्य मूर्ति एक नर्तिकी की है शुंगकालीन खिलौनों की टकसाली शैली उन चौकोर टिकरों में

---

1 वासुदेव शरण अग्रवाल- भारतीय कला, पृ0 125

2 यह प्रयाग संग्रहालय में संरक्षित है।

3 भारत कला भवन में सुरक्षित है।

चित्र - 63

चित्र - 64
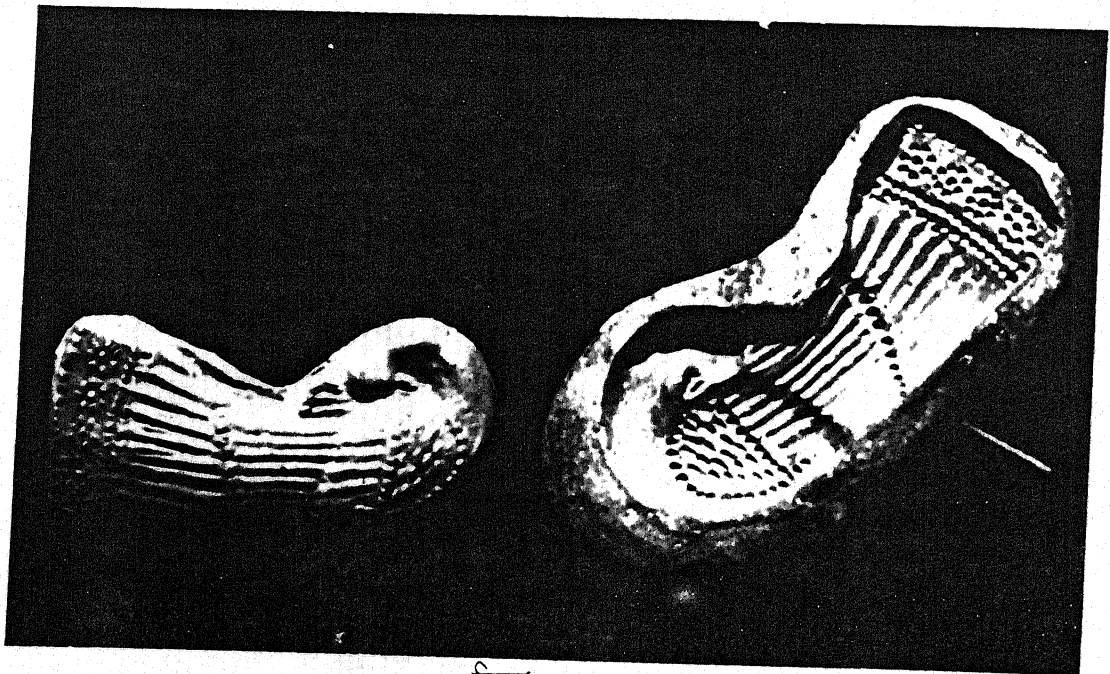
चित्र - 65

पायी जाती है जिनमें उकेरी की सज नीची है ऐसे टिकरे मथुरा, अहिछत्रा, कौशाम्बी, पाटिलपुत्र, बांधगढ़ आदि दूरवर्ती स्थानों से मिले हैं। (चित्र - 63)

कौशाम्बी से एक स्त्री मूर्ति भी प्राप्त हुयी है जिसके पाश्वं भागों पर मांगलिक चिन्ह हैं जो उसे देव श्रेणि में रखते हैं।[1] (चित्र - 64)

अहिच्छत्रा से प्राप्त मिथुन मूर्ति में भी शिरोभूषण, वाणाग्र, ध्वज, अंकुश ये तीन मांगलिक चिन्ह हैं। कोसम की एक टूटी हुयी स्त्री मूर्ति की वेशभूषा में दाहिनी ओर पुष्करस्त्रज और बाईं ओर पाँच मांगलिक चिन्ह है।

अहिच्छत्रा से प्राप्त टिकरों पर प्रायः मिथुन मूर्ति अंकित है। ये टिकरे सांचे से बने हे। और उस युग के हैं जब हाथ से डौलियाने और कुछ अंग सांचे से निकालने का संक्रान्ति काल बीत चुका था। स्त्री मूर्तियों में केश और हारों में मांगलिक चिन्ह हैं, किन्तु साथ ही पुरूष मूर्ति सपूतन्त्री वीणा लिये है।[2]

कला की दृष्टि से यह सभी अत्यन्त सुन्दर है इसका डोल चपटा होते हुये भी अत्यन्त सुन्दर है इसकी रेखा सुनिश्चित है और उसमे बारीकी है। (चित्र - 65)

इस प्रकार इतिहास तथा कला दोंनो ही दृष्टि से शुंग कालीन मृण्यम मूर्तियां बहुत महत्वपूर्ण है।

---

[1] आवसफोर्ड भारतीय संग्रहालय में यह मूर्ति सुरक्षित है।

[2] एन्शियेन्ट इण्डिया, वो0- IV, पृ0 110

अध्याय - ६

सातवाहन तथा कुषाण काल

खण्ड - क - सातवाहन काल

सातवाहन काल

दक्षिण के शक्तिशाली राजकुलों में सबसे अधिक महत्व का और प्राचीनतम् सातवाहनों का राजकुल था। कृष्णा, गोदावरी के मुहानों से उठकर समूचे दक्षिण भारत पर वे छा गये। उनका उल्लेख मौर्यकाल से ही शक्तिशाली राजवंश के रूप में होने लगता है। लगभग चार सदियों तक दक्षिण में उनका प्रताप था और उनका अंत तीसरी सदी ईसवीं में हुआ जब पल्लवों ने उनके हाथ से तलवार व सत्ता छीन ली थी।[1]

पुराणों की गणना के अनुसार अन्तिम काण्वायण राजा ने 26 ई0पू0 तक राज किया, जिससे प्रकट है कि सातवाहनों का मगध पर अधिकार, चाहे अल्पकालिक ही सही, उसी वर्ष के लगभग हुआ होगा। इस उत्तरापथ की विजय से निःसन्देह दक्षिण में भी दबदबा बढ़ गया होगा। वे शीघ्र ही दकन और दक्षिण भारत के सागर से सागर तक स्वामी हो गये थे। खारवेल अपने हाथी गुम्फा वाले अभिलेख में सातवाहनों की स्थिति दक्षिण में नहीं बल्कि पश्चिम में बताता है, जिससे प्रकट है कि उनकी प्रधानता विशेषतः पश्चिमी भारत में ही रही होगी। यद्यपि वे अपने को दक्षिणापथ का स्वामी घोषित करते हैं। इन्हीं सातवाहन राजाओं ने अधिकतर चैत्य गुहायें पश्चिमी भारत में खुदवायीं।[2]

भारतीय कला में सातवाहन काल भी प्रसिद्ध है। उसकी देन महान है। आन्ध्र के गोली जग्गापट भट्टिट प्रोल, घंटसाल अमरावती तथा नागार्जुन कोण्डा जैसे स्थानों में इस काल के स्तूपों के अवशेष तथा मूर्तियाँ मिली है।

प्रतीत होता है कि अधिक से अधिक बौध्द विहार और गुफाएं बनाने के लिए सातवाहनों में एक प्रकार से होड़ सी लगी रहती थी।

---

[1] भ0श0 उपाध्याय – भारतीय कला, पृ0 98

[2] रायकृष्ण दास– भारतीय मूर्तिकला, पृ0 51–52

1. कलिंग मार्ग – इसी पर पीठापुरम और संकाराम के अवशेष है।

2. द्रविड़ मार्ग – इस पर घंटसाल और भट्टिट प्रोलू के स्तूप हैं।

-3. वर्णाति मार्ग – इस पर अमरावती, गोली और नागार्जुन कोण्डा के स्तूप हैं।

4. दक्षिण कौशल मार्ग– इस पर गुण्टपल्ले स्थान में प्राप्त लगभग 30 अवशेष है जो तिथि क्रमण की दृष्टि से सबसे प्राचीन है।

<u>विभिन्न कलाओं का युग</u> :–

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद और गुप्त साम्राज्य के उदय तक की पाँच शताब्दियों तक भारतीय कला के विकास की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इन शताब्दियों में कला की अनेक शैलियों का जन्म हुआ। जिनमें गान्धार शैली, मथुरा शैली, अमरावती शैली तथा नागार्जुनी कोण्डा शैलिया प्रमख है। इन शताब्दियों में शुंग सातवाहन तथा कुषाण वंश के प्रमुख रूप से राजनैतिक सत्ता का उपभोग किया।[1]

सातवाहन काल की कला को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है :–

1. गुहा निर्माण कला

2. मूर्तिकला

3. स्तूप

1. <u>गुहा निर्माण कला</u> :–

सातवाहन कला में पत्थर की चट्टानों को काटकर गुहाओं का निर्माण हुआ, जिसका विवरण निम्नलिखित है।

उदयगिरि खण्डगिरि गुहायें :– उड़ीसा में भुवनेश्वर से पाँच मील उत्तर पश्चिम में खण्डगिरि तथा उदयगिरि पहाड़िया है। खण्डगिरि की पहाड़ी में 16 (नवगिरि गुम्फा) देवसभा अनंत

---

[1] आशीर्वादी लाल – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 398

गुम्फा आदि और उदयगिरि की पहाड़ी में 19 (रानी गुम्फा, गणेश गुम्फा, हाथी गुम्फा) व्याघ्र गुम्फा आदि है। हाथी गुम्फा में एक विस्तृत ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है, जिसमें कलिंग राजा खाखेल के जीवन का वृतान्त है। इन गुफाओं का निर्माण खाखेल के समय में जैन साधुओं के निवास हेतु किया गया था। इन गुफाओं में रानी गुम्फा सबसे बड़ी है, इसमें दो तल (कक्ष) है। प्रत्येक कक्ष में एक मध्यवर्ती कक्ष तथा आंगन है। आंगन के तीन ओर कक्ष है।[1]

पश्चिम भारत की बौद्ध गिरि गुफायें :-

पश्चिम भारत में सातवाहन और शकों के राज्यकाल में बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिये गुहाओं का निर्माण किया गया। पश्चिम भारत की गुहाओं का काल ई0पू0 दूसरी शताब्दी से लेकर सांतवीं शताब्दी तक निश्चित किया गया। पर्वतों को काटकर विहार, मठ, चैत्य तथा कमरे बनाने की कला का प्रचलन यद्यपि प्राचीन समय से था, किन्तु इस युग में इस कला की विशेष प्रगति हुई। इस श्रेणी के निर्माणों की प्रमुख विशेषता यह है कि बाहर से देखने पर वे केवल पर्वतों में वन गुहा द्वार से प्रतीत होते है परन्तु भीतर जाने पर पूरी की पूरी कला प्रदर्शनी सी दृष्टिगोचर होती है।

भाजा :-

भाजा वास्तुकला के अन्दर विहार, चैत्य और स्तूप आते हैं। विहार का मुखमंडल लगभग 18 फीट लम्बा और लगभग 9 फीट चौड़ा है। अन्दर का मंडप 16 फीट 5 इंच लम्बा है। इसके तीनों ओर भिक्षुओं के निवास के लिये कक्ष निर्मित है। विहार के अन्दर स्थित भागा का चैत्यगृह बड़ा ही महत्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट स्थापत्य का आकार प्रकार प्रस्तुत करता है। यह 55 फुट लम्बा और 26 फुट चौड़ा है। इसके पास ही वीथिका ढाई फुट चौड़ी है। चैत्यगृह में स्थित स्तम्भ 11 फुट ऊँचे हैं। तल के महराव की ऊँचाई 29 फुट है।

---

[1] प्राचीन भारतीय संस्कृति कला – ईश्वरी प्रसाद

[2] राजनीति धर्म और दर्शन – पेज 188

भाजा का बौद्ध विहार पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में पूना से थोड़ी ही दूर पर चट्टानें काट कर बनाया गया है, सामने बरामदा है जिससे दो द्वार काटे गये है। ऊपर एक बंद खिड़की है, भीतर के हाल में दोनों ओर कोठरियाँ बनी हुयी है। बरामदा की बैरलनुमा है, कोर्निस पर स्तूप बने है। कक्षों को स्तम्भ एक दूसरे से अलग करते हैं। स्तम्भ का शीर्ष कमल है। दोनों ओर स्तम्भों की कतारें चली गयी हैं। पीछे की गहराई में स्तूप बना है जो विहार के चैत्यरम भी प्रदान करता है।[1]

भाजा विहार का महत्व इसकी प्राचीनता से अधिक उसके मूर्ताकनों में है। उसकी दीवारों पर दो विशाल अर्धचित्र अत्यन्त असाधारण है। ये हैं सूर्य ओर इन्द्र के उभरे हुए मूर्तन। सूर्य और इन्द्र की भारतीय कला में ये आकृतियाँ प्राचीनतमों में है। दोनों वैदिक देवता है, एक तिमिरनाशक सूर्य दूसरा असुरनाशक इन्द्र जो मेघों का देवता है। इन्द्र का अपना स्वर्ग है, जिसकी सभी कामना करते हैं। जैनों और बौद्धों ने पौराणिक देवताओं को कालान्तर में जिन बुद्ध के अनुचर बना लिये। इस बौद्ध विहार में इन देवताओं के होने का सम्भवतः यही कारण है। पूरी दीवार इनके मूर्तनों ने घेर रखी है। सूर्य शुंगकालीन उष्णीय और वेशभूषा में है, पीछे उनके उनकी प्रभा और छाया दोनों पत्नियां चंवर और छत्र धारण किये हुए हैं। उनके ऊपर भी पति की ही भाँति उष्णीय फव रहा है। सूर्य अपने चार घोड़ों के रथ पर सवार अंतरिक्ष में उड़े जा रहे है और नीचे अंध्कार का स्थूल दैत्य कुचला जा रहा है। पास के घुड़सवार पैरों को रिकाब में डाले हुए हैं। भरहुत के पास पथौरा और सांची को छोड़ संसार में कहीं भी उस काल तक रकाब का उपयोग अभी नहीं हुआ था।[2]

दाहिनी ओर अर्धचित्र इन्द्र का है। इन्द्र के पीछे बैठा पताकाधारी उनका अनुचर शुंगकालीन वेशभूषा और उष्णीय धारे विशाल एरोवत पर चढ़े चले जा रहे हैं। इन्द्र के हाथ में बज्र है और ऐरावत ने सूंड में वृक्ष उखाड़ लिया है। समूची भूमि का बड़ा भाग इन्द्र के ऐरावत से भर गया है,

---

[1] एम0 फाउचर – बिगिनिंग ऑफ बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 125

[2] भगवत शरण – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 68

शेष पर अनेक दृश्य उकेरे गये हैं। वज्रधारी इन्द्र का भारतीय उत्कीर्णन का कला में सम्भवतः यह पहला उदाहरण है।[1]

भाजा मन्दिर के पास ही अनेक गुहा चैत्य की है। जिनमें बेडसा, कोन्दाये और पीतलखेड़ा विख्यात है, वे भाजा की तरह मूर्तियों से तो सनाथ नहीं है, पर चैत्य होने से इनका भी विहारों के रूप में इस काल में उपयोग हुआ है। इन सबका रूप लकड़ी की भवन पद्धति पर निर्मित होने के कारण प्रमाणित करता है कि इसके निर्माण का विकास दारूकार्य से हुआ है। द्वारों, खिड़कियों के निगस्ते, अलिन्द[2], रेलिगे सभी उनके काष्ठाधार को सिद्ध करते हैं।[3]

कोडन :-

कार्ले चैत्य गुहा से 16 किलोमीटर उत्तर की ओर कोडन विहार और चैत्यगृह स्थित है। विहार का वास्तु विशेष महत्व रहता है। बीच में स्तम्भों पर आधारित बड़ा महत्व है जिसके तीन ओर भिक्षुओं के निवास के लिये कक्ष है। यहाँ के चैत्य का मुखपट्ट भाजा के चैत्य की भाँति है, जिसमें स्तम्भ युक्त मुख मण्डप है। अन्दर के गर्भगृह का आकार 66 फुट लम्बा और 26 फुट 6 इंच चौड़ा है।[4]

पीतल खोरा :-

पीतल खोरा की गुहायें (जिनकी सं0 13) शतमाला नामक पहाड़ी पर अजन्ता से दक्षिण पश्चिम में 80 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। प्रमुख चैत्यगृह भाजा और कोडन की तरह का है। ऊपर के महराव में लकड़ी की कड़िया थी किन्तु अब उनके चिन्ह मात्र शेष है।

---

1 कुमार स्वामी – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ0 22

2 छज्जे

3 भगवतशरण उपाध्याय – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 69

3 राधा कुमुद मुकर्जी – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 186

इसका प्राचीन नाम पीतंगल्य था। औरंगबाद से चालीसगाँव जाने वाले मार्ग पर शतमाला नाम की पहाड़ी में ये गुफायें उत्कीर्ण है। गुफाओं का यह समूह काग–उड़ावनी सीध में अजन्ता के दक्षिण–पश्चिम की ओर 50 मील और एलोरा से उत्तर पश्चिम की ओर 23 मील पर है। गुफायें प्राचीन सार्थवाह पाथ पर स्थित थी। गोवर्धन प्रदेश और शूर्पारक की ओर से आता हुआ सार्थवाह सातवाहनों के महान व्यापारिक केन्द्र प्रतिष्ठान की ओर बढ़ता हुआ इन गुफाओं के पास से गुजरता था। चालीसगाँव–औरंगाबाद–पैठण का वर्तमान मार्ग ठीक वहीं है। कालान्तर में बौद्धों ने जिसे अपनी विहार गुफाओं के लिये चुना वह एलोरा भी इसी मार्ग पर था[1]

महामायुरी नामक बौद्ध यक्ष– सूची में चार यक्षों के नाम हैं– पीतंगल्य में शंकीरन प्रतिष्ठान में खण्डक, नासिक में सुन्दरक और मृगुकच्छ में असंग, मानों यह चौभीता प्रदेश था, जिसमें एक ओर वाणिज्य व्यापार और दूसरी ओर धार्मिक आन्दोलन की होड़ लगी थी। पीतलखोरा में पर्वतीय वास्तु का आरम्भ दूसरी शती ई0पू0 में हुआ। उसी के रूप चैत्यगृह और विहार है। यह स्थान दो शती बाद कुछ उजड़ गया किन्तु कालान्तर में भिक्षुओं ने फिर इसे अपना केन्द्र बनाया और उस समय विहार में मूर्तियाँ और चैत्यगृह में भित्ति चित्र लिखे गये जो अजंता शैली के है। यो पीतलखोरा में भी हीनयान और महायान कला शैली के वे ही दो डिग पाये जाते है, जो अजन्ता में है।[2]

विहार के मुखमण्डप में काष्ठशिल्प के पर्दे या तिरीस्कणी लगाई गयी थी जिनके अटकाने के लिये चट्टान में काटी गयी चूलें अभी तक है। भीतर प्रत्येक अपवरक में एक शयन है।

कार्ले :–

कार्ले का चैत्य विहार सबसे विशाल व वैभवशाली है। इसका आरम्भ पहली सदी ई0पू0 में ही हो गया था। इस हीनयानीय विहार का वैभव बाहर से ही दर्शक को प्रभावित करता है।

---

[1] कादरी – प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 119

[2] वासुदेव – भारतीय कला, पृ0 209

सामने बाहर ही दो विशाल स्तम्भ खड़े हैं, जिनके सिंहों के शिखर पर कभी धातु के धम्मक चक्र रखे थे। इन्हें देखने से तो लगता है कि इनका विकास मौर्यकालीन स्तम्भों से हुआ है। खिड़की में ठीक का फ्रेम बना है। द्वार की दीवार सुन्दर मूर्तनों से भरी है, लगता है सामने का समूचा सम्भार पहले गजों पर खड़ा था, गजों में पर्याप्त धातुकार्य था और उनके दाँत सम्भवतया असली हाथी दाँत थे।[1]

कार्ले चैत्य मन्दिर का शालीन अन्तर विशाल है। छत बैलनुमा है। शाला के अन्त में पिछली अर्धचन्द्राकार दीवार के सामने स्तूप है, जिसकी हार्मिका का लकड़ी का छत्र आज भी सुरक्षित है। शाला के भीतर दोनों ओर ईरानी शैली में बने स्तम्भों की पंक्तियाँ चली गई है। उनके ऊपर बैलनुमा छत को घेरती लकड़ी की धन्नियाँ उसे पूर्णतः भर देती है। स्तम्भों के आधार कलश है और स्तम्भ स्वयं सोलह पहले है। उनके शिखर पर गजारूढ़ दम्पत्ति विद्यमान है।[2]

कार्ले में एक विशाल चैत्यगृह और तीन विहार है। कार्ले की चैत्य गुहा बम्बई पूना सड़क से दो मील उत्तर की ओर स्थित है। यहाँ का चैत्य गुहा अत्यन्त सुन्दर है और हीनयान चैत्यगुहों में सर्वोत्कृष्ट है। इसमें वास्तु एवं शिल्पकला अपनी पूर्णता पर पहुँच गई है। इसका हल 124 फुट 3 इंच लम्बा 45 फुट 3 इंच चौड़ा है। इसमें 37 स्तम्भ है। इसमें 15–15 स्तम्भ दोनों ओर दो पंक्तियों में तथा 7 गर्भगृह के चारों ओर स्थित है। भट्ट चैत्य सबसे बड़ा सुरक्षित तथा पूर्ण विकसित है। इन स्तम्भों का आधार पूर्णघट है, जो चौकियों पर रखे हैं। स्तम्भों के बीच का भाग अष्टकोणीय है ओर शीर्ष आधे पात्र की भाँति है। चैत्य की ऊँचाई नीचे से ऊपर तक 45 फुट है।

कार्ली का चैत्य सामने से दो मंजिला है। नीचे की दीवार में तीन द्वार है। ऊपर एक गैलरी है, जिसमें लकड़ी के फ्रेम से संयुक्त एक विशाल चैत्य वातायन है। सामने द्वारों के बीच गलियारें

---

[1] जे0 वोगल – बुद्धिस्ट स्कल्पचरस, पृ0 107

[2] महाजन – प्राचीन भारत, पृ0 445

में दो युगों के मूर्तन है। हीनयानी काल की मूर्तियाँ चैत्य निर्माता जोड़ों की है। पर दीवार से लगी कटी बुद्ध मूर्तियाँ गुप्तकाल की ही सामने के सिंह मंडित ध्वज स्तम्भ कार्ली के चैत्य विहार को अद्‌भुत शालीनता प्रदान करते हैं।[1]

1. दो ऊँचे चतुर्मुख दर्शन वाले स्तम्भ या लाट जिनके सिरे पर सिंह शीर्षक है।
2. मुख मण्डप जो स्तम्भों पर आश्रित है और जिसमें नीचे ऊपर दो भूमियाँ है।
3. मुख मण्डप की अगली भित्ति के निचले भाग से आगे की ओर निकली हुई संगीत शाला।
4. मुख मण्डप की पिछली दीवार के ऊपरी तल्ले में महान कीर्तिमुख या सूर्यद्वार बना हुआ है, जिसका गोलम्बर काष्ठ शिल्प के पिञ्जर से भरा हुआ है। निचले या भूमिगत तल्ले में तीन प्रवेश द्वार है, जो बीच के महामण्डप और दायें बायें के प्रदक्षिणापथ में जाने के लिये हैं।
5. बीच का आभ्यन्तर मण्डप।
6. दो लम्बे प्रदक्षिणापथ।
7. वृत्ताकार गर्भगृह या मण्डप का पिछला भाग।
8. गर्भगृह के बीच में चैत्य या स्तूप।
9. 37 स्तम्भों की माला, जिनमें 7 स्तम्भ स्तूप को घेरे हुए हैं। और 15–15 मण्डप के दोनों ओर पंक्तिबद्ध खड़े हुए हैं।
10. छत के नीचे लगी हुयी काष्ठशिल्प की भीमकाय घुमावदार धन्नियाँ जो चैत्य गृह के निर्माण के समय की है।

12. चैत्यगृह के भीतर और बाहर कई लेख उत्कीर्ण है।

<u>नासिक</u> :–

- नासक का प्राचीन नाम नासिक्य था, यह गोदावरी के तट पर स्थित है। ई0पू0 दूसरी शताब्दी में यह बौद्ध धर्म का केन्द्र था। यहाँ 17 गुहाएं है, जिसमें केवल एक चैत्यगृह और शेष

---

[1] भगवत शरण– भारतीय कला व संस्कृति, पृ0 59

विहार है। यहाँ के प्रारम्भिक विहार हीनयानी है। पहला विहार नहपान, दूसरा गौतमी पुत्र शातकर्णि और तीसरा यज्ञश्री शातकर्णि के काल का है। चैत्य गृह जो पाण्डुलेण कहलाता है, का निर्माण।

नासक के चैत्य मन्दिर जो नहयान विहार के नाम से भी जाने जाते हैं, का द्वार भी उनन्य गुहाओं की भाँति काटकर बना है, पर उसका निर्माण जैसा कि उसके स्तम्भों की दमखम से लक्षित है कार्ले के चैत्य विहार से पहले हुआ। उसके स्तम्भों का आधार भी कलश है जिसके घण्टीनुमा शीर्षो पर वृषभ मूर्तित है। नासिक के चैत्य विहार का सामना दो मंजिका है। नीचे मेहराबदार द्वार है ऊपर मेहराबदार चैत्य वातायन। दोनों के मेहराबों में लकड़ी के निगस्ते लगे हैं। वातायन के नीचे और दोनों ओर रेलिगों की आकृति बनी है, जिनके ऊपर स्तूप बने हैं और उनके ऊपर पैनलों में नाले आधी बनी है। द्वार के बराबर में एक यक्ष मूर्ति है। साथ के अभिलेख से प्रकट है कि मूर्तनों का खर्च धविंका ग्रामवासियों ने उठाया था।[1]

जुन्नार :-

पूना से कोई 76 किमी0 उत्तर की ओर जुन्नार की लगभग 150 शैल गुहायें है, जिनमें 10 चैत्य और शेष विहार है। इनमें मूर्तियाँ नहीं है अधिकांश गुहायें सादी है।

इनके प्रायः 5 वर्ग है, पर केवल एक ही महत्वपूर्ण है। इसका स्तूप 12 स्तम्भों से घिरा हुआ है और छत अर्धगुम्बजी है, जिसके बीच का गुम्बज वृत्ताकार हे। मानमोदा की पहाड़ी में बनी चैत्य गुहा के चैत्य वातायन के ऊपर दो नाग आकृतियाँ बनी है। दोनों ओर दो स्तूप भी बने हैं। गजों के बीच माया–बुद्ध माता खड़ी है। कुछ गुहाओं में लक्ष्मी, कमल, गरूड़ आदि का भी अलंकरण है।[2]

---

[1] भारतीय कला – भ0श0 उपाध्याय, पृ0 92

[2] प्राचीन भारतीय संस्कृति व कला, ईश्वरी प्रसाद, पृ0 192

जुन्नार में और भी कई चैत्य गृह है, जिनके भीतर उकेरी की सज है, वे चतुस्त और स्तम्भों से रहित है। उनके छतें सपाट है। मण्डप में स्तूप उन्हीं स्थान पर काटा गया है, जैसा गोल गर्भगृह वाले चैत्यों में होता था। कई चैत्य घरों में कम चौड़े प्रदक्षिणापथों के खम्भे ऊपर-नीचे पूर्णघट अलंकरण से सुशोभित है और उन पर वेदिका की सज भी पाई जाती है। यद्यपि छिद्र नहीं काटा गया, अतः मण्डप में प्रकाश केवल द्वार से ही प्रविष्ट होता है।

गणेशलेण के थोक में चार चैत्यघर है, उनमें से एक में मध्यान के समय का लेख है। कला की दृष्टि से यह उस काल का सर्वोत्तम चैत्य मन्दिर है। इसके भिन्न भागों की नाम अनुपात सिद्ध है और सब अलंकरण और वास्तु के विन्यास सुविदित और सुविछित है। भीतरी मण्डप 45 फुट लम्बा चौड़ा है और उनके दोनों ओर 5-5 स्तम्भों की पंक्ति है। उनके शीर्षकों में आकर्षण प्रदर्शन है जिनमें हाथी, बाघ ओर दूसरे पशुओं पर प्राणवंत आरोही दिखाये गये है। इस चैत्यगृह की समृद्ध सजावट और मझला आकार सूचित करता है कि बौद्ध कला के इस स्वरूप के सर्वोपरि विकास के युग में इसे बनाया गया। इसके पीछे वास्तु और स्थापत्य के दीर्घकालीन प्रयोगों की परम्परा थी।[1] और कोडन की तरह का है। ऊपर के महराव में लकड़ी की कड़िया थी किन्तु अब उनके चिन्ह मात्र शेष है।

अजन्ता :-

अजन्ता का वास्तुकला का विकास ई0पू0 दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी तक हुआ। प्रारम्भ से लेकर दूसरी शताब्दी तक वह हीनयान मत और चौथी से लेकर सातवीं शताब्दी तक यह महायान मत का केन्द्र रहा। अजन्ता में सब मिलाकर 29 गुहायें है, जिसमें 4 चैत्यगृह और 25 विहार है।

अजन्ता की गुहा सं0 10 का चैत्यगृह सबसे प्राचीन है, इसकी तिथि ई0पू0 दूसरी

---

1. वासुदेवशरण अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 213

शताब्दी है। यह 96 फुट 6 इंच लम्बा, 41 फुट 3 इंच चौड़ा और 36 फुट ऊँचा है। चैत्यगृह का मध्यभाग 59 सादे अष्टकोणीय स्तम्भों के द्वार वीथिका से पृथक होता है। अर्धवृत्त में स्थित स्तूप अलंकृत है। अजन्ता के विहार में सबसे पुरानी गुहा संख्या 12 है। जो चैत्यगृह सं0 10 से सम्बन्धित है। यह इस काल की वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। अन्दर का मण्डप 38 फुट वर्गाकार है, जिसके दोनों ओर स्तम्भों की कतारें है। मण्डप के तीनों ओर चार-चार कक्ष है। इसके बाद गुहा सं013 का निर्माण हुआ। चैत्यगृह सं0 9 और विहार सं0 8 का निर्माण साथ-साथ हुआ। अजन्ता पहाड़ी के अन्तरंग में पहले 5 गुफायें थी ﴾10,9,8,12,13﴿ फिर महायन युग में 8 गुफायें दक्षिण पूर्व की ओर और 14 दक्षिण पश्चिम की ओर जोड़ी गई। इनमें से गुहा सं0 16,17 विहार और 1-2 चैत्यगृह हैं। ये अत्यन्त भव्य चित्रों के आलेखन तथा पाषाण शिल्प की मूर्तियों से भरी पड़ी है।

बेदसा :-

बेदसा का चैत्यगृह आकार में छोटा है। इसमें काष्ठ की अपेक्षा पत्थर का प्रयोग अधिक हुआ। चैत्य द्वार की जाली पत्थर की है। स्तम्भ सीधे है किन्तु थोड़े अन्दर की ओर ढालू है। द्वार के पारवे समानान्तर है, जिनमें एक ओर हय-संघाट और दूसरी ओर गज- संघाट निर्मित है। चैत्यगृह के अन्दर की आकार 45 फुट 6 इंच लम्बी और 21 फुट चौड़ी है। स्तम्भों और स्तूप पर चिन्हित पेंटिंग के चिन्ह दृष्टिगत है।

बेदसा कार्ले से 10 मील दक्षिण में है। यहाँ की गुफाओं में काष्ठशिल्प से पाषाण शिल्प की ओर विशेष प्रगति पायी जाती है। सामने का पर्दा पत्थर में काटा गया है। खम्भे कहीं अधिक सीधे और सतर है, यद्यपि उनमें बहुत हल्का सा झुकाव भी है। द्वारों के पार्श्व स्तम्भ लगभग समानान्तर है। वस्तुतः इसके विन्यास में शिल्प की दृष्टि से सुग्रथित चैत्यगृह के सभी लक्षण पाये जाते हैं।

चैत्यगृह का भीतरी भाग 45.5 फुट लम्बा व 21 फुट चौड़ा है, यह एकदम सादा है, जिसके खम्भों पर न ऊपर शीर्षक है न नीचे चौकियाँ है।कहीं-कहीं बौद्धों के मांगलिक चिन्ह अवश्य

पाये जाते हैं। छत के ढोले में लकड़ी का भारी धरन लगी हुई थी, पर अब वे लगभग गिर चुकी है। स्तूप व स्तम्भों पर कुछ अवशेष है जो महायान युग के हैं। चैत्यगृह के पास ही एक आयताकार विहार है किन्तु उसके चौकोर मण्डप का पिछला भाग वृत्ताकार है और उसके तीन ओर चौकोर कोठरियां है।[1]

मूर्तिकला :–

इस काल में उत्तरी भारत में मूर्तिकला की दो शिल्प शैलियों का विकास हो रहा था, एक शिल्प शैली का केन्द्र मथुरा और दूसरी शिल्प शैली का केन्द्र गान्धार था। प्रथम मथुरा शैली और दूसरी गान्धार शैली के नाम से विख्यात हुई है। इन दोनों शैलियों में बुद्ध की पृथक–पृथक मूर्तियां निर्मित हुई। मथुरा के कलाकार बलुए लाल पत्थर का प्रयोग करते थे। प्रारम्भ में जैनधर्म से विशेष प्रेरणा मिली। अतः उन्होंने पद्मासन में ध्यान मग्न बैठे हुए दिगम्बर तीर्थकारों की सुन्दर मूर्तियां बनवाई। किन्तु मथुरा शैली यक्षणियां मूर्तियां सबसे उत्कृष्ट है जो एक स्तूप की वेष्टणी पर अंकित थी। इन मूर्तियों की कामुकता पूर्ण भावभंगिमा उत्कृष्ट है।[2]

गान्धार शैली का उत्कर्ष उस समय हुआ जब पैक्ट्रिया के यूनानियों की सत्ता समाप्त हो चुकी थी। इस कला की विषयवस्तु भारतीय रही किन्तु भावों की अभिव्यक्ति यूनानी शैली में की गई। गान्धार कला का वास्तविक विकास कुषाण युग में हुआ।

इन दोनों कला शैलियों के विषय में जहाँ तक सातवाहन काल की मूर्तिकला का सम्बन्ध है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस समय मूर्तिशिल्प में ललित्य विधान का विकास हुआ। इस काल का मूर्तिकला का परचय मिट्टी की बनी मूर्तियों में भी मिलता है। मूर्तियां मनुष्यों और

---

[1] पर्सी ब्राउन – इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू) बम्बई 1949, पृ0 117

[2] गोविन्द प्रसाद उपाध्याय– प्रारम्भिक इतिहास का रूपरेखा, पृ0 147

पशुओं की आकृतियों की है।[1]

छोटे–छोटे पशु और मानवाकृति और मूर्तियों और खिलौनों के अध्ययन से भारतीय शिल्पकला का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मौर्ययुग के खिलौने भद्दे और प्रारम्भिक अवस्था के सूचक है। द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी के ई0पू0 इस कला में महत्वपूर्ण उन्नति हुई। इस समय मुद्रा का अंकन किया जाता है। टैराकोटा की रूपरेखा आभूषणों से अपनाई गई। कुछ टेराकोटा मीटा स्थान से प्राप्त हुई है। इनमें मिट्टी का गोलाकार अलंकृत मंडल प्राप्त हुआ है। इस पर दोनों ओर एक ही दृश्य उत्कीर्ण है। नीचे चार घोड़ों का एक रथ सारथी और रथी के साथ चिन्हित है। यह सांची के तोरण की अलंकृति की सर्वथा प्रकृति है। कुल्लू के गुण्डला स्थान से तांबे का लोटा प्राप्त हुआ है। विहार में कुलन्दी बाग से एक खड़ी नारी की मूर्ति मिली है। जिसका मुख मण्डल गोल, वामहस्त कटि पर और दक्षिण हस्त नीचे लटक रहा है। मस्तक पर फीता बंधा है। (चित्र- 66)

स्तूप :–

प्राचीन भारत की कला में स्तूपों को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। सर्वप्रथम स्तूप शब्द का प्रयोग हमें बौद्धकाल में उपलब्ध होता है। डा0 राधा कुमुद मुकर्जी ने स्तूप शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है। स्तूप का अर्थ थूहा भी टीला है। महात्मा बुद्ध के शरीर पर धातुओं का एक थूहा बना दिया जाता था, जिसे चैत्य (चिता) सम्बन्धी कहते थे। आगे चलकर चैत्य शब्द का अर्थ और विस्तृत हो गया। डा0 परमेश्वरी लाल गुप्त ने लिखा है कि यद्यपि भगवान बुद्ध के शव स्मारक के रूप में ही स्तूप अधिक प्रसिद्ध है। यद्यपि उनका विकास वैदिक काल से अनुमान किया जाता है। वैदक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आर्यो ने अस्थि संग्रह करके एक वर्तन में रखकर भूमि में समाधि देने की प्रथा थी।[2]

---

[1] लक्ष्मी श्रीवास्तव – प्राचीन भारतीय संस्कृति व कला, पृ0 209

[2] प्राचीन भारतीय कला और दर्शन– डा0 एम0एल0 शर्मा, पृ0 133

चित्र - 66

सतवाहन सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति से दक्षिण भारत में बौद्धकला को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। इस समय नये स्तूपों का निर्माण हुआ। तथा प्राचीन स्तूपों का जीर्णोद्वार किया गया। पश्चिम भारत में अनेक गुफाओं को काटकर अनेक चैत्य एवं विहार बनाये गये। दुर्भाग्यवश उस समय के स्तूपों में से आगे कोई भी अपनी पूर्ण अवस्था में प्राप्त नहीं है।

भारतीय वास्तुकला के प्राचीन उदाहरणों में स्तूप प्राचीनतम् माने गये हैं। स्तूप–संस्कृत–स्तूपः अथवा प्राकृत थूप "स्तूप" धातु से बना है, जिसका अर्थ है एकत्रित करना, ढेर लगाना आदि। अतएव मिट्टी के ऊँचे टीले के लिए स्तूप शब्द का प्रयोग होने लगा। अमरकोश में राशिकृत मृतिकादि उसी कथन की पुष्टि करता है। साधारणतया स्तूप का सम्बन्ध बौद्ध मत से प्रकट होता है इसीलिए बोद्ध साहित्य दीधर्निकाय अंमुत्तर तथा मझिमनिकाय में थूप शब्द का अधिकतर प्रयोग किया गया है।

'कसपस्य भगवतो द्वादस योजनिकान् कनक थूपिका' जातकों में भी थूप या थूपिका किसी ऊँचे टीले या स्मारक के लिये प्रयुक्त मिलता है।[1]

सातवाहन युग के विभिन्न स्तूपों का विवरण इस प्रकार है :–

अमरावती :–

अमरावती दक्षिणी रेलवे के गन्टूर स्टेशन से मोटर सड़क पर 64 किमी0 है। अमरावती के सभी महान मन्दिर खण्डहर है। व्यावहारिक रूप में उस स्थान पर कुछ भी नहीं है, लेकिन सफेद या भूरे रंग की चूना पत्थर की बहुत सी टुकड़ियां उसकी इमारतों के गत वैभव तथा मूर्तिकारों की उच्च चातुरी को अभिव्यक्त करती है। ये टुकड़ियां उस संगमरमर से मिलती जुलती है, जिससे चौखटों

---

[1] प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा व मन्दिर – वासुदेव शरण उपाध्याय– बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना पृ0 9

के भाग, शहतीर और स्तम्भ बने थे।[1]

स्तूप के विभिन्न भाग पृथक–पृथक संग्राहलयों में सुरक्षित है। आन्ध्र प्रदेश में ईसवीं पूर्व सदियों में स्तूपों का निर्माण होता रहा। उनमें से अमरावती भट्टिटप्रोलू, जगय्यापेट, घंटाशाला तथा नागार्जुनी कोंडा से संबद्ध है, जो बीस मील के क्षेत्र में फैले हुए हैं। इनमें कोई भी सुरक्षित नहीं है, उनके भग्नावेष उपलब्ध है। स्तूप के अंड पर खुदे प्रस्तरों पर स्तूप का आकार उत्कीर्ण है, जिससे मूल रूपरेखा का ज्ञान हो जाता है। दक्षिण भारत की स्तूप निर्माण शैली उत्तर भारत से भिन्न है। स्तूप का चबूतरा ईंट से बना है। इसमें बाहरी दीवाल तथा नाभि में दूसरी दीवाल निर्मित है। दोनों गोलाकार दीवालों को ईट की पंक्तियों से कई भागों में विभक्त कर रिक्त स्थानों को मिट्टी से भर दिया गया है। उसके विपरीत मध्य भारत के स्तूप के चबूतरे ठोस मिट्टी के बने हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत के स्तूप के आधार की योजना पृथक रीति पर तैयार की गयी थी। चबूतरा तैयार कर अर्द्धगोलाकार भाग निर्मित हुआ। तत्पश्चात् उसे संगमरमर के प्रस्तर से आच्छादित कर उत्कीर्ण किया गया। सबसे ऊपरी भाग सफेद सांचे में ढले प्रस्तर से निर्मित है और जो सीमेंट कटान के सदृश रीति से अलंकृत हुए है। चबूतरा भी सर्वत्र अच्छी प्रकार से खुदा है, जिसमें कोई भी अंश अलंकृत नहीं है। उपासकों के लिये ऐसा सुन्दर उत्कीर्ण दृश्य अन्यत्र नहीं मिलेगा। अंड के चारों तरफ एक गोलाकार सीढ़ी थी, जिसके देखने से स्तूप की ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। उसी से संबद्ध चारों दिशाओं में चौकोर प्रक्षेपण तैयार किया गया है। उस प्रक्षेपण की दोनों भुजाओं में ऊपरी प्रदक्षिणापथ के लिये मार्ग भी है। उस निकले हुए भाग के चबूतरेनुमा अंश पर पांच पतले स्तम्भ दीख पड़ते हैं जिन्हें आयक स्तम्भ कहा गया है। इस तरह के आयक स्तम्भ की स्थिति अन्य किसी भारतीय स्तूप में दीख नहीं पड़ती। अमरावती की दूसरी विशेषता यह है कि स्तूप का प्रत्येक भाग सम्पूर्ण वेष्टनी, तोरण तथा अंड भलीभांति अलंकृत है। भारतीय स्तूप के हर एक भाग की ऊँचाई की ओर कलाकारों का ध्यान केन्द्रित था, अतएव स्तूप की ऊँचाई दिनोदिन बढ़ती

---

1 डा० वासुदेव उपाध्याय – प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर – 30

गयी। चीनी यात्रियों ने इन्हें टावर (गुबंज) कह कर उल्लेख किया है। वृहतर भारत में तो अत्याधिक ऊँचाई दिखाई पड़ती है। अतएव नेपाल तथा वर्मा आदि देशों में क्रमशः स्वयंभूनाथ एवं भिंगलाजेदी पगोदा इतने ऊँचे है, मानों आकाश छू रहे हों। अर्द्धगोलाकार ने भी मीनारनुमा आकार ग्रहण कर लिया है और वास्तविकता का महत्व नष्ट होता गया।[1]

इस सामग्री से ज्ञात होता है कि अमरावती की महावेदिका अन्य सभी वेदिकाओं से अलंकरण में विशिष्ट थी और सौभाग्य से उसका अधिकांश भाग प्राप्त हुआ है, जो स्तूप के अन्य किसी अंग से अपेक्षाकृत अधिक है। गणनानुसार यह वेदिका का व्यास 193 फुट था जो भरहुत से दुगना है। इसी प्रकार उसका गोल घेरा लगभग 600 फुट था। प्रत्येक अर्धस्तम्भ 9 फुट ऊँचा और 2 फुट 10 इंच चौड़ा था। दो स्तम्भों के बीच में तीन सूचियाँ थी, जिनके ऊपर चित्रित फुल्लों की चौड़ाई 2 फुट 9 इंच थी, जिसके कारण इन्हें परिचक्रा सूची कहते हैं। सूचियों के सिरे स्तम्भों के खांचों में पिरोये गये हैं।[2]

वेदिका की प्रत्येक दिशा में 26 फुट चौड़ा द्वारतोरण था, जैसा अन्य स्तूपों में है, वैसे ही यहां भी तोरण के पंजर और बडेरयो का अभाव था। वेदिका का तुरीयांश अपने अन्तिम स्तम्भ तक पहुँचकर 16 फुट बाहर की ओर निकला हुआ था फिर 6.5 फुट समकोण बनाकर भीतर की ओर 8 फुट मुड़ जाता था।[3]

अमरावती बौद्ध मत का प्रधान केन्द्र था और यहाँ दूर–दूर से यात्री आते थे। इसका स्तूप बहुत प्रसिद्ध था क्योंकि इसमें बौद्ध के कुछ अवशेष सुरक्षित थे। इसमें बाहर की ओर आधार से

---

[1] भ0श0 उपाध्याय – भारतीय कला व संस्कृति की भूमिका, पृ0 67

[2] पर्सी ब्राउन – इण्डियन आर्कीटिक्चर, बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू, पृ0 112

[3] वासुदेव शरण – भारतीय कला, भाग–1, पृ0 300

चोटी तक बहुत बढ़िया संगतराशी से युक्त पत्थर की टुकड़ियां लगी थी। भारत में अन्य कोई बौद्ध मन्दिर ऐसा नहीं है, जिसमें अमरावती के समान संगतराशी का कार्य हो। गुणों में यह अद्वितीय है।[1]

अमरावती की कला भक्तिभाव से भरी हुई है। जहां बुद्ध के चरण चिन्ह के सामने उपासिकायें नग्न हो रही है, वह देखते ही बना है। कहीं–कहीं हास्य रस के दृश्य भी है और अलंकारिता तो सर्वत्र विद्यमान है। तरहदारी की दृष्टि से यहाँ की कला अपने सभी अंग प्रत्यंग में बड़ी ही आकर्षक है, यहां कुछ मूर्तियां भी है, जो बहुत ही गंभीर और उदासीन तथा विरागभाव पूर्ण है। ये खड़ी मूर्तियाँ 6–6 फुट से भी अधिक ऊँची है। इसी काल की सिंहल की बुद्ध मूर्तियां इनसे बहुत मिलती जुलती है। खेद है कि अमरावती शिल्प का एक बहुत बड़ा अंश चूना बनाने के लिये प्रायः सौ वर्ष पहले फूंक दिया गया था।[2]

अमरावती के महाचैत्य से बची हुयी मूर्तियों की संख्या आन्ध्र स्तूपों में सबसे अधिक है। कला की दृष्टि से ये मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर और विभिनन अभिप्रायों से युक्त है, जिनमें लगभग 500 वर्षो के विकास की साक्षी उपलब्ध है। शैली और लेखों की लिपि के आधार पर इनमें विधिक्रम के चार स्तर देखे जाते हैं :–

1. आरम्भ काल, लगभग द्वितीय शती ई0पू0 जब स्तूप की स्थापना हुई उस युग की मौर्य शुंग लिपि में कई लेख मिले हैं।
2. मध्यकाल, लगभग प्रथम शती, सातवाहन सम्राट वासिष्ठीपुत्र पुलुभावी के समकाल (116–119 ई0) जिसका लेख यहाँ मिला है।
3. चरमोत्कर्ष या परिपक्व अवस्था, लगभग 150–200 ई0 यज्ञश्री सावकर्णि (160–189 ई0), जिसका लेख यहाँ मिला है

---

[1] डी0 बराट, स्कल्पचरस फ्रॉम अमरावती इन द ब्रिटिश म्यूजियम, पृ0 54

[2] वासुदेव शरण– भारतीय कला, पृ0 226

4. अन्तिम अवस्था– तृतीय शती, इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के समकालीन। नागार्जुन कोण्ड के लेखों की लिपि में भी कुछ लेख अमरावती से मिले हैं।

इस प्रकार अमरावती स्तूप का क्रमिक विकास वहाँ से प्राप्त लेखों की लिपियों से सूचित है जब कभी स्तूप के कलेवर में परिवर्तन, परिवर्धन और प्रति संस्कार हुआ तो उसकी स्मृति उन लेखों में बच गयी जो यहाँ मिले हैं। इस प्रकार प्रमाणिक साक्षी हमारे सामने उपलब्ध है।

आरम्भ काल में मूर्तियों के उकेरने की शैली और वेशभूषा वैसी है, जैसी भरहुत की मूर्तियों में और अजन्ता की दसवीं और नौवी गुफाओं के चित्र में है। इस युग की मूर्तियाँ संख्या में कम और प्रायः खण्डित है। मूर्तियों के चेहरे सम्मुखीन है, मस्तक पर भारी पगड़ी और कानों में वक्राकार शैली के कुण्डल है, जिनका अग्रभाग चौकोर और पिछला घुमावदार है। उनके गले में कई हार है, जिनके पदक चौकोर है, ओर नेत्र कुछ तिरछे हैं। अंगों में कुछ निश्चलता और भाव की अभिव्यक्ति में भी कुछ स्थिरता है। बाहु और अंगुलियाँ कठपुतलियों जैसी जोड़ी हुयी सी लगती है और उनके आभूषण भी वैसे ही है। स्त्री मूर्तियों की मेखला चौड़ी पट्टी की और सामने की ओर चौड़े पदक से बंधी है। पुरूष मूर्तियों का कटिबन्धन शूकरान्त्रक प्रकार का अर्थात् सूअर की मोटी आंतों की भाँति का आकार में लपेटुवां या गोल है। स्त्री मूर्तियों में मेखला के ऊपर कायबंधन भी है। जंघा भाग की साड़ी पर और नीचे की किनारी पर दोहरी रेखायें है, जो सलवटों के सूचक है। मूर्तियों के पैर एड़ी के पास जुड़े हुए और पंजों की ओर खुले हुए हैं।[1]

इस अवधि में कहीं भी बुद्ध मूर्ति नहीं है। किनतु कई बौद्ध प्रतीकों का अंकन है। वेदिका के उष्णीय पर महामाल्य को कन्धों पर वहन करती हुई छोटी यक्ष मूर्तियां है जैसी भरहुत सांची और पश्चिम भारत की गुफाओं में है। कई पंक्तियों में हाथी के मस्तकों से युक्त धयेदर या लम्बोदर यक्ष मूर्तियाँ है, जिनसे कालान्तर में गणेश मूर्तियों का विकास हुआ। ईघमृग पशुओं में श्येनव्याल अर्थात् गरूड़

---

[1] कुमार स्वामी – हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट, पृ0 74

मस्तक के साथ सिंह शरीर की आकृतियां बलिष्ठ और प्रभावशाली है। उनसे शिल्पियों के समृद्ध रूप भण्डार का परिचय प्राप्त होता है जिसके कितने ही आकार भारत से ईरान और पश्चिम एशिया तक कला में व्याप्त थे।[1]

नागार्जुन कोण्ड :–

नागार्जुन कोण्ड दक्षिणी रेलवे के महरेला से मोटर मार्ग पर 25 किमी0 दूर है। नागार्जुन कुण्ड की अधिकांश समाधियाँ खण्डहर है। नागार्जुन का पुराना नाम श्री पर्वत था। एक सातवाहन राजा ने नागार्जुन में एक मठ का निर्माण कराया जो ईसा की दूसरी सदी का प्रसिद्ध बौद्ध स्थान था। यह नागार्जुन के स्थान पर था। वहाँ विजयपुरी नामक एक महानगर बसा हुआ था। वह शिक्षा और तीर्थ यात्रा का केन्द्र था। वहाँ भारत के समस्त भागों, लंका तथा चीन से लोग आते थे।

इस स्थान का पता 1926 में लगा। सौभाग्य से इसके अवशेष बस्ती से दूर बहुत घने जंगल में थे, जिसके कारण वे मानवीय विध्वंस से बच गये। लौंगहर्स्ट के उत्खनन के फलस्वरूप यहां अनेक विहार, चैत्यघर, स्तूपों के खण्डहर, लेख, सिक्के, धातु मञ्जूषायें, मृत्पात्र, मूर्तियाँ और लगभग 400 से अधिक सुन्दर उत्कीर्ण शिलापट्ट प्राप्त हुए जो अमरावती की शिल्प शैली के सदृश है और अमरावती के चौथे युग की शिल्पकला के प्रतीक है। इनका निर्माण इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के राजत्व काल में हुआ। यह सब सामग्री स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित थी। जो अब नागार्जुन सागर बांध बनने के कारण पहाड़ी के ऊपर नया संग्रहालय बनाकर उसमें सजा दी गयी है और इष्टिका निर्मित स्तूप को भी ज्यों का त्यों वहां ले जाया गया है। दक्षिणी भारत में यह शिल्प सामग्री संख्या और सौन्दय्र की दृष्टि से सर्वातिशायी है

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की मूर्तिकला, पृ0 60

श्री रामचन्द्रन ने 1934–40 में पुनः उत्खनन का कार्य कराया और फिर दूसरी बार 1954 से 1959 तक नागार्जुन सागर बांध के निर्माण से पूर्व खुदाई का कार्य हुआ, जिससे और भी शिल्प सामग्री, विहार, स्तूप, शिला मण्डप, चैत्यगृह तथा हारीती, कार्तिकेय और शिव के मन्दिर मिले।

नागार्जुन के दानियों में से कुछ बौद्ध रानियां तथा इक्ष्वाकु वंश की राजकुमारियां थी, यद्यपि उनके पति ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। नागार्जुन कोण्ड के विहारों में से एक का नाम सिंहल विहार है। यह श्रीलंका से आने वाले भिक्षुओं के रहने के लिये बनवाया गया था। इस विहार में बोधिवृक्ष युक्त एक पवित्र स्थान था।[1]

नागार्जुन कोण्ड के स्तूप एक चक्र में रूप में बनाये गये थे, जो धुरी, नाड़ियों और टायरों से पूर्णतया युक्त थे। ये सब ईटों के बने थे। कहीं–कहीं उनका निर्माण छतरी से मिलता है। स्तूप का गुम्बद 3 से 5 फुट ऊँचे ड्रम पर टिका था। चार मुख्य बिन्दुओं पर स्थित एक आयताकार प्लेटफार्म बाहर की ओर उठा हुआ था और वह भक्तों द्वारा पुष्पाञ्जलि अर्पित करने के लिये वेदि के रूप में काम में आता था। बड़े स्तूपों में हर प्लेटफार्म पांच पत्थर के ख़म्भों पर टिका था। नागार्जुनकोण्डा में बुद्ध के अवशेष सुरक्षित है।[2]

नागार्जुन कोण्ड के स्तूप अमरावती के समान मूर्तिशिल्प के धनी है। उत्कीर्ण शिलापट्टों में सौन्दर्य और विषय बाहुल्य की विशेषता है। इन शिलापट्टों पर कला सौन्दर्य का ऐसा विशिष्ट रूप है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इनमें शिल्प की पूर्णाहुति मिलती है। तक्षण की ऐसी स्वच्छता, सच्चाई और बारीकी समपूजन की ऐसी निपुणता वस्त्रालंकारों का संयम व मनोहर रूप स्त्री पुरूषों के स्वस्थ मांसल शरीर व स्फूर्तियुक्त अंग विन्यास विषयों की नवीनता व बहुलता का मन पर विलक्षण

---

[1] वी0डी0 महाजन – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 533

[2] आनन्द कुमार स्वामी – हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, 1930, पृ0 187

सम्मिलित प्रभाव होता है। जैसे हम कुछ काल के लिये सौन्दर्य के स्वर्ग में पहुँच गये हों। शिलापट्टों को एक दूसरे से मिलाने वाले ऊर्ध्वपटों पर नाटक स्त्रियों की अनेक मुद्राओं के अंकन में उन आचार्यो की प्रतिभा का दर्शन मिलता है।[1]

सांची स्तूप :-

सांची में मौर्य सम्राट अशोक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। ई0पू0 दूसरी शताब्दी के मध्य में शुंग राजाओं के शासनकाल में निर्माण और जीर्णोद्धार का बहुत काम हुआ है। अशोक स्तूप का सम्वर्द्धन और उस पर पत्थर की शिलाओं का आवरण, इस स्तूप का मूल, पाठ, सोपान मार्ग और हर्मिका के चारों ओर वेदिका का निर्माण मन्दिर सं0 40 का पुनर्निर्माण और वेदिकाओं सहित स्तूप सं0 2, 3 का निर्माण किया गया।

सातवाहन राजाओं के शासन काल में स्तूप सं0 1 और 3 में सजावट के तोर पर उत्कीर्ण अलंकारों वाले तोरण द्वार निर्मित किये। इस विशाल स्तूप के निम्नलिखित अंग है। चोटी पर त्रिगुण छत्रावली से सुशोभित अर्द्धगोलाकार अण्ड चौकोर वेदिका से वेष्ठित एक भारी चौंपह हार्मिक, स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणार्थ ऊँची मेधि जहाँ पहुँचने के लिये दक्षिण की ओर सोपानों की दो श्रृंखलायें है। स्तूप के मूल में पृथ्वी की सतह पर वेदिका से घिरा हुआ प्रदक्षिणा पथ जिसमें प्रवेश के लिये चारो दिशाओं में अलंकृत तोरण द्वार है।[2]

स्तूप का व्यास 120 फुट और अण्ड की ऊँचाई 54 फुट है। स्तूप के चारों ओर वेदिका और तोरण द्वारों का निर्माण द्वितीय शताब्दी ई0पू0 के उत्तरार्द्ध में हुआ।

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 320

[2] सर जॉन मार्शल – ए गाइड टू सांची, पृ0 77–78

वेदिका स्तम्भों और सूचियों से निर्मित है। स्तम्भों को समान अन्तर पर गाड़कर इनके दोनों पार्श्व में छेद किये गये। इन छिद्रों में चूलों वाली सूचियों को बैठाया गया है। वेदिका के सिरों पर भारी सिर दल उष्णीय रखे हैं। इनके बीच पुष्प तथा पशु आकृतियाँ निर्मित है। मूल वेदिका तोरण द्वारों द्वारा भागों में विभक्त है। पूरी योजना देखकर लगता है कि पत्थर की वास्तुकला में लकड़ी की वास्तुकला शैली का प्रयोग हुआ है। एक तोरण द्वार पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार सातवाहन राजा सातकर्णि के स्थापति ने उसका निर्माण कराया था। तोरण द्वार अपनी कलात्मकता के लिये प्रसिद्ध है।[1]

प्रत्येक तोरण द्वार में दो चौपहल स्तम्भ लगे हैं जिनके शिखर पर चार सिंह, चार हाथी अथवा चार बौने (कीचक) अपने खोपड़ी कुण्डलाकार किनारों वाली तीन वक्र बड़ेरियों को उठाये हुए दिखाये गये हैं। स्तम्भों के शीर्षक की चौकियों के अन्दर की बढ़ी हुई शालभजिकाओं की मूर्तियाँ है।[2] जो सबसे नीचे की बड़ेरियों को अपने सिर पर उठा रही है। सबसे ऊपर वाली बड़ेरी के मध्य में तोरण द्वारों पर धर्मचक्र और अलंकृत त्रिरत्न के लक्षण है। धर्मचक्र के दोनों ओर चामर लिये हुए यक्ष मूर्तियों के त्रिरत्न बुद्ध धर्म और संघ का प्रतीक है। Fig. 68

सांची के तोरण पर केवल पांच जातक कथाओं के चित्र पहचाने गये हैं। बुद्ध के जन्म का संकेत कमल और कमल पर खड़ी या बैठी स्त्री मूर्ति से किया गया है, जिसे कुछ में हाथी स्थान करा रहे हैं। बुद्ध के प्रथम प्रवचन (धर्मचक्र प्रवर्तन) का निर्देश स्तम्भ पर प्रतिष्ठित चक्र से किया गया है। बुद्ध के परिनिर्वाण का लाक्षणिक प्रदर्शन स्तूप से किया गया है।[3]

सांची के कलाकारों ने बुद्ध से पूर्व 6 मानुषी बौद्धों को सांकेतिक रूप से सामूहिक

---

[1] एफ0सी0 मैसे – सांची एण्ड इट्स रिमेन्स, लन्दन 1892, पृ0 64

[2] रीता शर्मा– प्राचीन भारत, पृ0 182

[3] स्टेइन और बिनयन – एन्शियन्ट बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 114

और व्यक्तिगत रूप में दिखाया है।[1]

अन्य स्तूप :-

इस स्तूप के उत्तर पूर्व में लगभग 50 मीटर की दूरी पर स्थित एक छोटा स्तूप है, जिसका व्यास 49 फुट 6 इंच है। जो चबूतरे पर स्थित है। इसके भीतर कुछ बौद्धाचार्यो एवं धर्मप्रचारकों के अस्थि अवशेष है। इसकी बनावट पहले स्तूप की भाँति है। स्तूप के चारों ओर मूल की वेदिका पर कमल के फूल कोरे गये हैं। इस स्तूप पर केवल एक ही छत्र चढ़ा था। सोपान, पीठ और हार्मिका की वेदिकाओं सहित यह वास्तु स्तूप सं0 1 पुनर्निर्माण के बाद निर्मित हुआ था। तिथि का समर्थन उत्कीर्ण लेखों से होता है।[2]

इसके उभारदार चित्र स्तूप सं0 1 पर बने चित्रों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं।

इस स्तूप के उत्तर पूर्व की ओर स्थित एक अन्य स्तूप से कनिंघम को बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मोद्गलामन की अस्थियाँ प्राप्त हुई थी। मुख्य कलाकृतियों में माला पहने यक्ष, नागराज, गज लक्ष्मी और देव सभा के दृश्य उल्लेखनीय है।

सांची में शुंग सातवाहन कालीन दो मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए है। इनकी कला कार्ले के शैलपट्टों की तरह है।[3]

इसी काल का निर्मित एक स्तूप बोधगया में भी था। बौद्धधर्म के महान केन्द्रों और तीर्थस्थलों में से है, जो नष्ट हो गया है। शुंग सातवाहन कालीन परिवेष्टनी के अवशेष आज भी संरक्षित है। यह वेदिका भरहुत सांची की वेदिका के समान है। बोधगया का वास्तु भरहुत की प्रारम्भिकता और सांची का परिपक्वता की पराकाष्ठा की कड़ी प्रतीत होती है।

---

1 बरगैस ग्राउनपेडेल – बुद्धिस्ट आर्ट, पृ0 210

2 आशीर्वादी लाल – प्राचीन भारत, पृ0 402

3 आर0के0 मुकर्जी – प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 216

बोधगया की वेदिका पर ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। वेदिका में कुल 64 स्तम्भ थे। वेदिका पर जातक कथाओं और बुद्ध के जीवन के कतिपय दृश्य उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त शिला पट्ट पर गजलक्ष्मी, कल्पवृक्ष, चक्र, यक्ष–यक्षिणी और गन्धर्व आदि के चित्रण हुए हैं।[1]

भरहुत की अपेक्षा बोधगया की कला अधिक विकसित है। यहाँ की आकृतियाँ भावपूर्ण है, उनमें गहराई, उभार, स्पष्टता और सम्बद्धता अधिक है।

<u>सातवाहन कला की शिल्प के विषय</u> :–

सातवाहन काल की कला का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह कला अपने समय के जनजीवन का चित्र बड़े ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। भरहुत स्तूप में दो हजार वर्षों पूर्व के भारत के दैनिक जीवन का सजीव चित्रण है। इस काल की वास्तु कृतियों के निर्माण में विकास क्रम की दृष्टि से काष्ठ का ही बहुत प्रयोग हुआ था तथा पर्वत प्रदेश भी तो प्रकृति प्रदत्त थे फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी, निष्ठा की कमी न थी, श्रम अध्यवसाय एवं धैर्य के धनियों की कमी न थी। धनियों ने कमाल कर दिखाया। बड़े–बड़े पर्वतों को काट–काटकर जो कला भवन निर्मित हुए, वे आज भी हमारे गर्व की चीज है।

ये स्तूप धार्मिक भावनाओं और विश्वासों को वेशभूषा, परिधान तथा शिष्टाचार सम्बन्धी व्यवहारों को सूचित करते हैं और बड़ी ही सादगी तथा लगन के साथ बनाये गये है। इनमें हम भारत के जनसाधारण के मानस और आदतों के सम्बन्ध में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते हैं। लोगों के घर देवताओं की मूर्तियाँ, साधुओं के आश्रम तथा साथ ही साथ गाड़ियाँ, रथ, नौकायें, वेशभूषा, शस्त्र तथा आभूषण जिनका प्रयोग साधारण रूप में किया जाता था, ये सभी वस्तुएं नितान्त यथार्थवादी और स्पष्ट रूप

---

[1] भारतीय स्थापत्य – डा0 द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, पृ0 356

से प्रदर्शित की गई है।[1]

प्राचीन भारत अपनी स्वस्थ्य आशावादिता तथा जीवन के प्रति सशक्त विश्वास के साथ इन पाषाणों के द्वारा एक ऐसे स्वर में बोलता हुआ प्रतीत होता है, जो कुछ उन प्राचीन धर्मग्रन्थों के अन्धकारपूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण एक तीव्र परन्तु मधुर विरोध प्रस्तुत करता है, जो इनको दुहराते हुए कभी थकते नहीं। इन स्थापत्य चित्रों का उद्देश्य महात्मा बुद्ध की जीवन की घटनाओं तथा बौद्धधर्म के सिद्धान्तों से परिचित कराया था।[2]

चित्रों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि जनता के नैतिक उन्नयन का कोई विशेष ध्यान नहीं है, इन चित्रों का प्रधान केन्द्र बिन्दु न तो आध्यात्मिक है और न आचारवादी, बल्कि सम्पूर्ण मानव जीवन से सम्बन्धित है। स्तूपों के तोरण द्वारों पर पशुओं एवं वृक्ष लताओं के चित्र को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध कलाकारों की केवल मानव जीवन से ही अनुराग न था बल्कि प्रत्येक प्राणी के लिए स्नेह की भावना विद्यमान थी। प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम इन चित्रों की विशेषता है।

इस दृष्टि से भारहुत चित्र भारतीय संस्कृति के सर्वभूतानुराग एवं अखिल सृष्टि के साा अनुराग स्थापित करने वाले सिद्धान्त को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

सांची के असाधारण तोरण द्वार जिनका निर्माण डा0 फूले के मतानुसार– "विदिशा के गजदन्त शिल्पों ने ही किया था, इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।"

सातवाहन काल की कलाओं में पश्चिमी एशिया के कुछ रूपों तथा कतिपय कला चेष्टाओं का प्रयोग किया गया है। परन्तु इनकी सुन्दरता को देश की निजी कला–परम्परा के साथ ऐसा मिलाया गया है कि इनकी विदेशी रूप लुप्त हुआ प्रतीत होता है।

---

[1] डा0 वासुदेव उपाध्याय– प्राचीन भारतीय स्तूप गुहाव मन्दिर, पृ0 210

[2] प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन – ईश्वरी प्रसाद, पृ0 192–193

खण्ड - ख - कुषाण काल

कुषाण काल

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शुंग साम्राज्य के प्रायः प्रारम्भ से ही भारत पर आक्रमणों की एक बाढ़ सी आ गयी और ये आक्रमण ऐसे थे जिन्होंने भारत का कोई न कोई भाग जीतकर उस पर राज किया और उसकी संस्कृति के विकास में अपना योग दिया। इनमें यवन, पहलव, शक, कुषाण सभी थे।[1]

भारत के इतिहास व संस्कृति पर ग्रीकों का भारी प्रभाव पड़ा। भारत के इतिहास व संस्कृति पर ग्रीकों का भारी प्रभाव पड़ा। तीन क्षेत्रो में विशेषतः ग्रीकों का भारत से संबंध उल्लेखनीय है। पहले तो उन्होंने एक नये प्रकार के (चांदी के) सिक्कों का देश में प्रचलन किया जो आने वाले राजाओं के लिये प्रमाण बन गये और जिनके रूप में ही आज भी भारत का "रूपया" ढाला जाता है। दूसरे ग्रीकों ने भारत में ज्योतिष के क्षेत्र में व्यापक और दूरवर्ती प्रभाव डाला। उनके चलाये अनेक लाक्षणिक शब्द भारतीय ज्योतिष शास्त्र में प्रयुक्त होने लगे। गार्गी संहिता में स्पष्ट उल्लेख है कि यवन मलेच्छ है पर ज्योतिष का इस देश में आरम्भ करने के कारण वे "ऋषिवत् पूज्य" है। तीसरे ग्रीकों के प्रभाव से भारतीय कला के क्षेत्र में एक विशिष्ट शैली का प्रचलन हुआ जो उनके बाद गान्धार शैली के नाम से विख्यात हुयी।[2]

उत्तर पश्चिमी भारत और काबुल में ग्रीक और ईरानी राजाओं ने कुछ काल राज किया। वहां की राजनीति सदियों शक्तियों में कशमकश से आंदोलित रही और वातावरण तब साफ हुआ जब युह–ची को आमू दरिया की घाटी से उखाड़, पांच कबीलों को संगठित कर कुषाणों के नाम से उस पर अधिकार कर पहले वहां बसे फिर भार की ओर बढ़े। उनके प्रारम्भिक राजाओं कुजुल और विय

---

[1] डा0 एस0एम0 पहाड़िया– प्राचीन भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ0 208

[2] बी0एन0 लूनिया– भारतीय सभ्यता व संस्कृति का विकास, पृ0 192

कदफ़िसिस ने शीघ्र ही काबुल, कश्मीर और पंजाब पर भी पहली सई ई0पू0 के अंत और ईसवी सन् की पहली सदी ईसवी के दूसरे चरण के बीच अधिकार कर लिया। विम की भी सिंहासनासीन मूर्ति अन शक क्षत्रयों और कनिष्क की मूर्ति के साथ मथुरा के पास देवकुल से मिली है। शीघ्र ही कुषाणों ने पूरबी ईरानी, काबुल और पश्चिमी पंजाब से बढ़कर पश्चिमी बिहार तक की भूमि पर अधिकार कर लिया और मध्य देश में अपनी दूसरी राजधानी या कम से कम अधिकार केन्द्र मथुरा को बनाया। कनिष्क की राजधानी सर्दियो में पुरूषपुर (पेशावर) और गर्मियों में कपिशा हुयी। शक सिमटकर पश्चिमी भारत के गुजरात और सौराष्ट्र, महाराष्ट्र और मालवा तक सीमित हो गये। कनिष्क ने 78 ईसवी ने अपना साका चलाया जो "शक संवत" के नाम से जाना गया। कनिष्ठ का प्रताप भारत में फैलने लगा और इतिहास में कुषाण काल का प्रकरण जुड़ा जो बौद्ध धर्म के प्रसार और कला के क्षेत्र में अपने अनेक नये करिश्मों से विख्यात हुआ।[1]

एच0जी0 रांलिन्सन का कथन है कुषाण युग भारतीय संस्कृति के इतिहास में महत्वशाली युग है। डी0सी0 सरफार ने लिखा है कुषाण युग भारत के इतिहास में "युग" प्रवर्तक काल है। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात पहली बार एक महान साम्राज्य बना, जिसमें न केवल समस्त उत्तरी भारत ही सम्मिलित था बल्कि उस के बाहर के कई प्रदेश भी सम्मिलित थे जो मध्य एसिया तक फैले थे। इस युग में धर्म साहित्य और मूर्तिकला का भी महत्वपूर्ण विकास हुआ। विशेषकर महायान, बौद्धधर्म का उदय गान्धार कला और बौद्ध मूर्ति का आगमन)

प्रथम शताब्दी ई0 में कुषाण साम्राज्य का विस्तार मथुरा से लेकर मध्य एशिया तथा

---

[1] भ0श0 उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका, पृ0 73

[2] प्राचीन भारत का इतिहास-- विद्याधर महाजन, पेज 403

रोमन साम्राज्य की सीमाओं तक फैल गया। तथा कुछ समय वाद भारतीय सीमाओं को लाघकर, अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर रहा था।

बहुत से सिक्के प्राप्त हुये हैं जिनसे कुषाण राजाओं के कलानुक्रम और धर्म को निश्चित करना सम्भव है। कुषाण युग के बहुत से अभिलेख भी मिले हैं।

कला के क्षेत्र में इन जातियों के संपर्क से विशेष परिवर्तन हुए और उसमें नयी शैलियों का जन्म और प्रसार हुआ। विदेशी जातियों के अनेकों व्यक्तियों ने भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लिया और उनके उत्थान और प्रसार में योग देने लगे। बेसनगर के राजा के दरबार में सीमा प्रान्त के ग्रीक राजा कोर दूत ने वासुदेव स्तम्भ लगभग 126 ई0पू9 में खड़ा किया। इससे पूर्व स्वयं ग्रीक राजा मिनान्दर ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। प्रसिद्ध मथुरा सिंह शीष्र अभिलेख में ऐसा ही जिक्र है। इसी कारण ग्रीक राजाओं के सिक्कों पर भारतीय प्रतीकों की आकृतियां अंकित की जाने लगी। प्रायः 200 ई0 पू0 के सिक्कों से पहले भी भारत में प्राचीन सिक्कों पर ये आकृतियां थी जो बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की प्रतीक थी।[1]

जिस प्रकार भारतीय धर्मों का भारत से बाहर प्रसार हुआ उसी प्रकार भारत में भी विदेशी संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा। ईरानी सम्पर्क ने तो लिपि और मूर्तिकला पर ई0पू0 पांचवी छठवीं शताब्दी पर प्रभाव डाला था और मौर्यकाल में कला समृद्ध हुई थी। पर जब ग्रीकों ने दो सदियों तक भारत पर राज्य किया उस दौरान उनकी संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव पड़ा। उनके अनेक अपने नगर और यहां के नगरों में उनके अपने मुहल्ले बस गये थे।[2]

---

[1] रोमिला थापर– भारत का इतिहास– पृ0 119

[2] दामोदर धर्मानन्द कोसंबी– प्राचीन भारत की संस्कृति व सभ्यता पृ0– 128

विभिन्न कलाओं का युग :-

कुषाण काल में कला की दृष्टि से अद्वितीय प्रगति हुई। भारत की दो मुख्य शैलियों मथुरा व गान्धार शैली का विकास इस काल में भी हुआ। ये सभी शैलियां अपने-अपने दृष्टिकोण में महान थी और भारतीय शिल्प कला में इन सभी को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है।

कुषाण शिल्पियों ने सहस्त्रों मूर्तियों की रचना की जिनमें से अधिकांश आज भी सुरक्षित हैं।

मथुरा शैली :-

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मथुरा में जिस शैली का विकास हुआ जो मथुरा मूर्तिकला शैली के नाम से पुकारी गयी। ईसा की पहली सदी से प्रगति करती हुई इस शैली ने आगे लाने वाले समय में उत्तर भारत की मूर्तिकला की शैलियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। गुप्तकाल की श्रेष्ठतम मूर्तिकला को मथुरा शैली का विकसित स्वरूप माना गया है। यहां की बनी हुई मूर्तियां पश्चिम में तक्षशिला और मध्य एशिया तक तथा पूर्व में श्रीवस्ती और सारनाथ तक भेजी जाती थी।[1]

मथुरा कुषाण काल में एक बहुत बड़ा मूर्ति केन्द्र था। शुंगकला में मथुरा में भरहुत की "लौक शैली" और सांची की उन्नति साथ-साथ चल रही थी। इस काल में ये दोनों शैलियां एक हो जाती है अर्थात् कुषाण प्रश्रय पाकर वहां एक राजकला रह जाती हैं। फलतः उसमें डौल का चिपटापन दूर हो जाता है किन्तु भरहुत के अलंकरण और अभिप्राय बने रहते हैं। इस समय क असंख्य मूर्तियां मथुरा में मिली हैं, मिलती हैं और मिलती रहेंगी। ऐसा जान पड़ता है मानों मथुरा ऐसी मूर्तियों का प्राकृतिक आकार हो। ये सभी मूर्तियां सफेद बत्ती वाले लाल राबदार पत्थर की है जो सीकरी, भरतपुर

---

[1] एम० कादरी- प्राचीन भारतीय कलायें- पृ० 218

आदि खदानों से निकलता है।[1] (चित्र- 67)

परखम जैसी अति महाकाय प्रतिमाओं के निर्माण में मथुरा के शिष्पी मौर्य शुंग युग में ही अभ्यस्त हो चुके थे। उसी परम्परा को कुषाण युग में वोधिसत्व बौ, नाग और यक्ष देवताओं की विशालकाय मूर्तियों के निर्माण द्वारा आगे बढ़ाया गया। वाहन स्थानों में भी मथुरा से मूर्तियों का निर्माण होने लगा। सांची, सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पंजाब राजस्थान का वेराट प्रदेश बंगाल अच्छित्रा एवे कोसम आदि स्थानों में मथुरा के लाल चकनेदार पत्थर की मूर्तियां पाई गयी है। मथुरा शिल्प में प्रयुकत सुन्दर मजीढिवा रंग का पत्थर रूपवास और सीकरी की खदानों से लावा जाता था। मथुरा बौद्ध जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मों का केन्द्र था। अतएव तीनों कलाओं के अवशेष मिले हैं। बौद्धों के और जैनों के स्तूप और मन्दिर तथा ब्राह्मणों के देवस्थानों का निर्माण मथुरा में हुआ। उनके सम्बन्ध में अनेक प्रतिमाएँ मूर्तियाँ, स्थापत्य और शिल्प के नमूने मथुरा में बनाये गये हैं।[2] (चित्र- 68)

मथुरा शैली की पहले वर्ग में पहले वर्ग में वे "पान प्रधान" संयाजित मूर्तियां हैं, जिनमें आसव पीने का दृश्य प्रस्तुत हुआ है। इनमें दो प्रधान है। एक कुबेर की जो आसव पी रहे हैं और दूसरी मदविव्हल कुबेर की जिसे सम्हाला जा रहा है। दो ग्रीक युवतियां पश्चारिका के रूप में खड़ी है इनमे से कुबेर के पास वाली हाथ में मदिरा भरा ग्रीम "कटोरा" लिये हुए हैं। ग्रीक फ्रॉक चुन्नदार निचला परिधान और घुटनों तक बूट पहने हैं। बाल भी ग्रीक शैली में बंधे हैं। उसके पास ही एक बच्चे की आकृति है जो टूटी है।[3] (चित्र- 69)

यह मूर्ति संग्रहालय में सुरक्षित है। मथुरा में ही एक ग्रीक मूर्ति मिली है जो अद्भुत

---

[1] ई0बी0 हैवेल– द हैण्डबुक ऑफ इण्डियन आर्ट, लन्दन, 1920, पृ0 78

[2] राय कृष्णदास– भारतीय मूर्तिकला, पृ0 59

[3] आनन्द कुमार स्वामी– हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0 75

चित्र - 67
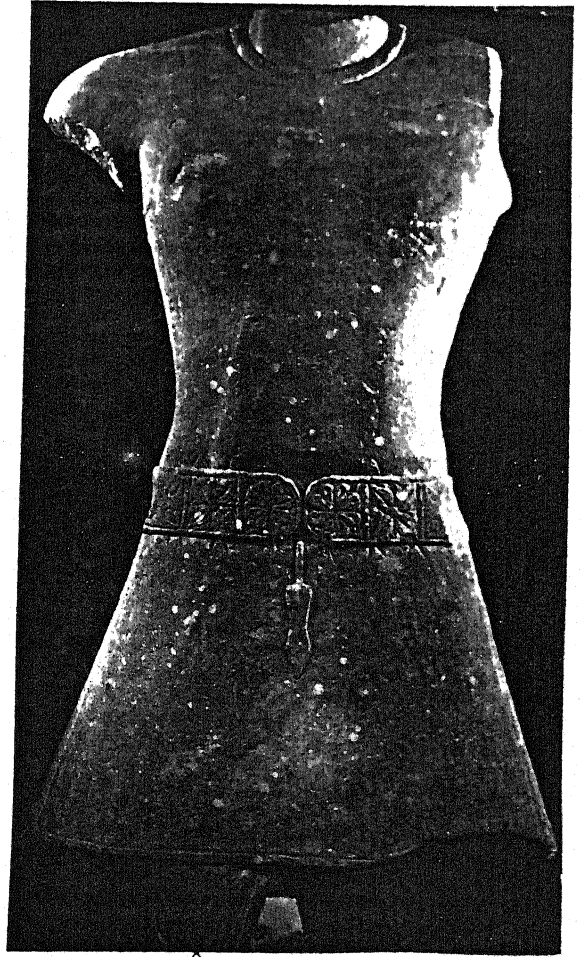
चित्र - 68
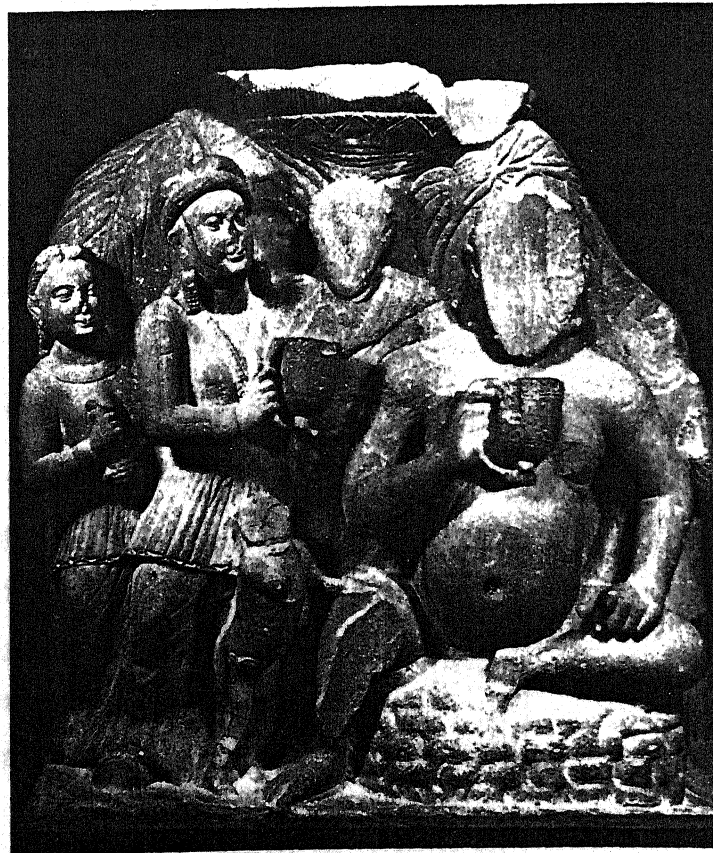
← चित्र-69

है जिसमें एक ग्रीक कथा उकेरी है।[1]

इन सबसे महत्वपूर्ण मूर्ति हरीति और कुबेर की संयुक्त मूर्ति हे। जो स्लेटी पत्थर की बनी है।[2] एक अन्य मूर्ति कामदेव की भी है।

दूसरे वर्ग की मूर्तियों मे एक तो कम्बोजिका रानी की स्लेटी पत्थर से निर्मित मूर्ति है, जिसमें नाक नक्श यूरोपीय ढ़ग के हैं, चुन्नरदार ग्रीक परिधानों से प्रभावित साड़ी पहने हुए हैं। शेष मूर्तियां बुद्ध की लोकोत्तर घटनाओं से सम्बन्धि कथाओं की है।[3]

मथुरा के ध्रुव टीले से प्राप्त स्तूप के अण्ड पर बनें दृश्य भी बुद्ध कथाओं से सम्बन्धित है ये मूर्तियाँ पेशावर से प्राप्त मूर्तियों के समान ही है। (चित्र-70)

यक्ष यक्षिणी, वृक्षिका, अमरयुग, क्रीड़ादृश्य मन्दिर, विहारों एवं स्तूपों के और उनकी वेष्टनियों के भिन्न-भिन्न अवयवों के साथ-साथ अब मूर्तियों के विषयों में बुद्ध की खड़ी हुई तथा पाठ्यासन लगाये प्रतिमायें भी सम्मिलित हैं। श्रंगार रस प्रधान मूर्तियों की भावभंगी तथा अंग प्रत्यगों में वही अत्युक्ति है जो पहले से चली आती है।[4] (चित्र-71)

कंकाली टीला से प्राप्त विभिन्न मूर्तियां, मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित कनिष्क की मूर्ति वनारस संग्रहालय में सुरक्षित श्रंगार पेटी लिये स्त्री मूर्ति और मथुरा तथा उसके निकट के क्षेत्रों से प्राप्त बुद्ध, बोधिसत्वों, यक्ष-यक्षणियों तथा स्त्री पुरूषों की विभिन्न मूर्तियाँ इस कला के सुन्दर नमूने है। परन्तु इनमें नग्न अथवा अर्धनग्न स्त्रियों की मूर्तियों की संख्या अधिक है।[5] (चित्र-72)

---

[1] यह मूर्ति कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित है।

[2] यह मूर्ति मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है, सं0- एफ 42

[3] पी0एच0 फोगल, पृ0 13

[4] रायकृष्ण दास- भारत की मूर्तिकला, पृ0 58

[5] डा0 पहाड़िया, प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ0 208

चित्र - 70
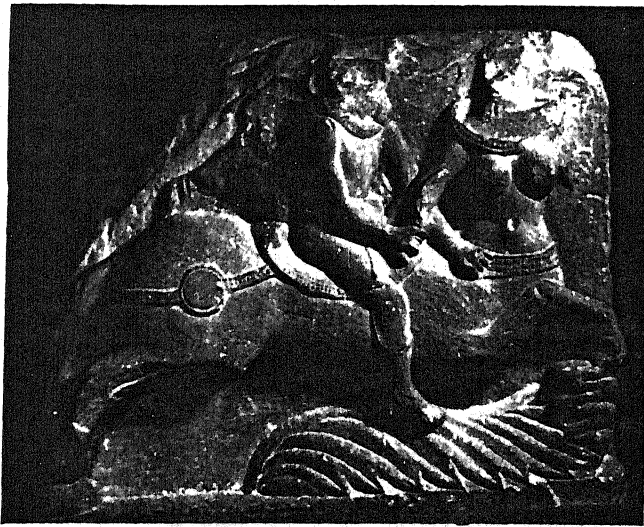
चित्र - 71
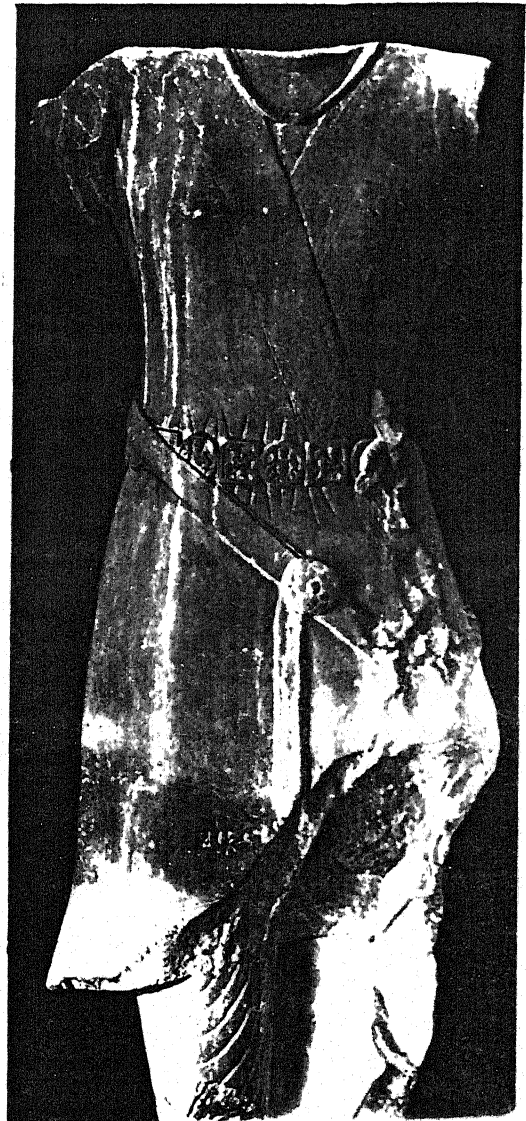
चित्र - 72

कुछ विद्वानों का मानना है कि दूसरी सदी के आरम्भ में कुछ प्रभाव गान्धार कला का और कुछ प्रभाव रोमन कला का आया जहां से समुद्री मार्ग से यहाँ के व्यापारिक सम्पर्क थे।

यख, यक्षिणी, वृक्षिका, अमरयुग, क्रीड़ा दृश्य, मन्दिरों, बिहारों एव स्तूपों के और उनकी वेष्टिनियों के भिन्न–भिन्न अवयवों के साथ–साथ अब मूर्तियों के विषयों में बुद्ध की खड़ी हुयी तथा पद्मासन लगाये प्रतिमायें भी सम्मिलित हो जाती है। इन सब मूर्तियों में कही भी गान्धार छाया नहीं मिलती है। श्रंगार रस प्रधान मूर्तियों की भावभंगी तथा अंग प्रत्यंगों में वही अत्युक्ति है जो पहले से चली आती है, बुद्ध मूर्ति में भी कहीं से उस वास्तविकता का दर्शन नहीं होता जो गान्धार वालों ने अपी कृतियों में, उस पर मढ़ना चाहा है। एक बात और ध्यान देने की है। कुषाणकालीन मथुरा की बुद्ध या बोधिसत्व मूर्तियों में अधिकांश खड़ी मूर्तियाँ है जिनकी अतिरिक्त ऊँचाई तथा शैली स्पष्ट रूप से शैशुनाक मूर्तियाँ या खड़ी जैन मूर्तियों की है। यदि इस प्रकार की मूर्ति के लिये मथुरा के शिल्पी गान्धार के ऋणी होते तो इसमें उक्त परम्परा न रहती। इसी प्रकार पद्मासीन मूर्ति में वह परम्परा विद्यमान है जो मोहन जोदड़ों से होती हुयी जैन मूर्तियों में चली आती है। अलंकरणों में भी भारतीय अभिप्रायों के साथ–साथ केवल वे ही अलंकरण है जिनका मूल हम लघु एशिया में देख चुके हैं और जो बहुत दिनों से भारतीय मूर्तिकला में चल रहे थे।[1]

मथुरा के कलाकारों ने कई ब्राह्मण, देवी देवताओं का चित्रण भी किया है। हाल ही में मथुरा से चोरी गई एक अत्यन्त दुर्लभ पंचमुखी शिव की मूर्ति आगरा पुलिस को मिली है। लाल पत्थर में तराश कर बनाई गई यह मूर्ति ऊँचाई में लगभग एक फुट और चौड़ाई में नौ फुट तक है। इसमें चारों दिशाओं में शिव के चारो मुख है। जबकि एक मुख इन चारों मुखों में सबसे ऊपर है। शतरुद्र संहिता व शिव महापुराण में शिव के 5 अवतारों का वर्णन है।[2] आमतौर पर शिव की मूर्ति त्रिमुखी

---

[1] रायकृष्ण दास – भारत की मूर्तिकला, पृ0 61

[2] ये अवतार है– ईशान (आकाश), पुरूष (वायु), अघोर (अग्नि), काम सज्ञक (जल), ब्रह्म संज्ञक (पृथ्वी)

मूर्तियाँ ही मिलती है। इसका कारण यह बताया जाता है कि चौथा मुख दीवार की ओर मान लिया जाता है और पांचवा आकाश रूप होने से उसे दिखाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। शिव के पाँच मुख पंच तत्व जल, पृथ्वी, तेज, वायु तथा आकाश के प्रतीक है। आगरा पुलिस को ही अन्य मूर्तियों के साथ एक और मूर्ति मिली है। यह मूर्ति अष्ट धातु से बनी बांसुरी बजाते कृष्ण राधा की मूर्ति है। कृष्ण की मूर्ति 12.5 फुट लम्बी तथा 4 फुट चौड़ी और इसका भार 3.5 किग्रा0 है। मूर्ति में कृष्ण अपनी चिरपरिचित मुद्रा में तन्मय बांसुरी बजा रहे हैं, उनके गले में सुन्दर मालायें पड़ी है तथा कानों में आभूषण है। राधा की मूर्ति की ऊँचाई 10 फुट तथा चौड़ाई 4 फुट है और इसका भार 3 किलो 700 ग्राम है।[1]

कई जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ भी मथुरा के कलाकारों ने बनाईं। यक्ष, यक्षणियां, नाग–नागनियां भी इन कलाकारों ने बनाई है। मूर्तियों को देखने से पता चलता है कि मथुरा कला मुक्त थी कि जहां अमुकता का प्रदर्शन किया गया है। वहां आध्यात्मिकता को भी पीछे नहीं छोड़ा गया है।[2]

मथुरा की मूर्तियाँ मांसलता और विशालता के लिये प्रसिद्ध है। मथुरा कला की मूर्तियों में बुद्ध के मूछे नहीं दिखाई गयी है। जिसे हम अवतारवादी भारतीय कला एवं संस्कृति का ही प्रभाव कह सकते हैं। मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियों में बुद्ध के दाहिने कंधे पर वस्त्र दिखलाई नहीं पड़ता। दक्षिण हस्त कुछ ऊपर को उठा हुआ दिखाया गया है जो अभय मुद्रा का प्रदर्शक है। बुद्ध के बोधिसत्व प्राप्त करते हुए चित्र में आध्यात्मिक परिपूर्ण जान पड़ती है। मथुरा की बुद्ध मूर्तियों में सिंहासनासीनता की प्रधानता रही है। इस कला में बुद्ध की मुख मुद्रा प्रभा मण्डल से आवृत्त है, जो गान्धार कला से इस बिन्दु पर भिनन है कि मथुरा की मूर्तियों का प्रभा मण्डल किनारे की ओर वृत्ताकार चिन्हों से सुशोभित किया गया है।[3] (चित्र- 73)

---

[1] साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 31 मार्च, 1985

[2] प्राचीन भारत– एल0पी0 शर्मा, पृ0 188

[3] द्विजेन्द्र नारायण झाँ व श्रीमाली, प्राचीन भारत, पृ0 235

सम्राट कनिष्क की मूर्ति आकार और शारीरिक अवयवों की दृष्टि से विशाल एवं ठोस है परन्तु उनकी वेशभूषा रोमन है परन्तु इस कला के नमूने इन्द्रिय सुख व सौन्दर्य से व्याप्त स्त्रियों की मूर्तियां है। स्त्रियों के गोल व सुडोल वक्ष एवं भारी कूल्हे न केवल स्त्री की प्रजनन शक्ति के प्रतीक है वरन स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य को भी प्रदर्शित करते है। हाथ पैरों की मुद्रायें भी इसी प्रकार का संकेत देती है। पुरूषों की मूर्तियों में भी शारीरिक सौन्दय्र को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु मथुरा शैली में आध्यात्मिक भावना को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया था। बुद्ध की प्रतिमाओं के चेहरे के चारों.ओर दिव्य प्रकाश को चक्र द्वारा प्रदर्शित करने का प्रयत्न मथुरा शैली के अन्तर्गत ही आरम्भ हुआ। इस प्रकार मथुरा शैली में भाव, भावना और शारीरिक सौन्दर्य सभी को प्रदर्शित करना आरम्भ किया गया, जिसके कारण कला धार्मिक विचार और शारीरिक सुख दोनों की अभिव्यक्ति का साधन बन सकी।[1] (चित्र - 74)

कुषाण राजाओं का देव कुल मथुरा में था, उसमें की कुषाण राजाओं की कई मूर्तियों के अवशेष मिल हैं। जिनमें छाती पर से ऊपर की ओर खण्डित कनिष्क की प्रतिमा मुख्य है। इन मूर्तियों तक में कहीं से गान्धार शैली का स्पर्श नहीं है, यद्यपि कुषाण सम्राट अपने मध्य एशियाई परिच्छद में ही अंकित किये गये हे। यदि मथुरा की अपनी मूर्ति शैली न होती अथवा गान्धार शैली उस समय की प्रमुख शैली होती तो ये सम्राट मूर्तियाँ उसी गान्धार शैली में बनी होती व कम से कम इन पर प्रभाव अवश्य मिलता।[2] (चित्र - 75)

मथुरा में कुछ ऐसी मूर्तियाँ अवश्य मिली है जो या तो गान्धार मूर्तियों की प्रतिकृतियां है व उस शैली से प्रभावित है, किन्तु इने गिने होने के कारण इन उदाहरणों के चश्मे से मथुरा शैली का निरीक्षण नहीं किया जा सकता। ये तो शिल्प विशेष व ग्राह्य विशेष के रुचिवंलक्षण्य के परिचायक

---

[1] एल0पी0 शर्मा – प्राचीन भारत, पृ0 192

[2] बी0एन0 लूमिया – भारतीय सभ्यता व संस्कृति का विकास, पृ0 193

चित्र - 73

चित्र - 75

चित्र - 74

मात्र फलतः अपवाद मात्र है।

मथुरा कला हृदय की कला है। उसमें गान्धार कला के बुद्धिवादी दृष्टिकोण का अभाव है। इस काल में बाह्य सौन्दर्य को ही प्रकट करने का प्रयास नहीं किया गया है वरन् आध्यात्मिक सौन्दर्य को भी चित्रित किया गया है।[1]

मथुरा मूर्तिकला की विशेषतायें है :-

1. मथुरा की मूर्तियाँ लाल पत्थर की बनी है।
2. मूर्तियों में बुद्ध के चारों ओर प्रभा मण्डल है जोकि बहुत आकर्षक है।
3. महात्मा बुद्ध मुंडे सिर में दाढ़ी मूंछ रहित दिखाये गये हैं।
4. प्रतिमाओं में आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता प्रधान है।
5. महात्मा बुद्ध की प्रतिमायें सिंहासनासीन तथा खड़ी मुद्रा में है।
6. मूर्तियों में एक कंधा ढका व एक खुला हे।
7. मूर्तियों की बनावट गोल तथा पृष्ठालम्बन रहित है।
8. यक्षों तथा यक्षणियों की मूर्तियों में कार्यकर्ता का अतिरेक है।
9. मूर्तियों के वस्त्र प्रायः शरीर से चिपके हुए हैं।
10. मथुरा शैली की बुद्ध की मूर्तियों में सौन्दर्य स्निग्धता, कोमलता और संतलन का सुन्दर समन्वय है।

मथुरा के कलाकारों ने मानव आकृति के चित्रण में असाधारण योग्यता का प्रदर्शन किया है। आकृतियां भव्य है और इनमें आभूषण तथा वस्त्रों की बहुलता को कम किया गया है। नारी सौन्दर्य इस कला का बहुत ही मजबूत बिन्दु है। शालभंजिकाओं को अलग-अलग भंगिमाओं में बतलाया गया है।[2]

---

[1] डा0 एस0 पहाड़िया- कुषाणकालीन संस्कृति, पृ0 20[illegible]

[2] डा0 पहाड़िया- प्राचीन भारत की संस्कृति, पृ 128

सौभाग्य से कला और शिलप के लगभग पांच सहस्त्र अवशेष मथुरा में मिले हैं, उनमें से अधिकांश कुषाण युग के है। मथुरा कला का स्वर्ण युग कुषाण सम्राट कनिष्क हुविष्क और वासुदेव का राज्यकाल था, जब यह कला परम उत्कर्ष को प्राप्त हुई, उस युग की श्रेष्ठता की तुलना में भारतीय कला के बहुत ही कम युग देखे जाते हैं। मथुरा के शिल्पियों ने भरहुत और सांची के आचार्यो की बारीक और अच्छा काम करने की चुटकी अपनाई किन्तु उसे और भी विकसित किया। वे नये रूप नये विषय और नई शैली में कार्य करने लगे। सौन्दर्य की दृष्टि से मथुरा के कुशल शिल्पी और भी आगे बढ़े, ब्राहम रूप निर्माण और भीतरी भावों में उन्होंने जो स्थापित किया उसकी तुलना अन्यत्र नहीं है।[1] (चित्र - 76)

उनके हाथों में शिल्प कला सचमुच ललित कला बन गई और उसकी शोभा का मानदण्ड बहुत ऊँचा उठ गया। वृक्ष वनस्पति कमलों के कुव्ले और लतर, पशु पक्षी सके जो रूप शोभा के लिए पहले से चले आते थे उनको मथुरा के शिल्पियों ने अपनाया, पर उन्होंने कितने ही नवीन विषयों को अपनी कला में जोड़ा। मनुष्यों की प्रसन्नता को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का चित्रण और उद्यान क्रीड़ा एवं सलिल क्रीड़ाओं के दृश्य स्वच्छन्दता से वेदिका स्तम्भों पर उत्कीर्ण किये गये। मथुरा जेसे ललित वेदिका स्तम्भ अन्यत्र नहीं है। शोभनार्थ अलंकरणों की संख्या भी बढ़ी, उनमें से कुछ पूर्व समागत थे और कुछ की नूतन कल्पना हुई।[2] (चित्र - 77)

गान्धार शैली :–

गान्धार शैली को ग्रेको रोमन ग्रीको बुद्धिस्ट, हिन्दू यूनानी आदि नामों से पुकारा गया है। निसन्देह उस पर यूनानी रोमन या हैलेनिक कलाओं का प्रभाव था लेकिन इस कला का विकास यूनानियों ने नहीं किया वरन कला के क्षेत्र में उनकी परम्परा को निभाने वाले शलों और कुषाणों ने

---

[1] भगवतशरण – भारतीय कला एवं संस्कृति की भूमिका, पृ0 88

[2] वासुदेव शरण– भारतीय कला, पृ0 276

97
LARGE-SIZED BOWL
PROBABLY REPRESENTING THE
SECOND BOWL OF

चित्र - 76

चित्र - 77
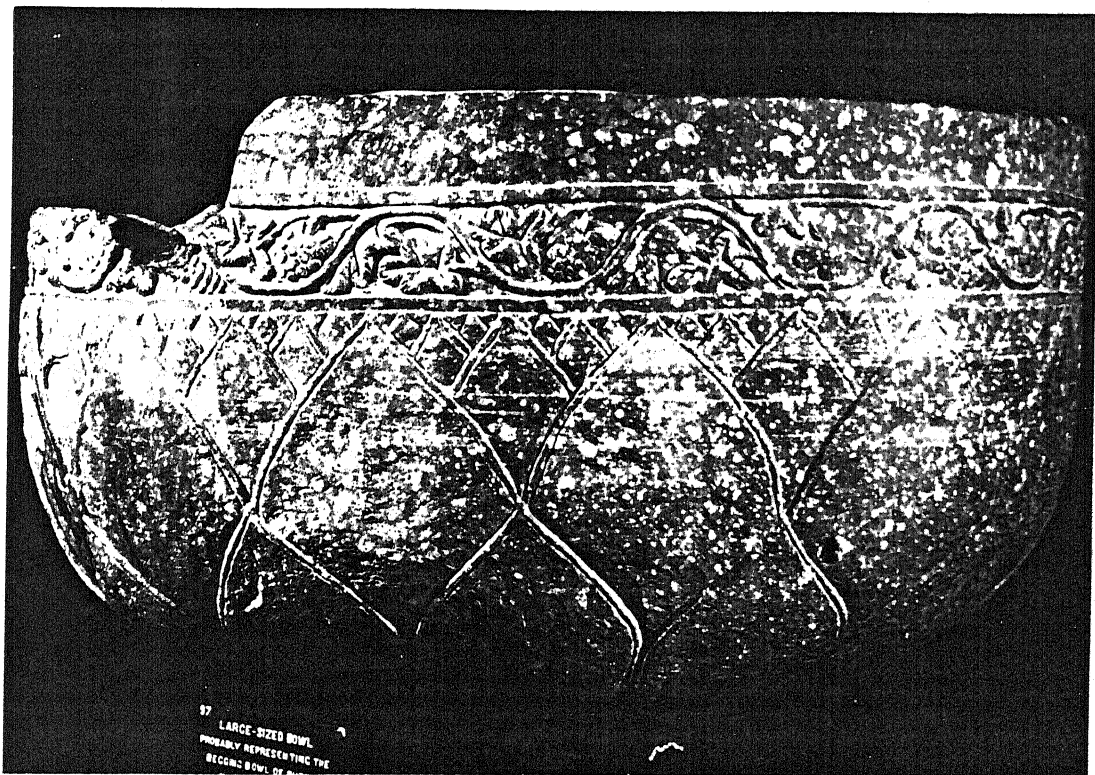
किया। भारत के गान्धार प्रदेश (पेशावर के निकट काबुल घाटी का निम्न भाग और सिन्धु घाटी का ऊपरी भाग) में उसका विकास हुआ। उसी कारण इसे गान्धार शैली पुकारा गया। विदेशी पभाव के कारण इसे ग्रीक रोमन अथवा हिन्दू-यूनानी पुकारा गया। चूंकि यह बौद्ध धर्म की प्रेरणा था, अतः इसे ग्रीको बुद्धिस्ट भी कहा गया है। "गान्धार की अपनी पृथक स्थिति है यूनानी दृष्टिकोण से वह भारतीय व औपनिवेशिक है तथा भारतीय दृष्टिकोण से वह यूनानी व औपनिवेशिक है।"[1]

गान्धार शैली के सबसे अधिक अवशेष गान्धार प्रदेश में मिले हैं, जिसकी सीमायें पूरब में तक्षशिला और पश्चिम में अफगानिस्तान से जलालाबाद तक है। इनके विशेष केन्द्र अफगानिस्तान अलालाबाद और बामियान, स्वात नदी की घाटी, पुष्कलावती, पेशावर और पूरबी गान्धार का हृदय तक्षशिला के अवशेष आज भी वहां खड़े हैं या वही से खोदकर निकाले गये है। दीपांकर जातक की कथा में नगरहार का उल्लेख हुआ है, यह नगरहार ही आज का जलालाबाद है, वहाँ का स्तूप तो नष्ट हो गया है पर उसका आधार आज भी बचा हुआ है। नीचे के "अण्ड" का भी कुछ भाग बचा है जिस पर मूर्तियां आलों में सजाई हुई है। हड्डा के प्रसिद्ध स्थान तथाकलान में कभी अत्यन्त महत्व का विहार था, पर उसकी मूर्तियां अधिकतर विपरीत धार्मिक भावना से नष्ट कर दी गयी है। वामियान तो गान्धार कला के लिये जखीरा ही साबित हुआ। गुहायें अनेकानेक विहार, बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ- सब उस जखीरे में शामिल है। बुद्ध की एक मूर्ति तो 159 फुट ऊँची है। मूर्ति के पीछे की दीवार कुषाण भारतीय चित्रण के उदाहरण प्रस्तुत करती है। वामियान के अन्य चित्र मध्य एशियाइं शैली से प्रभावित है ये सभी अवशेष कनिष्क कालीन है। बोद्ध धर्म का विशेषतः उसी राजा द्वारा उधर प्रचार होने से यह स्वभाविक भी है। कनिष्क द्वारा बनवाये या उसके समय में बने विहार ईटो द्वारा निर्मित खुले आसमान के नीचे खड़े हुए, बाद के चट्टानें काटकर बनाये गये हैं। अफगानिस्तान के अनेक अवशेष पेरिस के संग्रहालय "मूजीगीमें" में रखे हैं, अनेक संसार के विविध संग्रहालयों में बिखरे हुए है। कुछ पेशावर के म्यूजियम में भी सुरक्षित हुए।[2]

---

[1] क्रेमरिश, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 207
[2] उपाध्याय - फीडर्स ऑफ इण्डियन कल्चर, पृ0 65-66

स्वाव और बुनेर के पठानी प्रदेश से लगा हुआ ही यूसुफजई का इलाका है। कभी–कभी इसी में स्वात और जुनेर के इलाके भी शामिल कर लिये जाते हैं।[1]

पुसुफजई और गान्धार के बीचों बीच तरल एबाही है, जहां की खुदाई से वहां गान्धार शैली की असंख्य मूर्तियां मिली है, वहां के पहलम राजा गुदुफर के एक अभिलेख में साल 46 ई0 लिखा होने से इन मूर्तियों में से कुछ का काल पहली सदी ईसवी यानी कनिष्क के शासनकाल से कुछ ही पहले मालूम होता है। शेष अधिकतर मूर्तियां उत्खनक स्पूनर की राय में तीसरी चौथी ईसवीं की है।[2] कनिष्क द्वारा निर्मित इमारतों में सबसे महत्व का पेशावर का महान स्तूप है जिसका उल्लेख फाह्यान और हुएन्त्सांग दोनों चीनी यात्रियों ने उसके आकार प्रकार के साथ किया है। यह विशाल स्तूप तो नष्ट हो गया है। चीनी यात्रियों ने इसकी ऊँचाई और मंजिलों का उल्लेख किया है। यह स्तूप 638 फुट ऊँचा था, दण्ड और छत्र को छोड़ 18 मंजिलों में सम्पन्न। आधार पांच मंजिलों का था। 50 फुट ऊँचा और उत्कीर्ण लकड़ी का स्तूप 13 मंजिलों का 400 फुट ऊँचा।

स्तूप स्तम्भाकार था, सांची आदि की तरह का अर्धाण्डवत नहीं। इसी इलाके में शाह जी की ढेरी है जहाँ पुरातत्व विभाग के सुपरिटेन्डेन्ट स्पूनर ने खुदाई की थी। भारत का सबसे बड़ा स्तूप सम्भवतः वहीं बना था। उसकी इमारत तो नष्ट हो गयी है पर उस स्तूप का आधार बच रहा है जिसकी परिधि 286 फुट है, इस स्तूप का महत्व केवल इसकी विशाल आकृति के कारण ही नहीं है। इससे भी है कि उसी के गर्भ में कनिष्क की प्रसिद्ध अस्थिपेटिका प्राप्त हुयी थी।[3]

तक्षशिला, जहां जातक कथाओं के अनुसार बुद्ध के समय एक महान विश्वविद्यालय स्थापित था। पूर्वोत्तर युगों के भवनों के अवशेषों का भग्न स्तूप है। मौर्य शुंग, हिन्दू, ग्रीक, शक

---

[1] प्राची

[2] आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, ए0आर0, 1912–13, प्लेट नं0–1, पृ0 17

[3] सर जॉन मार्शल– गान्धार आर्ट, पृ0 96

चित्र - 78

पार्थव, कुषाण सभी युगों की इमारतों के खण्डहर वहां खोद निकाले गये हैं। मौर्य शुंगकालीन मीर टीले का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। सिरकप का टीला हिन्दू ग्रीक, शक–पहलव और कुषाणों के आरम्भ काल के भवन ढके हुए थे। इसी कालयान के अन्तिम परिणाम में कनिष्क हुआ था। विशेषतः सिरमुख का टीला कनिष्क कालीन भवनों का धनी था। इस भाग में बौद्ध प्रतीकों से युक्त कलावशेष प्राप्त हुए थे। आश्चर्य की बात है कि वहाँ उस स्तर में जिसे हम हिन्दू ग्रीक काल कहते है, शुद्ध ग्रीक शैली से अनुप्राणित गान्धारकला के अवशेष नहीं के बराबर मिले। वहाँ की विशिष्ट वस्तुएं कुषाणकालीन है, उस काल के प्रारम्भिक कनिष्क के काल की। वास्तु के अवशेषों की वहाँ कोई सीमा नहीं है।

जिसे आज "भीर टोप" कहते है, वह कभी धर्मराजिका स्तूप था जिसका निर्माण शक पार्थव युग में हुआ था पर जिसका जीर्णोद्धार कुषाण काल में कराया गया था। यहाँ से गान्धार कला के अनेक सुन्दर नमूने प्राप्त हुए हैं जिनमें अनेक चूना मिट्टी के बने बुद्ध के मस्तक है। 8 इनका समय पिछला कुषाणकाल है। इस स्तूप के पास ही फर्श के नीचे बुद्ध की अस्थियों की पेटिका मिली जिसके साथ के चांदी के एक पत्तर पर उसका समय ऐसी तिथि गणना में दिया गया हे, जिसे विद्वानों ने 78ई0 माना है।[1] पास के फर्श में कभी काँच की टाइलें जड़ी थी, इनका रंग चमकीला नीला था।

सिरकप का राजकीय नगर शक पार्थव काल में बना था और उसके राजमहल का निर्माण कुछ उस काल और कुछ कनिष्क के शासनकाल में बना था। कुमार स्वामी का वक्तव्य है कि इस राज प्रसाद और मेसोपोटामिया के अंसूरी राजप्रसादों में असाधारण समता है। पास के जैन स्तूप का सामना ग्रीक और भारतीय कलाओं का समन्वय है तिकोने ग्रीक अभिप्राय के नीचे भारतीय चैत्य मेहराव और द्वार तोरणनुमा है। मेहराव पर पक्षी बिठाये गये है, जिनमें एक दो सिरा गरूड़ है– भारत में इस

---

[1] कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ0 54

8 चित्र - 78

अभिप्राय का पहला रूप।[1]

काबुल और स्वात नदियों के संगम पर भीर जियारत है।

तक्षशिला के ही कला परिपार में पड़ोस के मणिक्याला में मिले अवशेषों की भी गणना है। मणिक्याला रावलपिंडी के करीब बीस मील दक्षिण पूर्व है। यहाँ का अर्धाण्ड प्रकार का प्राचीन शैली में बना स्तूप पंजाब के सारे स्तूपों में विशाल और सबसे अधिक सुरक्षित स्थिति में खड़ा है। यह सम्भवतः सदी के आसपास बना था पर सतवीं–आठवीं सदी के लगभग इसका जीर्णोद्वार हुआ, जब इसके आधार में स्तम्भ जोड़े गये। कुषाणकालीन स्तूप इसी सिलसिले में मोहन जोदड़ो और दौलतपुर में बनते चले गये थे।[2]

प्रतिमाशास्त्र की दृष्टि से गान्धार कला की विशेषतायें थी :–

1. इस शैली की समस्त मूर्तियां बौद्ध केन्द्रों से उपलब्ध हुई है।
2. इनमें से प्राप्त समस्त मूर्तियां बौद्ध प्रतीकों के साथ भारतीय है।
3. गान्धार कला में बुद्ध जीवन की घटनाओं के शिलापट्ट अधिक है। शाक्य मुनि, गौतम, प्रव्रजित बुद्ध आदि के चित्र हैं।
I. जातक कथाओं का अंकन है। प्रमुख विषय बुद्ध का जीवन है।
5. यूनानी देव देवियों की गाथाओं के दृश्य है। इन्हीं के साथ इनमें भारतीय देवता और देवियों की मूर्तियाँ है।
6. इनमें वास्तु सम्बन्धी विदेशी विन्यास है।
7. अलंकरण 3 प्रकार के है– भारतीय, यूनानी व ईरानी
8. यह शैली भरहुत, बोध, गया, सांची की शैली से भिन्न है।

---

[1] स्मिथ – हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट, पृ0 112

[2] वासुदेव शरण – भारतीय कला, पृ0 282

9. प्रमुख उपकरण में पत्थर का प्लास्टर, चूना व मिट्टी है।

10. गान्धार कलाकारों के हाथ, पैर तथा हृदय भारतीय थे परन्तु उनका मस्तिष्क यूनानी था। इससे बुद्ध की प्रतिमाओं पर यूनानी प्रभाव बहुत अधिक है।

11. गान्धार कला यथार्थवादी न होकर पूर्णतः काल्पनिक है।

12. बुद्ध एक सन्यासी की अपेक्षा एक राजा लगते हैं।

13. बुद्ध को सोने के सिंहासन पर बैठे दिखाया गया है।

14. गान्धार शैली में निर्मित बुद्ध की मूर्तियों का दाहिना कन्धा नग्न है।

15. बुद्ध की दाढ़ी मूंछे भी दिखलायी गई है।

16. अंग प्रत्यंग, मांसपेशियों के साथ मूंछों की सूक्ष्मता की ओर भी ध्यान दिया गया है।

17. प्रतिमायें स्लेटी पत्थर की बनायी गयी है।

18. इस शैली में सुन्दर नक्काशी अलंकरण तथा प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। बाह्य भाव अंगिभाओं के चित्रण में इस शैली को विशेष सफलता मिलती है।

19. मोटे वस्त्रों को दिखाते समय वस्त्रों की सिलवटें, सूक्ष्मता से दिखायी गयी है तथा केश सज्जा भी यूनानी शैली की है।

20. गान्धार कला की मूर्तियों में विषयानुकूलता का अभाव है।

21. इन मूर्तियों में धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी विशेष ध्यान नहीं है।

22. गान्धार शैली के अन्तर्गत नारी प्रतिमाओं का बहुत कम निर्माण हुआ है, जिस कारण लगता है कि प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में नारियों को कोई विशेष स्थान प्राप्त न था।

गान्धार शैली मौलिक थी। दृश्यों के उकेरने में मानवीय भावों को प्रधानता दी गई। दृश्यों में उत्कीर्ण स्त्री पुरूष भावना शून्य नहीं है किन्तु मानवीय व्यवहार की सजीव प्रतिमूर्तियाँ है।

कन्थक को विदा करने वाले दृश्य में बुद्ध का यह आत्मीय पशु विचित्र विह्वल मुद्रा में उन्हें प्रणाम करता हुआ दिखलाया गया है।

चित्र - 79

तपस्या करते हुए बुद्ध की कंकाल मूर्ति भी शारीरिक शास्त्र से तथ्यात्मक व तपस्या की के आदर्श को चरितार्थ करती है। (चित्र - 79)

ध्यान मुद्रा और पद्मासन में बैठी बुद्ध की मूर्ति गान्धार कला की विशिष्ट उदाहरण है।

धर्मोपदेश देते हुए बुद्ध की मूर्ति में बुद्ध के एक कन्धे पर वस्त्र है, मुख पर हंसने के भाव है।

बुद्ध कश्यप को नागराज के समर्पण वाली मूर्ति गान्धार कला की स्वाभाविकता का अनूठा उदाहरण है।[1]

गान्धार शैली के अन्तर्गत बुद्ध की मूर्तियों को इतना सुन्दर बनाने का प्रयास किया गया था कि वे यूनानियों के सौन्दर्य देवता "अपोलो" की भाँति लगता है। गान्धार शिल्पियों ने यूनानी रोमन संसार के देवताओं को अपना आदर्श माना। कभी–कभी उनकी प्रेरणा पूर्णतया पश्चिमी प्रतीत होती है।[2]

अत्यधिक सुन्दर मूर्तियों के निर्माण के कारण एक समय ऐसा था जबकि गान्धार मूर्तिकला को भारतीय कलाओं में श्रेष्ठतम् और अन्य सभी मूर्ति कला की जननी माना जाता था।[3]

बुद्ध की जीवन लीला और जातक कथाओं का अंकन में गान्धार के शिल्पियों में ईरानी और यूनानी अनेक अलंकरण स्वीकार किये। जांडियाल के अग्नि मन्दिर में यह स्पष्ट रूप से झलकता है। इसके अतिरिक्त भी अनेक देवी देवताओं की मिट्टी की मूर्तियाँ और पशु पक्षियों की मूर्तियाँ है, जिसे भारत में कुबेर कहते थे। वही देवता गान्धार में पञ्जिक नाम से जाने जाते थे। इनकी मूर्तियों को आभूषण पहने ललितासन में दिखाया गया है।[4]

---

1 पेशावर संग्रहालय में सुरक्षित सं0 1373

2 ए0एल0 बाशम – द वण्डर दैट वाज इन इण्डिया, पृ0 112

3 एम0ए0 कादरी – प्राचीन भारतीय कलायें, पृ0 219

4 वी0एस0 अग्रवाल – भारतीय कला, पृ0 288

गान्धार शैली के अलंकरणों में स्थान–स्थान पर पद्‌म और गौमूत्रिका विद्यमान है।

कुछ नर नारियों के काफी सुन्दर सिर मिले हैं। शुद्ध भारतीय कला के रूपों में अशोक दोहन दृश्य है जिसमें बाग पट्‌ट से अशोक पर प्रहार करती हुई स्त्रियों के सिर पर शुक्लांशुक अट्‌टाल नामक वेशभूषा है।[1]

शाल भंजिका मुद्रा में खड़ी वृक्षिका स्त्रियों का भी अंकन किया गया है। यूनानी कला के नग्न मालाधारी पुरूषों का भी सफल अंकन किया गया है। किंकर पुरूषों की मूर्तियाँ है जो बोझा उठाये हुए हैं।[2]

एक अन्य मूर्ति जिसमें आधा शरीर मच्छ और आधा किन्नर है, बड़ी ही सुन्दर है। ऐसी ही एक मूर्ति है जिसमें आधा शरीर मानव का व आधा तुरग जैसा है।

रोमा देवता व देवी की मूर्तियां भी मिली है।

गान्धार कला में गचकारी के मस्तक और बुद्ध की और बोधिसत्वों की बहुत अच्छी मूर्तियाँ है, उनमें से कुछ को बुद्ध कला की सर्वोत्तम मूर्तियाँ कहा जा सकता है।[3]

उत्तर पश्चिम भारत में तक्षशिला से लेकर मध्य एशिया तक कितनी ही सोने चांदी की तस्तरियां मिली है, उन पर आपान गोष्ठी, नृत्य–गीत, वाद्य–संगीत, खान–पान और विलास लीलाओं के अनेक चित्र है। इनकी कला में सासानी, यूनानी और रोमदेशीय व भारतीय शैली का प्रभाव पाया जाता है। विशेषता केश, वेशभूषा एवं छरहरी देष्यष्टि के अंकन में गुप्तकला के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। इस शैली का प्रारम्भ कुषाण काल में ही हो गया था। यह लम्सकस स्थान से प्राप्त चांदी की तस्तरी पर बनी भारत–लक्ष्मी की मूर्ति से ज्ञात होता है।[4]

---

[1] डा0 पहाड़िया– भारतीय संस्कृति, पृ0 207

[2] लाहौर संग्रहालय में सुरक्षित, सं0 218

[3] जे0पी0एच0 वोगल – बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया सीलोन एण्ड जावा, पृ0 93

[4] वासुदेव शरण – भारतीय कला, पृ0 290

गान्धार शैली के भारतीय आधार की कुछ मुख्य बातें ये हैं–

1. प्रायः सभी मूर्तियों के साथ पांव की उंगलियों की गढव में ग्रीक कला की वास्तविकता ने होकर भारतीय भावपूर्ण लोच और बंकता है।
2. आंखों का भी यही हाल है उनमें कयक्ष रहता है तथा उसकी पलक अड़ील और भौंह के नीचे से शुरू होकर आँख की ओर प्रलंबित रहती है। यह विशेषता सर्वथा भारतीय है। ग्रीक आँख बड़ी तो होती है किन्तु उसमें कटाक्ष का अभाव रहता है तथा उसकी पलक छोटी तथा भौंह में धसी सी होती है।
3. वृक्षिकाओं की क्षीण कटि एवं अतिरिक्त पृथुल नितंब, बाहु, कटि तथा आजानु पैर की भंगिमा, उनके वस्त्र की सिलावट तथा उनकी सम्पूर्ण मुद्रा सर्वथा भारतीय है।
4. अलंकरण में जगह–जगह भारतीय पद्‌म तथा गोमूत्रिका विद्यमान है।
5. वत्तेदार हाजन के आतु की अनुकृति उसी रूप में मिलती है जैसी अशोकीय और शुंगकालीन गुफाओं में। इसी भाँति
6. जातक दृश्यों का संयोजन भारतीय है और सांची से मिलता जुलता है।

<u>गान्धार शैली का महत्व</u> :–

इस शैली का प्रमुख महत्व यह है कि जहाँ वह भारतीय प्रतिमा विज्ञान पर समकालीन विदेशी कला का प्रभाव प्रदर्शित करती है, वहां दूसरी ओर वह भारतीय धर्म के प्रभाव को भी अंकित करती है। गान्धार और मथुरा दोनों शैलियों में उत्तर–पश्चिमी भारत के जीवन के प्रत्येक पक्ष का सुस्पष्ट चित्रण मिलता है, जैसे दृश्य, नगर, घट के अन्तराल, पीथियां, खेत, वृक्ष, पशु आदि सभी वस्तुएं फर्नीचर, गाड़ियाँ, अस्त्र–शस्त्र, औजार आदि।

गान्धार कला की बुद्ध मूर्ति में भारतीय परम्परा के समस्त चिन्ह विद्यमान है, पर वह ग्रीक रोम के देवताओं के अधिक अनुरूप जान पड़ती है, भारतीय शैली से उसका मेल नहीं मिलता है।

भारतीय कला के क्षेत्र में गान्धार शैली को स्थायी स्थान नहीं मिला है। इस शैली की कृतियां भरहुत और सांची अथवा गुप्त और पल्लव कलाकृतियों के समक्ष हीन जान पड़ती है। गान्धार कला भारतीय संस्कृति का विदेशी चोले में पश्चिमी रूप है। डा0 क्रेमरीरा के अनुसार– ''गान्धार का अपना स्वतंत्र स्थान है। हेलेनिस्टिक दृष्टि बिन्दु से यह भारतीय और औपनिवेशीय और भारतीय दृष्टि बिन्दु से यह हेलेनिस्टिक और औपनिवेशीय है।''

बहुसंख्यक निर्माण, देशगत विस्तार, देशकाल में विस्तृत व्याप्ति या व्यापकता, सस्कृतियों के परस्पर सम्मिलन, शैलियों के समन्वय और मानवीय सहृदयता के कारण गान्धार कला की गणना विश्व की महती कलाओं में होनी चाहिए। एशिया की भूमि पर अनेक गुणों से भरा हुआ यह एक महान पात्र ही बन गया था। यह सौभाग्य की बात थी कि भारत के साथ भी इस कला का घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ। जिस प्रकार गान्धार, कापिशी, बाहीक और कम्बोज ये महाजन पद भारतीय भूगोल के अंग थे, वैसे ही गन्धार कला भी अपनी सब विभिन्नतओं को लिये हुए भारतीय कला का ही अंग है। भारत के उत्तर पथ के उपरने छोर पर इस प्रकार की बहुमुखी कला और संस्कृति का जन्म होना ही चाहिए था। गन्धार कला ने उसकी सफल पूर्ति की। वह भारत की कला लक्ष्मी की पार्श्ववर्तिनी थी जो बुद्ध के महान चरित्र व जीवन की प्रेरणा लेकर आगे बढ़ी, जैसे स्वयं मध्य प्रदेश की कला भी थी।[1]

गान्धार प्रदेश की सांस्कृतिक आत्मा बौद्ध धर्म में बद्धभूल थी। इस धर्म के सिक्के को लेकर वह मध्य एशिया और चीन तक अपने प्रभावों के साथ फैल गई, जैसा चीन की पश्चिमी सीमा तुडः हवांडः नामक स्थान में सहस्त्र बुद्ध गुफाओं की मूर्तियों और चित्रों से विदित होता है। उस समय सहस्त्रों चीनी और तुर्किस्तान के भिक्षु और गृहस्थ गन्धार और भारत देश की यात्रा के लिये आते थे और यहाँ के बौद्ध धर्म से स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर स्वदेश लौटाते थे। इस प्रकार सांस्कृतिक आदान–प्रदान के सूत्र बुने जाते थे।[2]

---

[1] ए0के0 कुमार स्वामी– एम्स ऑफ इण्डियन आर्ट, पृ0 81

[2] सर जॉन मार्शल– गान्धार आर्ट, पृ0 107

<u>कुषाण काल की मुद्रायें</u> :–

कुषाण काल के सिक्के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। कनिष्क प्रथम, हविष्क तथा वासिष्क ने सोने तथा तांबे के सिक्के चलाये। उन्होंने चांदी के सिक्के नहीं चलाये। मालव, योधेय, अर्जुनायन, ओदुम्बर, वृणिन्द आदि स्वायत्त जातियों में चांदी और तांबे के सिक्के चलाये। सोने के रोमन सिक्के भी प्राप्त हुए हैं जो रोम को भारतीय माल खरीदने के कारण भेजने पड़े। (चित्र- 80)

कुषाण सिक्कों का एक रूचिकर लक्षण यह है कि कुषाण साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के देवी देवताओं को कुषाण सिक्कों पर अंकित किया गया। धार्मिक मामलों में कुषाण राजाओं के विचार सार्वभौतिक थे। यह उल्लेखनीय है कि ईरान, बेक्ट्रिया और निकटवर्ती प्रदेशों के देवताओं के चित्र कुषाण सिक्कों पर अंकित किये गये थे। (चित्र- 81)

कुषाण शासकों के सिक्कों पर विभिन्न देवताओं के नाम इस प्रकार है :–
ऐलियस, सेलीन, अलिग्नो, मेण्डोहयनो, बोड्डो, शक–मन–बौद्ध, मोयरो, भाओ, मनाजो बागो, अर्दोणो, मिश्री राउण्ड, जोरो होरान मजासेन, स्कन्दी कुमारी बिजागो, अम्मो आदि। शिव का चित्र वैहपिसिज़ द्वितीय के सिक्कों पर दिखाई देता है और हेरेकल्ज का चित्र केडकिसिज प्रथम के सिक्कों पर दिखाई देता है। (चित्र - 82)

कुषाण सिक्कों को ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के आदर्शो से प्रेरणा मिली। कुषाण सिक्कों पर बहुत से देवता भी है, जैसे– वृत्रहण, मिहिर, चन्द्रमस, भवेश, यम, वरूण, महसेन, स्कन्द कुमार, बिशाखा, उमा, बात अप्रात, नयात मित्र ऐरवीर आदि। (चित्र - 83)

कुषाणों ने सिक्के बनाने की कला में बहुत कुछ नया किया। प्राचीन काल में भारत में आहत मुद्राओं का प्रयोग होता था, उन पर कोई मुद्रालेख नहीं होता था। कुषाणों ने ही ऐसे सिक्कों का प्रयोग शुरू किया जिन पर एक ओर राजा की आकृति और दूसरी ओर किसी देवता की मूर्ति या कुछ

चित्र- 80

चित्र- 81

चित्र - 82

चित्र- 83

चित्र - 84

अन्य चिन्ह बनाये जाते थे। (चित्र- 84)

कला की दृष्टि से कुषाण काल की मुद्रायें बहुत सुन्दर है। इनमें ज्यादातर ग्रीक लिपि का प्रयोग किया गया है।

अध्याय-७
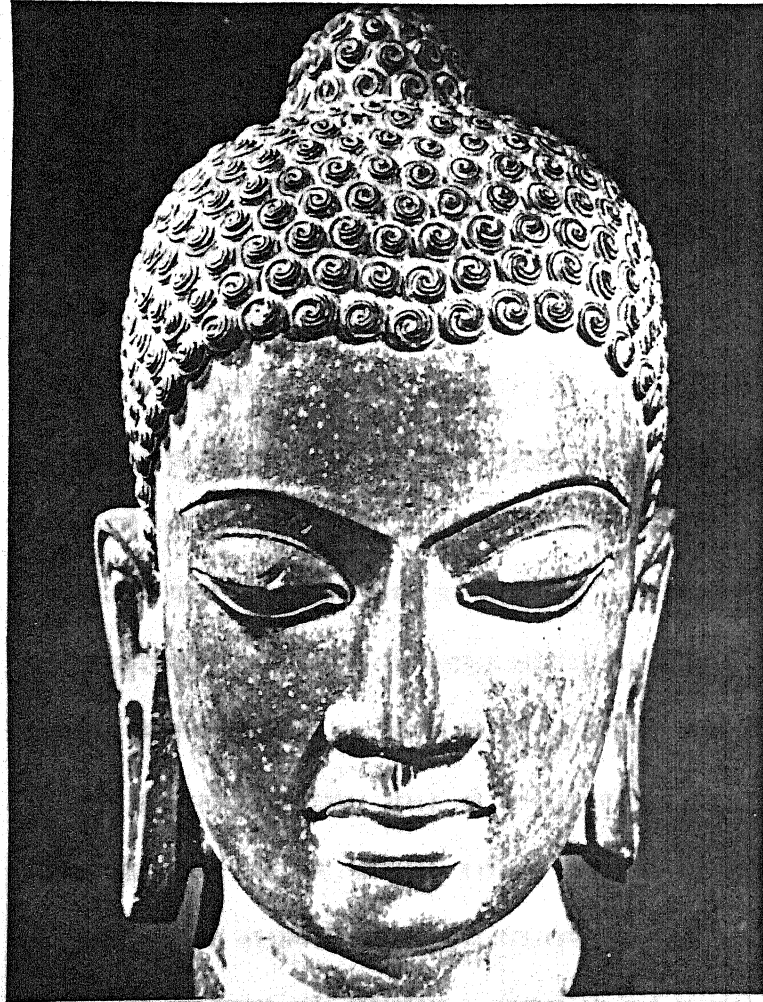
गुप्त काल

गुप्त काल की कला (300 ई0-600 ई0)

गुप्तों के साम्राज्य की बीज मगध की भूमि में बोया गया और तीन पीढ़ियों में ही वह बढ़कर अश्वत्थ बन गया। श्रीगुप्त नामक स्थानीय राजा और उसका पुत्र घटोत्कच गुप्त महाराज विरुद से ऊपर नहीं उठ सके पर उन्होंने प्रायः 275 ई0 में गुप्त साम्राज्य की नींव डाल दी और तीसरे राजा चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने अपना विरुद महाराजाधिराज धारण कर अपना राज्य मगध से गंगा की घाटी में प्रयाग और साकेत (अयोध्या) तक बढ़ा लिया। उसने गुप्त संवत् का 319-20 में आरम्भ किया। लिच्छवियों के गणराज्य से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसने अपनी शक्ति मजबूत कर ली और उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने दिग्विजय के दौरान दक्षिण भारत के भी अनेक भागों पर अधिकार कर, आर्यावर्त के राज्यों को रौंद, पंजाब और मध्य प्रदेश के गणराज्यों को कुचल डाला और उसका दबदबा पश्चिमोत्तर के शक मुरुंडों, पूरब में ढाका कामरूप तक बढ़ा और लंका आदि द्वीपों तक के राजा उससे मैत्री का दम भरने और उसे कर, भेंट आदि भेजने लगे। उसने अश्वमेघों की परम्परा फिर से चलायी और प्रयाग के अशोकीय स्तम्भ पर उसके शांति संदेश के नीचे ही अपनी खूनी विजयों का विवरण खुदवाया।[1] उसके यशस्वी पुत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य ने गुजरात सौराष्ट्र से शकों को निकाल, बंगाल में शत्रुओं का संघ तोड़ पंजाब पर पूरा अधिकार किया और दिल्ली के समीप मेहरौली में अपना लौह स्तम्भ खड़ा किया। मालवा की उज्जयिनी में उसने अपनी दूसरी राजधानी स्थापित कर संस्कृत के मूर्धन्य कवि और नाटककार कालिदास को अपना शालीन संरक्षण दिया। कुमार गुप्त महेन्द्रादित्य ने फिर अश्वमेघ किया पर उसकी कुललक्ष्मी शुत्रओं की चोटों से विचलित हो चुकी और यद्यपि उसके पुत्र स्कन्द गुप्त विक्रमादित्य ने साम्राज्य की चूलें सम्हालने की हजार कोशिश की पर मध्य एशिया और यूरोप पर आंधी के वेग से चल रोम साम्राज्य को उखाड़ फेंकने वाले हूणों ने उन्हें जड़ से हिला दिया और गुप्त साम्राज्य के प्रान्त बिखर गये। पीछे गुप्तराज ने मालवा के राजा यशोधर्मन

---

[1] भगवतशरण उपाध्याय – भारतीय कला की भूमिका, पृ0 94

से मिलकर हूणराज मिहिरगुल को परास्त किया ओर हूणों को कश्मीर की ओर भगा दिया। गुप्त साम्राज्य अब तक खंड खंड हो चुका था और शीघ्र ही उसके घेरे में दो कुल मगध और मालवा में राज करने लगे। मालवा के राजा "उत्तरकालीन गुप्तों" की संज्ञा से विभूषित हुए। दक्षिण भारत नाम मात्र को गुप्तों के साम्राज्य में आया था और शीघ्र ही वहाँ आंध्र सातवाहनों के बाद पल्लवों और चालुक्यों के स्वतंत्र राज्य कायम हुए। पुलकेशिन् द्वितीय ने तो उत्तरापथ के सम्राट हर्षवर्धन को परास्त कर दक्षिणापथ में अपना साम्राज्य भी स्थापित किया। फिर तो पल्लवों ने अपने विशाल मंदिर खड़े किए और चालुक्यों ने अजन्ता की गुहाओं में अपने चित्रों की परम्परा लिख दी।

गुप्त सम्राटों के शासनकाल में संस्कृत भाषा का विशेष पुनरूद्धार हुआ और विदेशी शासकों के अभिलेख, जो विकृत संस्कृत प्राकृत में लिखे जाने लगे। आन्ध्र ब्राह्मणों के शुद्ध प्राकृत में, वे गुप्ताकल में शालीन संस्कृत में, काव्यरूपी भाषा में लिखे जाने लगे। मन्दसौर और सैदपुर भीतरी के अभिलेखों कालीदास कालीन भारतीय जगत में गेय काव्य बनकर उद्‌गीरित होने लगे। संस्कृत भाषा, राजभाषा के पद पर आरूढ़ हुयी। रामायण, क्षत्रिय राजाओं के गुणों का आदर्श प्रस्तुत करने वाले काव्य विशेष मान्य हुआ। और महाभारत, जय और भारत की मंजिलें भारत। अब अपने एक लाख श्लोकों की परिधि में अब शत साहसी–संहिता नाम से अपने अन्तिम आज के रूप में, समाहत हुआ। रामायण–महाभारत की कथायें मंदिरों के बहिरंग पर अर्धचित्रों में उकेरी उभारी जाने लगी। पुराणों के अन्तिम संस्करण सम्पन्न हुए, अनेक नये प्रस्तुत हुए। मूर्तियों के लक्षण प्रस्तुत करने वाला कला का मान्य ग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तर गुप्त काल में ही लिखा गया और वास्तु तथा मूर्तन के अनेक शास्त्र इसी काल रचे गये। कुछ ही पहले सौन्दर्य शास्त्र सम्बन्धी वात्सायन के कामसूत्रों की रचना हो चुकी थी। जिनकी आत्मा साहित्य और कला दोनों की काया में बैठी। साहित्य और कला दोनों रससिक्त हुए।[1]

---

[1] भ0श0 उपाध्याय – गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 174

गुप्तों के साम्राज्य में जो कला को एक नयी, राष्ट्रीय दिशा मिली, सार्वभौमिक समृद्धि मिली, जिसका विशेष कारण था, उनकी असाधारण सहिष्णुता। बौद्ध धर्म का प्रसार और उन्नयन करने वाले अशोक कनिष्क और हर्ष ने गुप्तों के पहले और पीछे सद्धर्म की महिमा में उद्योग करते हुए जब तब ब्राह्मण धर्म के प्रति, प्रकट अथवा परोक्ष, विरूद्ध आचरण किये पर गुप्त सम्राटों ने धर्मो के प्रति अद्‌भुत शालीनता का परिचय दिया, स्वयं वे "परम वैष्णव", "परम भागवत जब तब शैव धर्मावलम्बी भी थे, परन्तु बौद्ध धर्म व जैन धर्म के अनन्त अभिराम कलागत प्रयत्न उनके ही शासन में हुए और अनेक विभूतियाँ कला के क्षेत्र में उन्हीं के काल में कोरी निखारी गयी। कनिष्क के समय बोद्ध अर्हतवाद को अधिकतर अमान्य कर वैष्णव प्रभाव से प्रेरित महायान की विशेष प्रतिष्ठा और प्रसार इसी काल में हुआ। फाह्यान का प्रमाण है कि यद्यपि कुछ भारतीय विद्वान निष्क्रिय हो गये थे।[1] अनेक नये संघाराम स्थापित हो गये थे, और बौद्ध भिक्षुओं और उपासकों की संख्या कुछ कम न थी। महत्व की बात है कि बौद्धों का विश्वविश्रुत विद्यालय, जहाँ ह्वेन सांग और ईत्सिग जैसे चीनी यात्रियों ने अपना ज्ञानवर्धन किया था। नालन्दा में गुप्तों के ही प्रयत्न से स्थापित हुआ था। इस सहिष्णुता का यह परिणाम हुआ कि अनेक स्तूप गुहा–चैत्य, वन विहार, मंदिर, राजप्रसाद, विदेशी–देशी मूर्तनों और चित्रणों के रूपायित आदर्श गुप्त काल के सांचों में ढले।[2]

गुप्त साम्राज्य का युग भारतीय इतिहास में असाधारण है। यश और समृद्धि, शक्ति और पराक्रम, ज्ञान और व्यवसाय, सब प्रकार से यह काल असाधारण है। विद्वानों ने इसकी तुलना उचित ही ग्रीस पेखिलीज के रोम में ओगुस्वस के और इंग्लैण्ड के एलिजाबेथ के काल से की है। गुप्त युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहलाता है। इसका यह नाम सार्थक ही है। इस काल में कला और साहित्य ने जिस चोटी का स्पर्श किया वह दूसरे युग में नहीं किया जा सका। सुरूचि और सूक्ष्मता काल के साहित्य और कला के प्राण बन गयी। कालिदास ने तभी अपनी साहित्यिक विभूतियों से भारती विभूषित की। गुप्तकाल का कलाकार भी अपनी परम्परा में मूर्धाभिषित हुआ। साहित्य की ही भांति भारतीय कला की भी चरम परिणित हुयी। भारतीय कला का वह एश्वर्य गुप्त सम्राटों की संरक्षा

---

[1] ए0के0 कुमारस्वामी, वी0ए0स्मिथ– हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ038

[2] ई0वी0 हैवेल– ए हैण्डबुक आफ इण्डियन आर्ट, पृ0 74–75

में, फला देश–देशातंरों में वितरित हुआ।[1]

गुप्तकाल में भारत में कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। मूर्तिकला, भवन–निर्माण कला, चित्रकला और टैराकोटा में इतनी प्रगति की जितनी उसके बाद कभी देखने में नहीं आई। कुछ अत्यन्त सुन्दर स्मारक गुप्तकाल की देन है। इस युग में मथुरा, बनारस और पटना कला केन्द्र थे।[2]

गुप्तकला में कई विशेष लक्षण हैं। इस कला में परिष्कृत और संयम का मेल दृष्टिगोचर होता है। गुप्तकलाकारों ने मात्रा की अपेक्षा लावण्य पर अधिक बल दिया। उनकी कला में अभिव्यक्ति की सरलता और अध्यात्मिक उद्देश्य स्पष्ट दिखाई देते हैं। रूढ़ियों से स्वतन्त्रता तथा सन्तुलन उसकी विशेषता है, वस्त्रों, आभूषणों तथा अन्य सजावटी वस्तुओं के प्रयोग में गम्भीरता दिखाई देती है। उसमें स्वाभाविकता है।

गुप्तकला "रूपम" या सौन्दर्य की कल्पना के लिये प्रसिद्ध है। गुप्त कलाकारों ने सुन्दर आकृति की भिन्न–भिन्न आकारों में उपासना की, आध्यात्मिक आनन्द और श्रेष्ठता के नये विचार उत्पन्न करने के लिये उन्होंने कला की उपासना की।[3]

गुप्त कला में व्याप्त धार्मिक और अध्यात्मिक संवेदना है। अजन्ता की गुफाओं में देवताओं, ऋषियों, राजाओं, रानियों और उनके अनुचरों के चित्रों से अच्छाई और बुराई का पता चलता है।

गुप्त कला से शैली की सरलता और अभिव्यक्ति की सुगमता का पता चलता है।

---

[1] हॉल– दि एन्शिएन्ट हिस्ट्री ऑफ द फार ईस्ट– 342

[2] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 509

[3] राधाकुमुद मुकर्जी– प्राचीन भारत, पृ0–214

- महान विचारों को प्राकृतिक और सरल ढंग से स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया। बाह्य आकार और आन्तरिक अर्थ को उसी प्रकार मिला दिया गया जैसे शरीर और आत्मा मिले हुए हैं।[1]

विद्वानों के विचार में गुप्तकला प्राचीन भारतीय कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है इसे केवल भारत में ही विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं हुआ बृहतर भारत में भी इसे ले जाया गया। इसमें भारत में तथा विदेशों में आश्चयपूर्ण सफलतायें प्राप्त की विशेषकर गुफाओं की दीवारों पर चित्रण कला को मध्य एशिया और चीन में पहुंचाया गया।[2]

देश की अपार धनराशि के फलस्वरूप कला और वास्तु का अद्‌भुत विकास हुआ। गुप्तकाल में जा धर्म और बौद्धिक पुर्नजागरण के लिये प्रसिद्ध है ललितकला की तीनों शाखाओं– (अ) वास्तुकला (ब) मूर्तिकला (स) चित्रकला का भी अद्‌भुत रूप से विकास हुआ।[3]

यद्यपि गुप्तों की राजनीतिक सत्ता लगभग 500 ई0 में समाप्त हो गई तथापि संस्कृति विशेषतः कला का स्वरूप उसके बाद भी अक्षुण्य बना रहा और वह एक शताब्दी अथवा उससे कुछ अधिक काल तक चलता रहा। इस प्रकार 500–600 अथवा 650 ई0 के बीच की अवधि का युग गुप्तकाल माना जा सकता है।[4]

वास्तु कला :–

गुप्तकालीन वास्तुकला में प्राचीन परम्परा अक्षुण्य है उसके साथ ही उसमें नवयुग

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल– गुप्तकालीन कला, पृ0 81

[2]

[3] द्विजेन्द्र नाथ– भारतीय स्थापत्य, पृ0 127

[4] रोमिला थापर– प्राचीन भारत, पृ0 93

के आरम्भ के चिन्ह पाये जाते हैं। सतूप और लयण (पत्थर को काटकर बनाई गई गुफायें) जिनमें चैत्य और विहार दोनों पुराने ढंग के ही बनते रहे किन्तु साथ ही उनमें अनोखी नूतनता भी दिखती है। सारनाथ का धमेक स्तूप जो सम्भवतः छठी शताब्दी का है गोल पत्थर का बना ढोलनुमा है, जिसके ऊपर गोलाई में ईट की चिनाई है। वह 128 फीट ऊँचा है। वह स्तूप वास्तु के विकास के चरम रूप का द्योतक है। गुफाओं– विशेषतः अजन्ता की 16 वीं, 17वीं और 19 वीं गुफाओं में, सभी प्राचीन आवश्यक तत्वों के होते हुए भी एक नूतनता है जो उनके भांति भांति के सुन्दर स्तम्भों तथा भीतरी दीवारों और निचले छतों पर बनाये गये चित्रों में प्रकट होती है। लयण बिहार और चैत्यों का एक अन्य समूह एलोरा में है।[1]

चिनाई वाले चैत्य और अर्धवृत्त हिन्दू मन्दिर पुरानी ही परम्परा पर बनते थे, आरम्भिक गुप्तकालीन मन्दिर छोटे–छोटे सपाट छतों वाले होते थे और उनमें कभी चारों ओर खम्भों से युक्त बारादरी होती थी। सांची का छोटा किन्तु भव्य मन्दिर इस काल का एक सुन्दर उदाहरण है। उत्तर भारत में एक नई शैली ने जन्म लिया जिसमें छत के ऊपर शिखर होता है, इस ढंग के मन्दिर उस काल में। पीछे चलकर यह शैली सारे देश में अपनाई गई यद्यपि गुप्तकाल के ये मन्दिर न तो आकार में भव्य है न डिजाइन में सुन्दर तथापि उनसे उत्तर भारत में मन्दिर वास्तु का आरम्भ होता है जिसने सुदूर देशों में भी अपना गहरा प्रभाव स्थापित किया। इस ढंग के मन्दिरों के दो सुन्दर उदाहरण– भीतर गांव के ईटों के बने मन्दिर और देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में प्राप्त होते हैं।[2]

<u>मूर्तिकला</u> :–

मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्तकाल में इस देश की कला की चरम उन्नति हुई। बुद्ध

---

[1] आर0सी0 मजूमदार– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 210

[2] भगवतशरण उपाध्याय– भारतीय कला, पृ0 102

की मूर्तियों में, जो बड़ी संख्या में सारनाथ तथा अन्य स्थानों में पाई जाती हैं, विकास की वह पूर्णता परिलक्षित होती है जो अगले युग में देश और विदेशो में मूर्तियों का आदर्श बन गई। यह कला मथुरा से प्रारम्भ हुई और इसमें यवन या विदेशी प्रभाव है ही नहीं वस्तुतः गुप्तकालीन मूर्तियों की प्रत्येक दृष्टि से पूर्णतः भारतीय एवं आदर्श कहा जा सकता है। एक कला मर्मज्ञ के शब्दों मे "कला विकास के पूर्णतः स्वाभाविक चक्र में गुप्तकला का स्थान सबसे ऊँचाँ है।" सारनाथ की बुद्ध मूर्ति में भव्यता और शान्ति टपकती है। उसमें कला की पूर्णता के साथ–साथ सर्वोच्च आध्यात्मिक भावना की अभिव्यक्ति हुई है। फलतः वह अपने ढंग का सर्वोच्च नमूना है। कला के ये उच्चगुण देवगढ़ मन्दिर में कोरी गयी शिव, विष्णु आदि देवताओं की भी मूर्तियां में परिलक्षित होते हैं। देवत्व के पूर्ण स्वरूप का विकास गुप्तकालीन मूर्तिकला का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है। देवताओं की ये मूर्तियां आकृति में न केवल सुन्दर, आकर्षक और भव्य है वरन् उनमें आध्यात्मक अभिव्यक्ति भी प्रभासित होती है। उस काल की मानवीय एवं दैवी प्रायः सभी मूर्तियों में ये विशेषताएं थोड़ी बहुत अवश्य पाई जाती हैं।

मानव शरीर का सौन्दर्य व आकर्षण मृण्मूर्तियां (पार्थिव) एवं अलंकरण में भी पाया जाता है जो सुगढ़ और ओजपूर्ण है। गहरी कुराई के बेलबूटों में फूलपत्तियों के बीच बौना और पशुओं की आकृतियों का अंकन अपनी स्वाभाविकता और सुन्दर गठन की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय है। (चित्र-85)

गुप्तकाल का मूर्तिकला के कारण ही सम्मान मिला। कुशल कलाकार की छेनी में पत्थर को स्थाई सौन्दर्य और लालित्य प्रदान किया। गुप्त मूर्तिकला की सफलता कुषाण मूर्तियों की कामुकता और प्रारम्भिक मध्ययुगीन कला की प्रतीकात्मक कल्पना के सम्मिश्रण में हैं।[1]

नग्नता गुप्तकला से पूर्णतः लुप्त हो गई थी। शारीरिक आकर्षण को छिपाने के लिये गुप्त कलाकार में वस्त्रों का प्रयोग किया। गुप्तकाल की बुद्ध मूर्तियों में यह स्पष्ट दिखाई देता है।

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल– गुप्ता आर्ट, पृ0 32
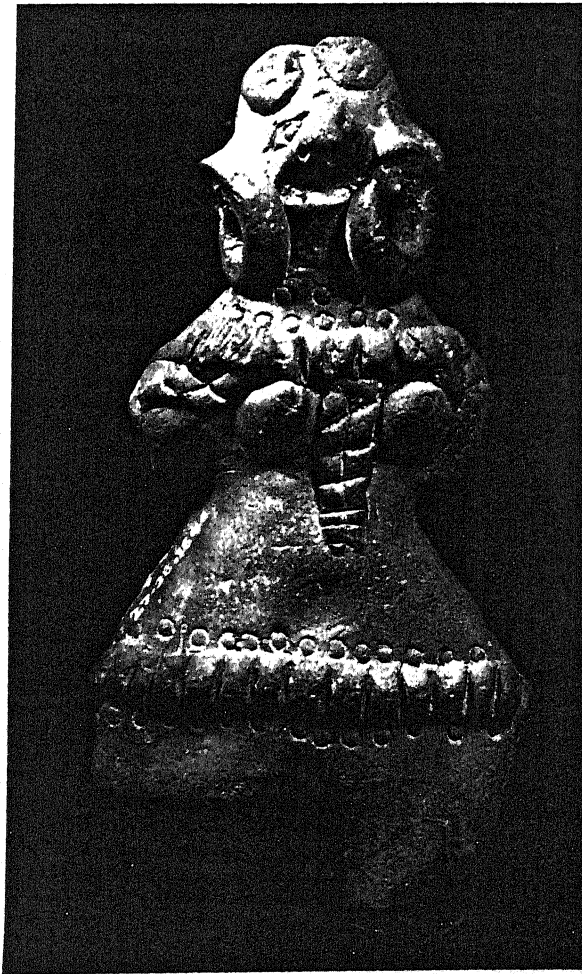
← चित्र-85
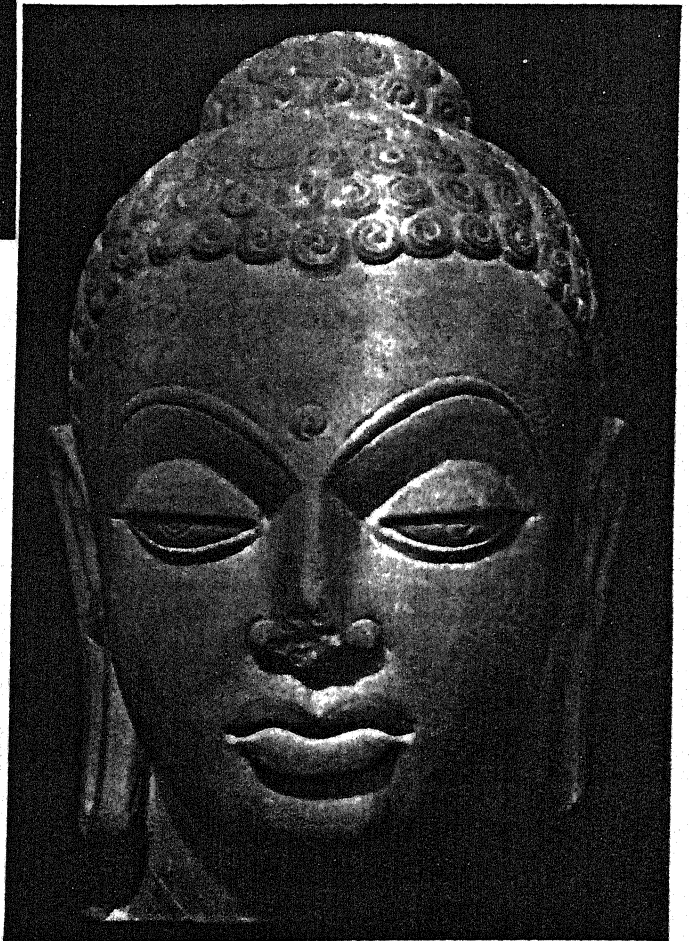
चित्र-86 →

सारनाथ में बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति, मथुरा अजायबघर में खड़े हुए बुद्ध की मूर्ति और सुल्तानगंज में बुद्ध की तांबे की मूर्ति इस कला के नमूने हैं। उनमें केवल बुद्ध की मुस्कान ही नहीं उनकी शान्त चिन्तन मुद्रा भी दिखाई देती है। गुप्तकाल की बुद्ध मूर्तियों के सुन्दर घुंघराले बाल हैं। बुद्ध मूर्ति के दीप्तिचक्र में विभिन्न प्रकार के ललित अलंकार प्रयोग किये गये। गुप्त कलाकारों ने पादर्शक वस्त्र प्रयोग किये। उनमें कला की नवीनता एवं संजीवता दिखाई देती है।[1] (चित्र- 06)

अत्यनत सुन्दर शिव की मूर्तियों में से कुछ गुप्तकाल में बनायी गई थी। यह सत्य है कि लिंग के रूप में शिव पूजा कुषाण युग में भी होती थी। लेकिन एकमुखी और चतुर्मुखी शिवलिंग तो गुप्त कलाकारों की ही देन है। गुप्त कलाकारों ने ही शिव के अर्धनारीश्वर रूप की रचना की।[2]

धातुकर्म :-

गुप्तकालीन कलाकार एवं कारीगर धातु के कार्य में भी उतने ही दक्ष थे। दिल्ली में कुतुबमीनार के निकट खड़ा सुप्रसिद्ध लौह स्तम्भ धातुशास्त्र की चातुरी का आश्चर्यजनक नमूना है। साँची द्वारा ताँबे की मूर्तियाँ भी बड़े पैमाने पर ढ़ाली जाती थीं और यह कार्य बड़ी कुशलता और दक्षता के साथ किया जाता था। छठीं शताब्दी के अन्त में बुद्ध की 80 फुट ऊँची ताम्रमूर्ति नालन्दा (बिहार) में खड़ी की गई थी। 7 फुट ऊँची बुद्ध की एक और बहुत सुन्दर ताम्रमूर्ति सुल्तानगंज में मिली थी जो आज वरमिंघम संग्रहालय में प्रदर्शित है।[1]

संक्षेप में ताल, गति और सौन्दर्य की उच्चभावना से परिपूर्ण उच्च आदर्श ही गुप्तकालीन मूर्तियों की विशेषता है। उनकी कला और रचना में ओज और सुरूचि टपकती है।

---

1 ई0बी0 हैवेल- इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंगस, पृ0 103

2 बी0डी0 महाजन- प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 507

3 प्राचीन भारत- राधाकुमुद मुकर्जी, पृ0 190

गुप्तकालीन कला में बौद्धिकला की प्रधानता है जिसके कारण उच्च विकसित भावना और अत्यधिक अलंकरण को नियन्त्रित रख सकने में वह समर्थ हो सकी है। परवर्ती काल में यह बाँध एकदम टूट गया।

गुप्तकाल भारतीय कला का स्वर्णयुग था तब शिल्पी ने अपनी पूर्ववर्ती कला परम्पराओं को नवीन परिवेश में ढाला और उसे एक विशुद्ध भारतीय और एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। भारत के अन्य प्रान्तों की तरह मध्यप्रदेश में भी एक एकमुखी, चतुर्मुखी, अष्टमुखी शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। इन दिनों मध्यप्रदेश में विदिशा, मंदसौर, नचना, भूमरा, खोह आदि कला केन्द्र के रूप में विकसित हो रहे थे। यहां मुखलिंगी के अलावा शिव के अन्य रूप जैसे कि अर्धनारीश्वर, उमा सहित शिव, उध्वरेत शिव, लकुलीश आदि का तक्षण किया गया है। इस समय तक शिव प्रतिमा विज्ञान कतिपय सिद्धान्तों पर आधारित होकर एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर रहा था। निरन्तर प्रयोगों का काल था और नवीन परम्पराओं का सूत्रपात हो रहा था।

बेसनगर से प्राप्त और गूजरी महल संग्रहालय ग्वालियर में संरक्षित चौथी शती का एकमुखी शिवलिंग गुप्तकला के मापदण्डों पर आधारित है। उदयगिरि की गुफायें भी शिव को समर्पित है, जिसमें एकमुखी शिवलिंग स्थापित है। लगभग 5 वीं शती में निर्मित मंदसौर की दण्डधारी शिव की आदमकद प्रतिभा गुप्तकला का श्रेष्ठतम उदाहरण है। यही शिव मंदिर के तोरण द्वार का भाग भी है जिस पर उत्कीर्ण शिवगण प्रतिमाएं गुप्त कला के मापदण्डों की अभिव्यक्ति करती है। अघोरिया से प्राप्त और इन्दौर संग्रहालय से संरक्षित हरिहर की प्रतिमा भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है यद्यपि यह प्रतिमा शिव और विष्णु के सम्मिलित रूप से प्रदर्शित करती है फिर भी इसका तक्षण रहे रंग के पाषाण में किया गया है जो इसकी विशेषता है। प्रतिमा में शिव एवं विष्णु के वाहन ही अविष्ट है परन्तु इनमें मांसल सौन्दर्य, कुंतलितकेशराशि अण्डाकार मुख आदि लक्षण दृष्टव्य है। मध्यप्रदेश के अन्य स्थलों से भी मुखलिंग मिले हैं इनमें एकमुखी, चतुर्मुखी एवं अष्टमुखी शिवलिंग महत्वपूर्ण है। महाकोशल और दक्षिण कौशल के क्षेत्र में शहडोल, दहीचटोला

(सतना) मण्डला मल्हार (विलासपुर) से भी एकमुखी शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। खोह से प्राप्त और इलाहाबाद के राष्ट्रीय संग्रहालय में प्रदर्शित एकमुखी शिवलिंग कला की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।[1] (चित्र- 87)

इसमें शिवलिंग पर मुख उत्कीर्ण है। जिसमें जटाओं का आलेखन अत्यन्त परिष्कृत है और उसके मध्य में अर्धचन्द्र का आलेखन स्पष्ट है। भावाव्यक्ति ही इस मुखलिंग की विशेषता है। नेत्र यद्यपि पूरे खुले हुए हैं। इसके अलावा खोह से दो और एकमुखी लिंग मिले हैं। जिसमें से एक को आर0डी0 बैनर्जी और कुमार स्वामी ने प्रकाशित भी किया है।[2] तीसरा एकमुखी शिवलिंग खोह के समीप अचेहरा से प्राप्त हुआ है जो निश्चित रूप से सर्वाधिक कलात्मक है।[3] (चित्र- 88)

अष्टमुखी शिवलिंगों में मंदसौर का पशुपतिनाथ का अष्टमुखी शिवलिंग गुप्तकाल से निर्मित है जहां शिव के 8 मुखों को उकेरा गया है।[4] शिवलिंग पर चार मुख है और उनके आधार पर चार और मुख बनाये गये है। लिंग पुराण और कर्मपुराण में शिव के आठ नामों का उल्लेख है।[5]

5वीं छठवीं शती में ही शिव के रूपों को उकेरा गया है। नचना, भूमरा से प्राप्त

---

1 एकमुखी शिवलिंग– एन–164 (6"×18") काला, एस0सी0 स्कल्पचर इन दी इलाहाबाद म्युनिसिपल म्यूजियम।

2 बनर्जी, आर0डी0– दी टेम्पल आफ शिव, भूमरा (1924 फलकxवी.सी.) और कुमार स्वामी ए0के0– इण्डियन स्कल्पचर आर्ट न्यूज (न्यूयार्क) दिनांक 27 अप्रेल, 1929

3 वर्तमान में यह शिवलिंग श्रीमती पुलपुल जयकर के संग्रह में है।

4 ऐसा ही एक अष्टमुखी शिवलिंग बर्दवान संग्रहालय (प0 बं0) में सरंक्षित है।

5 लिंग पुराण, पूर्वार्ध, 4 – 35 – 38, 112 – 13, कूर्म पुराण पूर्वार्ध 10–28–30–36

चित्र- 87

चित्र- 88

शिव की प्रतिमायें इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इन कलाकृतियों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता कि नचना, भूमरा, खोह एवं उसके आसपास के क्षेत्र में पांचवी शती के लगभग कलात्मक गतिविधियाँ काफी विकसित थीं और ये क्षेत्र गुप्तकला के मापदण्डों पर प्रतिमाओं के निर्माण के लिये प्रतिष्ठा पा रहे थे। इसमें क्षेत्रियता को पर्याप्त स्थान दिया गया। नचना से प्राप्त शैव प्रतिमाओं में शिवगण महत्वपूर्ण है। भूमरा के शिवमन्दिर में भी शिवगणों का आलेखन किया गया है।[1] संभवतः गुप्त स्थापत्यकला में शिव मन्दिर की बाह्य दीवारों पर शिव गणों का आलेखन काफी लोकप्रिय शैली थी। बौने, स्थूल वृकोदर तथा विभिन्न रोचक एवं हास्यास्पद मुद्राओं में विचित्र भाव भंगिमा के साथ शिव गणों पर पर्याप्त विवरण मिला है।[2] यहां इन्हें मानव क्रीड़ित, बाल क्रीड़ा धर्मवालपत्य एवं शिशु नामों से सम्बोधित किया गया है। भारतीय धर्म के रूद्र शिवगणों के अधिपति माने गये हैं। रूद्र ही विभिन्न कार्यों के लिये स्वयं को अनेक शिव गणों के रूप में परिवर्तित करते हैं। गणों के कार्य एवं व्यवहार विध्वंसकारी हैं। इन्हें प्रभय कहा गया है जो कि ऊर्जा की विध्वंसक इकाई है। परन्तु ये शिव के नृत्य से ही नियन्त्रित होते हैं। अतः इनका आलेखन विभिन्न रोचक मुद्राओं में किया गया है।

नचना कुठरा से प्राप्त शिव के ताण्डव नृतय की मान्धाता शिव प्रतिमा गुप्त कला की महत्वपूर्ण कृति है। इस प्रतिमा में शिव का केवल उर्ध्वभाग ही अविष्ट है। शिव की हस्त मुद्रायें ताल व लय में होकर मुख की भावाभिव्यक्ति के अनुरूप ही है। डा0 वी0एस0 अग्रवाल शिव का ताण्डव नृत्य दर्शानेवाली इस प्रतिमा को भारतीय कला में प्राचीनतम मानते हैं।[3]

---

1 भूमरा मन्दिर के अधिकांश शिवगण वर्तमान में राष्ट्रीय संग्रहालय इलाहाबाद में प्रदर्शित है।

2 स्वप्नवासवदत्ता, कादम्बरी, अवन्तिसुन्दरी और नलचम्पू में शिवगणों के विभिन्न नाम मिलते हैं।

3 अग्रवाल बी0एस0, स्कल्पचर्स फ्राम नचना कुठरा एण्ड खोह स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ0 – 52

चित्र - 89

नचना से ही प्राप्त और हरिहर सिंह गौर सागर विश्वविद्यालय के संग्रहालय में संरक्षित अर्धनारीश्वर शिव की उर्ध्वरेतस प्रतिमा गुप्तकला की विलक्षण कृति है। पर्यक और अर्धपर्यकासन में बैठी इस प्रतिमा में अर्धनारीश्वर का स्तन भग्न है और उर्ध्व लिंग में अण्डकोश काफी स्पष्ट दर्शाये गये हैं। गले में रूद्राक्ष माल और भुजाओं में सर्प बन्ध है। (चित्र- 89)

सतना जिले के भूटेरा से प्राप्त गंगाधर शिव की प्रतिमा भी 5वीं शती की नचना क्षेत्र में विकसित गुप्तकला शैली में निर्मित प्रतिभा है। कैलाश पर्वत पर विश्राम की मुद्रा में बैठे गंगाधर शिव ने जहां एक हाथ में वीणा धारण की है वहीं वे उर्ध्व रेतस भी है। शिव त्रिनेत्र है और मुख पर सौम्य भाव है। रामवन जिला सतना से प्राप्त उमा सहित शिव की प्रतिमा भी नचना की गुप्तकला शैली से निर्मित प्रतिमा है। जो शिव प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से 'उमा सहित शिव" के एक आरम्भिक रूप को स्पष्ट करती है। इस प्रतिमा में भी शिव उमा के साथ कैलाश पर्वत पर बैठे प्रदर्शित है। अंग सौष्ठव में मांसल सौन्दर्य के साथ उतार–चढ़ाव स्वाभाविक है। इस प्रतिमा में भी शिव को उर्ध्व रेतस बतलाया गया है। दक्षिण भारत से भी उमा सहित शिव की एक ऐसी ही स्थानक प्रतिमा मिली है और उसमें भी शिव उर्ध्व रेतस है।

डॉ0 शिवराम मूर्ति ने भी इस प्रतिमा की पहचान उमा सहित शिव से की है।[1]

नचना के शिवमंदिर में गर्भग्रह के द्वारा तोरणों पर उत्कीर्ण शिव द्वारा पालों की प्रतिमायें भी कला दृष्टि से काफी महत्वपर्णू है। गंगा और यमुना नदी देवियों के समीप उत्कीर्ण और द्वार पाल, द्विभुजी है। अका एक हाथ कप्यावलंबित एवं दूसरे हाथ में उन्होने त्रिशूल धारण किया है। इनके जटामुकुट एवं अधोवस्त्र काफी आकर्षक है। देह दृष्टि मांसल होकर गुप्तकालीन मापदण्डों पर आधारित है। अधोवस्त्र में उर्ध्वालिंग स्पष्ट दृष्टि गोचर होता है।

---

1 शैव प्रतिमायें– राजकीय संग्रहालय से प्रकाशित, पृ0 28

पन्ना एवं सतना क्षेत्र में 5वीं–6वीं शती में निर्मित उपरोक्त शैव प्रतिमायें अपने कुछ मापदण्ड स्थापित करती है। शैव प्रतिमाओं के अध्ययन से इस क्षेत्र की कला के कुछ मापदण्ड निर्धारित किये जा सकते हैं। खोह का एक मुखी शिव लिंग विशुद्ध गुप्त कला के मापदण्डों पर निर्मित किया गया है। शिव का जड़ा मुकुट बिना किसी अलंकरणों के है, परन्तु जटायें तीन थरों से होकर कलात्मक है। जटायें घटाबंध से ही मध्य में में बंधी है और सबसे ऊपर के जटाथर में ऊर्ध्व जटाबंध है, जिसके मध्य में चन्द्रमा का आलेखन है। ऊर्ध्व घटाबंध के दोनों पार्श्व में केशराशी लड़ है और जटाये नीचे झूलती हुयी दोनों कंधों पर है। कालीदास ने कुमार संभव में शिव के इस घटा मुकुट को उन्नध्ध घटा कल्प कहा है और चन्द्रमा को बालेन्दु कहा है।[1] जहाँ तक नयना चतुर्मुखी शिव लिंगों का प्रश्न है, इनमें घटामुकुट के तक्षण में थोड़ी भिन्नता है। जहाँ जटायें एक दूसरे के पास–पास सटी हुयी न होकर विरल है। जटाओं को अलंकारों से सजाया गया है। लटायें भी ऊपर से शथल होकर कानों के समीप गर्दन पर झूलती दिखायी गयी है। सबसे ऊपर मध्य में चन्द्रमा का आलेखन है। इन चतुर्मुखी शिवलिंगों में अधारे मुख की जटामुकुट भी अलंकरणों की विविध्ंता लिये है ओर केशराशी छोटी–छोटी वर्तुलाकार लटों में होकर कुतिलित है।

अन्य शैव प्रतिमाओं में केशराशी काफी आकर्षक है। उमा सहित शिव, गंगाधर शिव, शिवहारपाल आदि प्रतिमाओं में केशराशी मध्य में जटाओं से बंधी है, परन्तु वायी ओर से स्थल है। तात्पर्य कि जटाओं की सम्पूर्ण केशराशी मध्य से बंध कर है और छोटी–छोटी घटाओं के वर्तुल होकर वाये कंधे पर झूलती है। जटाओं को अलंकरण पट्ट से बांधा गया है, जिसका मुखमणि दहिने ओर है। साहित्य में इसे चिन्तामणी कहा गया है।[2]

---

1 शैव प्रतिमायें– राजकीय संग्रहालय से प्रकाशित, पृ0 28

2

गुप्त कला के अनुरूप ही मुख अण्डाकार है और भाल पर तीसरे नेत्र का आलेखन स्पष्ट है। भौंहे धनुषाकार अर्ध उन्भीलित मीन नेत्र तथा उभरे हुए होंठ स्वाभाविक होकर मांसल है। ग्रीवा में त्रिवलय भी स्पष्टतः बनाये गये हैं। भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति में कला अपने उत्कर्ष पर है। चतुर्मुखी लिंगों में शिव के सामान्य मुख पर जहाँ शांत सौम्य और कल्याणकारी भाव है, वहीं अघोर मुख पर विकरालता भी उतनी ही स्पष्ट बन पड़ी है। बड़े–बड़े गोल उभरे नेत्र फैले हुए बड़े नासापुट, विकरालता अट्टाहास में खुला मुख जिसमें जिहां भी स्पष्ट दिखलायी देती है। सौम्य मुखी से एकदम सुनिश्चित परिवर्तन एवं भावों में विरोधाभास स्पष्ट करते हैं।

खोह का एक मुखी शिव लिंग में अण्डाकार मुख घटा भार से एकदम संतुलित दिखायी देता है। इसलिए वहाँ कृतिमत का कहीं आभास नहीं होता है और भावों की स्वाभाविकता स्पष्ट होती है और यही शिल्पी अपने कलाकौशल में चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा है। नचना के चतुर्मुखी शिव लिंगों में जयमुकुट में अलंकरणों से प्रतीत होते हैं और भावों की अभिव्यक्ति में नेत्र, नासिका, ओठों का आलेखन कुल कृतिमता ला देता है और स्वाभाविकता फिर गौण हो जाती है।

शिव की उन प्रतिमाओं में जहां जयभार, वायी ओर स्वतंत्र हो झूल रहा है, में मुख को पुनः स्वाभाविक उभार मिल जाता है और यहाँ शिल्पी के नैसर्गिक सौन्दर्य अभिरूची का परिचय मिलता है। इसी कारण यहां पुनः भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक हो जाती है और सम्पूर्ण प्रतिमा लौकिक परिवेश ढल जाती है।

यहाँ की प्रतिमाओं में देह यष्टि मांसल सौन्दर्य से परिपूर्ण बलिष्ठ चौड़े स्कंध, पुश्ट भुजायें विशाल वक्षस्थल, सिंह कटि, पुष्ट जंघाओं के बाद क्रमशः पतले होते हुए पैर प्रतिमाओं की विशेशता है। अधोवस्त्र के आलेखन में कलात्मकता स्पष्ट होती है। वस्त्रों की स्वाभाविक सलवटों के साथ पारदर्शिता विशेष उल्लेखनीय है। अधोवस्त्र को भी बड़े ही रोचक ढंग में निविबंध से बांधा गया है, जिनकी गठानों में विविधता है।

गुप्त काल में मन्दिर स्थापत्य प्रारम्भ हुआ, परन्तु उस समय इसके साथ गुहा स्थापत्य का भी प्रचलन था। गुप्त वैष्णव थे अतः वैष्णव देवालयों का निर्माण हुआ परन्तु इसी के साथ शैव देवालयों को भी यथेष्ट स्थान दिया गया। उदयगिरि की गुहाओं में एकमुख शिवलिंग से प्रतिष्ठित गुहा इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[1] यही नहीं यहां की पहाड़ी की दीवार पर उमा महेश्वर के दृश्य फलक भी उकेरे गये हैं। गुप्तोत्तरकालीन में मन्दिर स्थापत्य को एक नवीन दिशा और एक नवीन गति मिली। गुप्त काल के सपाट छत, गर्भ गृह और अर्धमण्डप वाले स्थापत्य विन्यास में नवीन भागों का समावेश किया गया और शिखरों का भी प्रयोजन हुआ। महुआ तेरही, वदोह, ग्यारसपुर, अमरोल, कोटा आदि स्थानों पर निर्मित मन्दिर इसके उदाहरण है। यही समय था जब मन्दिरों को भी अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार प्रतिमाओं से अलंकृत करने की परम्परा का सूत्रपात हुआ। इसका प्रभाव यह हुआ कि मन्दिर स्थापत्य में नवीन मापदण्डों के साथ प्रतिमा निर्माण के नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित हुए। देव प्रतिमाओं के निर्माण में पौराणिक कथानकों के आधार पर उनके विभिनन स्वरूपों का निर्धारण हुआ।

गुप्त मूर्तियों से ज्ञात होता है कि विष्णु और उसके विभिन्न अवतारों की पूजा उस समय लोकप्रिय थी। मथुरा से प्राप्त विष्णु की मूर्ति गुप्त नम्यकला का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें संतोष और शांत आत्मचिन्तन दिखाई देता है। विष्णु की मूर्ति में मानव सिर के साथ वारह और सिंह के सिर दिखाई देते हैं। गड़वाल और मथुरा की विष्णु की मूर्तियों में एक केन्द्रीय मानव आकृति के चारों ओर दीप्तिमान सिर दिखायें गये हैं।

---

1 चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री वीरसेन ने इस शिवलिंग को प्रतिस्थापित कराया था। इसका विवरण चन्द्रगुप्त-।। के उदयगिरि गुहाभिलेख में मिलता है। सी0सी0आई0 भाग-।।।, नं0 6, पृ035

उदयगिरि की विशाल वाराह मूर्ति को गुप्त मूर्तिकारों की कुशलता का स्मारक माना गया है। इसका आधार और सशक्त परिस्कृति इसकी पृष्ठभूमि के छोटे आकार के दृश्यों के सम्मुख सुन्दर विषमता के रूप में प्रस्तुत होती है। दो पार्श्विक दृश्य भी असाधारण महत्व लिये गये हैं, जिनमें गंगा जमुना के जन्म प्रयाग में उनके संगम और सागर में उनके विलीन होने के दृश्य प्रस्तुत किये गये है। सम्पूर्ण दृश्य में कविता की संवेदना है और सम्भवतः इनमें मध्य प्रदेश को आदर्श रूप में दिखाया गया है। जो विशाल साम्राज्य का केन्द्र था। इनके चिन्ह थे गंगा और यमुना, यमुना देविया जो अपने-अपने वाहन मगर और कछुये पर खड़ी है।

गुप्त कलाओं ने विष्णु और शिव के विभिन्न अवतारों की कथाओं को कुशलता पूर्वक व्यक्त किया। देवगढ़ मंदिर में राम और कृष्ण की काव्य कथाओं के दृश्यों को चित्रित किया गया है। कृष्ण से सम्बन्धित किवदंतियां भी दिखायी गयी है। जैसे कृष्ण को गोकुल जाना, दूध की गाड़ियों को ठोकर मारना, कंस को बालों से पकड़ना आदि। एक दृश्य में कृष्ण रूकमणी और सुदामा को इकट्ठे दिखाया गया है। रामायण के कुछ दृश्य भी प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे राम, लक्ष्मण, सीता का वन प्रस्थान, अगस्त ऋषि से उनकी भेंट, लक्ष्मण द्वारा सुपड़नखा की नाक काटना आदि।

गजेन्द्र मोहन अनन्त पर लेटा हुआ। विष्णु और हिमालय में नर तथा नारायण जिन्हें देवगढ़ मंदिर में चित्रित किया गया है। हिन्दू मूर्ति की सर्वोष्ठ कृति है।

धातु की मूर्तियों का निर्माण भी गुप्तकाल में विशेष हुआ। महरौली के लौह स्तम्भ व मीरपुर खास में ब्रह्मा की एक छोटी सी कांसे की मूर्ति मिली थी जो अब करांची संग्रहालय में है। शिव की मूर्ति का खण्डित उत्तरार्ध विक्टोरिया और अलबर्ट म्यूजियम लन्दन में है जो कांसे की है। गया जिले के कुर्किहार गांव में भी बुद्ध की धातु की मूर्तियों की एक राशि मिली है, जिसमें से कुछ गुप्तकाल की भी है।

टैराकोटा :-

पत्थर की मूर्तियों का सिलसिला तो मौर्यो के पहले समाप्त हो जाता है पर मिट्टी की मूर्तियों का सिलसिला कभी नहीं टूटता। उनका प्रवाह भारत के सभी युगों में अविरल रहा है। पूजने और खेलने दोनों के लिए उनका अत्यधिक व्यवहार हुआ है। अलंकरण के लिए भी सुरूचिपूर्ण नागरिक उनका उपयोग करते थे। उत्तर भारत की नदियों की मिट्टी इनके निर्माण के लिए विशेष उपयुक्त थी जिससे देश के उस भाग में इन मूर्तियों की अनंत सम्पदा है। दक्षिण में इनकी प्राप्ति, इसके विपरीत स्थिति के कारण कम हुई है। मिट्टी की ये मूर्तियां अनेक प्रकार की है जिन पर विविध प्रकार के रंग चढ़े हैं। मथुरा, राजघाट, अहिच्छत्र, भीटा, मसोन, कौशांबी (कोसम), पाटलिपुत्र आदि सर्वत्र से मृण्मूर्तियां उपलब्ध हुई है। तत्कालीन साहित्य में भी पक्षियों की मिट्टी की मूर्तियों का उल्लेख हुआ है जो वर्णचित्रित है। शाकुंतल के सातवें अंक में कवि कालिदास ने "शकुंतलावण्य" पक्षी के सौन्दर्य (पक्षी के रंग) का उल्लेख किया है। इसी प्रकार "वर्ण चित्रित मृतिकामयूर' पद का उपयोग भी कवि ने उसी प्रसंग में किया है। इतिहास के प्रायः सभी युगों में मृण्मूर्तियों की इतनी संपदा बनी है और उनके ढेर इस मात्रा में उपलब्ध हुए है कि उनका सविस्तार वर्णन एक समूचे स्वतंत्र ग्रंथ की अपेक्षा करेगा।

टैराकोटा भी गुप्तकाल की एक मुख्य शाखा था। गुप्त काल की मिट्टी की मूर्तियां बनाने वाले कलाकार सुन्दर वस्तुएं बनाते थे। इसलिए वे लोक प्रिय थे। मिट्टी की वस्तुएं निर्धनों की कला बन गई। टैराकोटा मूर्तियां तीन प्रकार की हैः देवता तथा देवियाँ, पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग आकृतियां और पशुओं की छोटी आकृतियां तथा फुटकर वस्तुएं। विष्णु, सूर्य, दुर्गा, गंगा और यमुना की आकृतियां बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुई है। उन मिट्टी की आकृतियों को पकाने का काम काफी कठिन रहा होगा। ईरान और मध्य एशिया के विदेशियों की बहुत सी आकृतियां भी मिली है। वरो, हाथी सवारों, विदूषकों तथा बौनों की बहुत सी आकृतियां मिली है। राजघाट में पाई गई टैराकोटा की

मूर्तियां इतनी सजीव है कि मानो मिट्टी में गीत मुखरित हो उठे हो। उस समय प्रचलित सच्ची कला की आत्मा इन टैराकोटा की आकृतियों में पाई जाती है। गुप्तकाल के कलाकार के लिए यह सच्चाई से कहा जा सकता है कि उसने जिस वस्तु को भी हाथ लगाया उसे अति सुन्दर बना दिया।[1]

मृण्मूर्तियों के अनेक प्रकार थे। व्रत पूजन की मूर्तियां, अलंकरण की मूर्तियां, क्रीड़ा खेलने की मूर्तियां, ब्रज पूजन की मूर्तियां अधितर हाथ से गीली मिट्टी से नाक, कान, नेत्र, मुंह आदि रूपायित कर ली जाती थी। और पूजा के बाद सम्भवतः नदी, सरोवर में फेंक दी जाती थी। ये स्वाभावित ही कुम्हार या कलावन्त का तकनीकी स्पर्श पा सकने के कारण ही होती थी, यद्यपि अनेक बार, विशेष कर विभिन्न अवसरों के लिए, मृण्मूर्तियां व्रतादि के उद्देश्य से बनाने के अर्थ कलावन्ती काम लिया जाता था। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर, बाण भट्ट एवं हर्षचरित के अनुसार अनेक कलावन्तों का उपयोग हुआ था जिन्होंने मंडन अनंत मृण्मूर्तियों का निर्माण किया था, जिससे चारों दिशाएं मूर्तिमयी दिखने लगी थी।[2] (चित्र- ९०)

अलंकरण का कार्य सार्वजनिक आवासों, मंदिरों, मठों–विहारों और नागरिकों के मंदिरों में भी होता था। सहेट–महेट (श्रावस्ती), भीतरगांव और पटना के मंदिरों में लगाने के लिए रामायण, महाभारत और पुरोणों के दृश्य सांचे से बड़े–बड़े चौकोर और आयताकार, वर्तुलाकार खानों में ढाल लिये जाते और मंदिरों की दीवारों पर आलों में लगा दिये जाते थे। इनकी विपुल संख्या मिली है, इनमें से कुछ लखनऊ के संग्रहालय में प्रदर्शित भी है। इनकी लम्बाई डेढ़–डेढ़, दो–दो फुट तक मिलती है। तख्त–ए–बाही, शहर–ए–बहलोल, जमालगढ़ी आदि से बौद्ध जातक विषयों के दृश्य और मूर्तन मिले हैं जिनका उपयोग भी अलंकरण के लिए ही होता था। हरवान(कश्मीर) में ईटों की टाइलें

---

[1] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 510

[2] भ0श0 उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका, पृ0 114

ढाली हुई मिली है जिन पर वनस्पतियों, पशु पक्षियों और मानवों की आकृतियां बनी है। सिंध के ब्रहनाबाद और मीरपुर खास से अत्यन्त सुन्दर आकृतियों सहित सांच में ढली ईटें मिली है जिनकी अपनी अपनी अनंत डिजाइनें उपलब्ध है। इस प्रकार की ईटें भीतरगांव से प्राप्त लखनऊ के संग्रहालय में सैकड़ों की संख्या में सुरक्षित है। अलंकरण के अर्थ पुराणादि के दृश्यों का उपयोग नागरिकों के घरों में भी हुआ करता था। 'बस्ट' अथवा समूचे शरीर वाली कुंतलकेशी दीवार पर लटकाने के लिए सपाट पीठ वाली अनंत मूर्तियां गुप्ताकल में बनीं। उनकी ग्रन्थि शिखा पर सुराख बने हैं, जिनमें डोरा डाल कर सुरूचिपूर्ण नागरिक अपने कमरे की दीवारों पर टांगते थे। यह अलंकरण प्रक्रिया शुंगकाल में ही आरम्भ हो गयी होगी क्योकि वे मृण्मूर्तियाँ भी पीठ से सपाट है और अपने रूपायन में सभी कालों की मूर्तियों से अधिक आढ्य है। गुप्तकालीन शयनागारों में विलास के दृश्य अंकित करने वाले अभिप्राय टांगे जाते थे। गुप्तकाल में केश के घूंघरों को कंधों तक लटकाने की रीति थी।[1] इसी कुंतलकेशों की बनावट के लक्ष्ण से ही गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ अधिकतर पहचानी जाती है। अहिच्छत्र आदि से शैव सम्प्रदाय की अनेक मूर्तियां मिली है जिनके मस्तक बड़े और अंडाकार है। इनमें से एक शिव का तीसरा धारे पार्वती का असाधारण भव्य मस्तक है। अहिच्छत्र में आठ–आठ, नौ–नौ फुट गहरे विशाल मूर्तियां पकाने के लिए आवे भी मिले हैं। रंग करके मूतियां उन आवों में डाल दी जाती थी।[2]

खिलौनों में हाथी, घोड़े, मगर, मेंढे, सिंह, सुअर, मानव पक्षी आदि की अनंत संख्या में विविध स्थानों से मिट्टी की मूर्तियां मिली है जिनसे उनके अमिट और उदार उपयोग का पता चलता है जो नष्ट हो गयी है उनकी संख्या का अनुमान प्राप्त मूरतों की संख्या से लगाया जा सकता है। यदि हमारे संग्रहालयों में सुरक्षित इन खिलानों के सांचों से नये खिलौने ढाले जाये तो आज के

---

[1] वी0ए0 स्मिथ– अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 67

[2] भ0श0 उपाध्याय– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 160

चित्र- 90
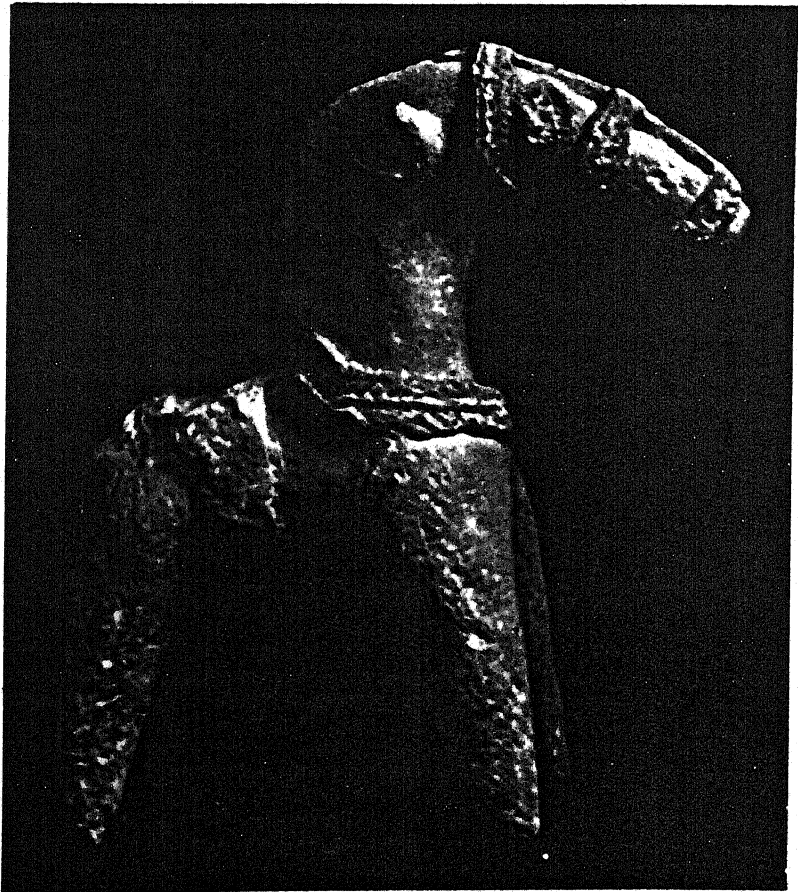
चित्र- 91

खिलौनों के संसार में बाद अपने के अतिरिक्त एक क्रांति मच जाये। इनकी विविधता और चेष्टाओं की अनन्नता निःसन्देह सराहनीय है। (चित्र - 91)

चित्रकला :-

भारतीय चित्रकला का गुप्तकाल से विशिष्ट सम्बन्ध है। मूर्तिकला स्वयं, उस काल की, भारतीय कला के प्रसार में मूर्धन्य है। पर उसमें और तत्सामयिक चित्रकला में एक असाधारण अंतर है। जहां मूर्तिकला सदियों के विकास की परिणति है, चित्रकला का परिणाम बड़ा होकर भी, उसके विकास की मंजिलें प्रायः अनजानी हैं। गुप्ताकल से पूर्व भी इस देश में चित्रण हुआ था, अतीत के कुछ अवशेष जाने हुए भी है। स्वयं अजन्ता के दरी ग्रहों में शुंगकालीन भित्तिचित्रों के आलेख्य जो बच रहे हैं उनसे ज्ञात होता है कि गुप्तकाल से काफी पहले से ही देश में अभिराम भित्तिचित्र बनने लगे थे। स्वयं समकालीन कवि कालीदास ने जो आलेख्य के सिद्धांत का संक्षिप्त और सांकेतिक विवेचन किया, उससे प्रकट है कि उसके रचना काल, गुप्त युग, तक चित्रकला के अनेक मूलभूत सिद्धान्त निश्चत हो चुके थे। परन्तु चित्रलेखन की अटूट परम्परा नहीं मिलती। कोई ऐसी श्रृंखला उपलब्ध नहीं जिसकी युगगत कड़ियों को जोड़कर हम उसके विकास का सिलसिला देख सकें। इसका परिणाम यह होता है कि इसके उद्‌गम के सम्बन्ध में हमें ग्रीको की उस देवी "मिनर्वा" (अथीनी) की उत्पत्ति की कल्पना करनी पड़ती है जो पिता देवराज जियुस का मस्तक फाड़ सुगठित वयस्क शरीर के साथ आविर्भूत हो गयी थी, उसकी देहवृद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। भारतीय चित्रकला भी, कुछ दृष्टांतों के बावजूद, गुप्तकाल में अपने पूर्ण विकसित वैभव के साथ सहसा प्रादूर्भूत हो जाने के कारण कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है, अपने भाव स्रोत के साथ सहासा फूट पड़ने वाली।[1]

और मूर्तिकला के उच्चस्तरीय होने के कारण गुप्तयुगीन चित्रकला अपने विकास की प्रारंभिक मंजिलों की अपेक्षा न करने से अभिजात उपलब्ध हुई। उस काल के जो चित्र हमें मिले हैं

---

[1] भगवत शरण उपाध्याय– गुप्तकाल का सांस्कृति इतिहास प्र० 178

वे अभिराम और की परिणत ही है। पता नहीं किन अज्ञात मंजिलों से गुप्तकालीन चित्रकार क इतनी लाक्षणिक, इतनी सूक्ष्म शैली, इतनी विपुल मात्रा में वह सम्पन्न हो गयी।

साहित्य प्रमाण इतनी अधिक मात्रा में है कि इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि देश में चित्रण कला का प्रचलन अति प्राचीन काल से था। पाली अगमों और रामायण तथा महाभारत में घर की दीवारों को चित्रों द्वारा अलंकत करने और अनुरूप छवि बनाने की चर्चायें प्रभूत मात्रा में हैं किन्तु जो प्राचीनतम चित्र आज इस देश में उपलब्ध है वे ई0पू0 पहली–दूसरी शताब्दी से अधिक पुराने नहीं जान पड़ते। ये चित्र सरगुजा (म0प्र0) में रामगढ़ पर्वत की जोगीमारा गुफा की दीवारों पर अंकित है। बेदसा की गुफा में भी चित्रों के निशान पाये गये हैं जो सम्भवतः ईसा की तीसरी शताब्दी के हैं।[1]

किन्तु इस देश के सर्वोत्तम भित्तिचित्र अजन्ता की गुफाओं में अंकित है जो पहली से सातवीं शताब्दी के बीच बने थे। इन गुफाओं की संख्या 29 है। 1879 ई0 तक इनमें से 16 गुफाओं के चत्रों के चिन्ह मौजूद थे किन्तु तबसे वे बहुत कुछ नष्ट हो गये हैं और जो कुछ आज बच रहा है वह गुफाओं की दीवारों और छतों में अंकित चित्रों का एक अत्यल्प अंग मात्र हैं।[2]

इन चित्रों के बनाने के लिये अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर पहले मिट्टी, गोबर और कुटी छर्रियों के मसाले का एक असतर दिया गया है और उसके ऊपर बहुत पतले सफेद पलस्तर की हल्की पर्त पोती गई है। इस प्रकार तैयार की हुई आधार भूमि को चिकना कर तर रखा गया और तब उस पर चित्र का रेखांकन कर उनमें रंग भरे गये। प्रायः सफेद, लाल, विभिन्न साये की

---

[1] राधाकुमुद मुकर्जी– प्राचीन भारत का इतिहास – 332

[2] लेडी हैरिंघम– अजन्ता फ्रेस्कोज –63

हिरमिजी, हल्का हरा और नीला रंग इन चित्रों की रचना में प्रयुक्त हुआ है।[3]

इन चित्रों में बुद्ध और बोधिसत्वों के जीवन की अनेक घटनायें अर्थात् जातक कथायें अंकित की गई हैं। अलंकरणों के निमित्त पशु पक्षी और फूल पत्तियों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। उनके डिजाइनें भी भाँति–भाँति की हैं जो सुरूचिपूर्ण होने के साथ–साथ कल्पना प्रधान भी हैं। इन चित्रों की कलाकुशलता के रस निरूपण के सम्बन्ध में ग्रिफिथ का, जिन्होंने 13 वर्षों तक इन चित्रों का अध्ययन किया था, उन्होंने सामान्य मत प्रस्तुत किया है–

"अपनी कुछ सीमाओं में बंधे होनें पर भी ये चित्र मुझे अपनी रचना में इतने परिपूर्ण, परमपरानुकूल, डिजाइनों में इतने मनमोहक और विभिन्न तथा रूप व रंग में इतने अल्हादकारी जान पड़ते हैं कि मैं उन्हें इटली के उन आरम्भिक कलात्मक नमूनों के समकक्ष रखे बिना नहीं रहसकता जिनकी कि संसार भर ने प्रशंसा की है।[2]. . . . . अजन्ता की कलाकुशलता सराहनीय है। लम्बी टेढ़ी रेखायें भी तूलिका के एक ही झटके में इतनी कुशलता से खीची गई हैं कि उनमें कहीं भी मोटापन या पतलापन नहीं जान पड़ता। उनकी रंगाइ प्रायः स्पष्ट और ओजपूर्ण है। उनमें कुछ नमूने तो पंपियाई की सर्वोत्तम कला के नमूनो के समान है। . . . . कपड़ों का भी पूर्णज्ञान है उनकी सिकुड़न भले ही कुछ अंशों में परम्परागात्मक विशेषताओं को अच्छी तरह व्यक्त करते हैं। . . . . कला की शिक्षा की दृष्टि से किसी भारतीय कला विद्यार्थी के सम्मुख अजन्ता मे पाये जाने वाले नमूनों से बढ़कर और कोई दूसरी चीज उदाहरण में नहीं रखी जा सकती इसमें सजीव कलात्मक भावों से युक्त मुनष्यों के मुखड़े, भावपूर्ण गतिशील अंग, खिले हुये फूल, उड़ती हुयी चिड़ियां उछलते लड़तें व बोझा ढोने वाले पशु सभी कुछ प्रकृति की पुस्तिका से लिये गये हैं व उसी के नमूनों पर बने हैं। इस दृष्टि से वे मुस्लिम कला से भिन्न है जो कृतिम,

---

[1] जी0 सचादारी– अजन्ता, लन्दन, 1930 , पृ0 57

[2] ग्रिफिथ– अजन्ता फ्रेस्कोज, पृ0 42

यथार्थ, अथच विकास योग्य नहीं है।"

विदेशी विद्वान ने अजन्ता के चित्रों की बहुमूल्य आलोचना कलाकार की दृष्टि से की है, उसक कहना है कि –"वह सच्ची, कलाकार, भारतीय दृष्टि से की है। उसका कहना है कि– "सच्ची, भारतीय कला की चरम सीमा है, इन चित्रों की प्रत्येक वस्तु चाहे वह सम्पूर्ण चित्र का संघटन अथवा एक छोटे से मेती या फूल या निर्माण दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है और वह बतलाती है कि कलाकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म और उनका कौशल ऊँचे दर्जे का है।"[1]

ग्वालियर में बाथ नामक गांव की गुफाओं में भी भारतीय चित्र के अच्छे नमूने 19वीं शताब्दी तक उपलब्ध थे। किन्तु आज उनका बहुत ही थोड़ा अंश बच रहा है। इनमें भी अजन्ता की कला के समान ही उच्चगुण पाये जाते हैं और संभवतः ये छठी आवा सातवीं शताब्दी पूवार्द्ध के हैं।[2]

गुप्तचित्रकला के सम्बन्ध में महत्वँपूर्ण बात यह है कि इसे धर्म ने द्वितीय स्थान दिया। इसे मूर्तिकला जैसा महत्व नहीं मिला। मूर्ति पूजी गयी पूजने के लिये ही गढी गई लेकिन चित्र कभी पूजा नहीं गया। पूजने के लिये चित्रगत की ही मूर्त थी उसका आलेख्य नहीं।

'प्रतिमा की विशेषता ध्यान और योग की क्रिया की सहायत शक्ति में है अतः प्रतिमाओं के मानव निर्माता को ध्यानविधि में निष्णात होना चाहिये। ध्यान के सिवा प्रतिभा के स्वरूप को जानने का दूसरा साधन नहीं प्रत्यक्ष दर्शन भी नहीं।"[3]

गुप्त कालीन चित्रकला की विधि विधाओं और प्रकारों का उल्लेख उस युग के

---

1 बी0एस0 रालिन्स– इण्डियन आर्ट – 227

2 ई0वी0 हैवेल– इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टग्स, पृ0 203

3 शुक्रनीत, अध्याय– 22

आरम्भ में धर्मशास्त्रादि साहित्य का निर्माण तो हुआ है कला संबंध कुछ सिद्धान्तों भी प्रारम्भिक सदियों में तकनीकी साहित्य में निरीपित हुआ। भरत ने नाट्यशास्त्र में रंगाई के सिद्धान्त निर्मित किये। कामशास्त्र ने 64 कलाओं का उपादेयता नागरिक के लिये प्रस्तुत की और विष्णुधमोत्तर ने मूर्ति, चित्रादि कलाओं के विधान किये। वात्स्यायन के कामसूत्रों के व्याख्यात यशोधरा ने उन्हीं के आधार पर . चित्रण के 6 अंगों की परिगणन किया जिनहें आनन्द कुमारस्वामी ने यथार्थ करके स्वीकार किया।[1] चित्रकला के ये छः अंग रूपभेद, प्रमाण, लावण्य योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग हे।

चित्रणकला गुप्तकाल में सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गई थी। गुप्तचित्रों के अति उत्तम उदाहरण अजनता की गुफाओं की दीवारों पर बाध की गुफाओं में पट्टूक्कोदई के सीन्तालावासल मन्दिर में और लंगा में सिगीरिया की चट्टानों में काटे गये सदनों में पाये जाते हैं। चित्रों की तनीकि का जहा तक सवाल है जिसे हुए पत्थर, गोबर मिटटी और भूसे के साथ तल बना लिया जाता था, करणी के साथ उसे समतल कर लिया जाता था और सूखने के बाद कलाकार स्पष्ट रूप चित्र बनाते थे।[2]

चट्टानों से कटे मन्दिरों की सैकड़ों दीवारों और स्तम्भों पर हम एक विशाल नाट्क देखते हैं जिसे राजकुमार ऋषियों और नायकों तथा प्रत्येक स्थिति के पुरूषों तथा स्त्रियों ने अलौकिक विभिन्न पृष्ठिभूमियों में खेला। जंगलों तथा उद्योनों, दरबारों तथा नगरों के चौड़े मैदानों तथा घने वनों में उन्हें विभिन्न कार्यों में व्यस्त दिखाया गया है और उनके ऊपर देवता आकाश में दिखायें गये है। इस सबसे एक अनोखे आनन्द की प्राप्ति होती है।[3]

गुप्त चित्रकारों ने बुद्ध के जीवन को भी चित्रित किया। गुफा नं0 16 के 'मृत्यु शैया

---

[1] भ0श0 उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका, पृ0 109,

[2] वी0एस0 अग्रवाल– गुप्तकालीन कला , पृ0 87

[3] एच0पी0 रॉलिन्सन एवं अन्य– इण्डियन आर्ट, पृ0 228

पर राजकुमार' नामक दृश्य सराहनीय है। करूणा और विचारों की दृष्टि से और कथा कहने के ठीक ढंग की दृष्टि से मेरे विचार में कला के इतिहास में इससे अच्छे चित्र बनाना सम्भव नहीं है।[1]

गुफा नं0 17 को तो चित्रालय कहना ही ठीक होगा। इसमें बुद्ध के लगींग सम्पूर्ण जीवन को चित्रित किया गया है। श्रीमती हैरिघंम ने तो इन चित्रों की तुलना इटली के 17वीं शताब्दी के चित्रों से की हे।

कला के समालोचकों के अनुसार 'गुप्तकला में रूपरेखा की कोमलता रंगों की उज्ज्वलता और अनुपम भावपूर्णता ही उसकी प्रमुख विशेषता है। इन्ही लक्षणों ने गुप्तकाल के चित्रों को हमेशा के लिए अमर बना दिया।

सुन्दर मूतियों सहित कुछ टूटे हुये भाग, यह बताते हैं कि गुप्त काल के भव्य पत्थरों के मंदिर बनारस के निकट सारनाथ तथा अन्य स्थानों पर थे। सारनाथ गुप्तकाल की आकृतियों और नक्कासी के लिये भरपूर भण्डार सिद्ध हुआ है। जिसमें से कई समुद्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों के समय उच्चकोटि के नमूने हैं। गुप्त कलाकार धातुओं के काम में भी कम दक्ष नहीं थे। समुद्रगुप्त के समय में जंग न लगने वाले लोहे का बनाया हआ दिल्ली का स्तम्भ धातुशोधन में कुशलता का अद्‌भुत नमूना है। तांबे की मूर्तियों को बनाने का कार्य विशेष सफलता के साथ किया गया।[2] छटी शती के अन्त में विहार में नालन्दा के स्थान पर बुद्धि की 80 फुट ऊँची ताबें की मूर्ति स्थापित की गई और साढ़े सात फुट ऊची बुद्ध की सुल्तानगंज मूर्ति अब भी वंकिघम अजायब घर में देखी जा सकती है। यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की है। कला के उत्तम विकास का काल पांचवी शती को माना जा सकता है जो कालिदास का भी समय था, अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय और

---

[1] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0510–11

[2] डा0वी0ए0 स्मिथ– हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलॉन, पृ0 198

उसके पुत्र का राज्यकला। अजन्ता की दो सर्वोत्कृष्ट गुफायें– 16 तथा 17, उस गौरवमयी शताब्दी में ही खोदी गई थीं। अजन्ता की गुफा की चित्रण कला की उच्चकोटि की व्याख्या करना आवश्ख्यक है क्योंकि अब उसे नि:संकोच स्वीकार किया जाता है। एक डेनिश कलाकार ने अमूल्य व्यवसायिक समालोचना प्रकाशित की है। उसने कहा है क "वे विशुद्ध भारतीय कला के उच्चतम विकास की द्योतक हैं। सम्पूर्ण चित्र से लेकर छोटे से छोटे मोती या फूल तक सभी कुछ अन्तर्दृष्टि की गहराई तथा महान तकनीकी कुशलता के प्रमाण हैं। लंका की उनसे मिलती–जुलती सिगीरिया की चित्रणकला स्कन्दगुप्त के समय के शीघ्र पश्चात 479 से 497 ई0 तक के काल में सम्पादित की गई।

गुप्तकाल वास्तव में पुनरूत्थान है जिसके कारण चौथी तथा पांचवी शती ई0 में उत्तरी भारत के लोगों के विचारो में परिवर्तन था। इस परिवर्तन का आधार पुराने लक्षणों को मिलाना, विदेशी लक्षणों को निकालकर वाहर करना और पूर्णत: नए तथा एकदम भारतीय विचारों को क्रमबद्ध रचना करना था।[1]

गुप्तकाल की वौद्धिकला के लिये उसकी प्रंशसा की गई है। किन्तु इसे प्राचीन भारतीय कला का परिणाम समझना अधिक ठीक होगा। इसमें डिजाइन और आकृति की स्पष्ट प्रशंसा थी, जीवों के स्पन्दन और लय तथा उनकी मुद्रा तथा सन्तुलन का लेख था। गुप्ता शताब्दी में उद्देश्यों का निश्चित के क्रम है जो उत्तम गुफा मंदिरों के समय के निकट आकार संख्या और कल्पना की जटिलता को बढ़ाते जाते हैं। अजन्ता, औरन्गाबाद और एलोरा में ही मध्य युग प्रारम्भ हुआ, इसकी निश्चित संस्कृति है जो गुप्त संस्कृति से भिन्न है। इन छोटे–छोटे मंदिर को भव्य और आकर्षण निर्मार्ण ही नहीं अपितु इनको सजाने के लिये की गई चित्रकारी भी अद्वितीय है।[2]

---

[1] आ0र0 डी0 बनर्जी– द एज ऑफ एम्पीरियल गुप्ताज, 1933, पृ0 189

[2] के0डी0बी0 कार्डिग्टन– एन्शिएंट इण्डिया। पृ0 319

समय के थपेड़ों तथा हूड़ व मुस्लिम आक्रमणिकारियों के प्रहार से गुप्त कला एवं शिल्प कला की बहुत हानि हुई है। बहुत ही कम नमूने शेष हैं, किन्तु जो नमूने बचे हैं उनसे स्पष्ट है कि प्राचीन विद्वानों में गुप्तकाल का वर्णन बढ़ा चढ़ाकर नहीं किया है।[1]

गुप्त मुद्रायें :-

गुप्त सिक्कों की पृष्ठभूमि में ग्रीकों, शकों, कुषाणों आदि का वैभव निःसंदेह था पर स्वयं गुप्त सम्राटों का इस क्षेत्र में अध्यवसाय और पराक्रम कुछ कम सराहनीय न था। सिक्कों की ढलाई का कार्य उन्नति पर था और सोने तथा चांदी के सिक्कों का सौन्दर्य और शुद्धता सर्वत्र स्वीकार की गयी है। गुप्तों को एक विशेषता उनके सिक्कों पर विविध अवसरों अथवा क्रियाओं को उभार कर चित्रित करना था। अश्वमेघ के अश्व, विवाहित मिथुन, राजदम्पत्ति, वीणावादन, आखेट में सिंह बध आदि अनेक अभिप्राय सिक्कों पर उभारे जाने लगे, जिससे उनके रूप में विशेष सुधराई आ गयी। उन पर समसामयिक छदाशों में ही अभिलेख भी खुदे जिससे कला और साहित्य की एकत्र प्रतिभा, सरस्वती और लक्ष्मी के सानिध्य सें उन पर आ विराजी।[2] (चित्र - 92)

मुद्राशास्त्र के क्षेत्र में गुप्त सम्राटों की मुद्रायें विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उनके पूर्ववर्ती राजाओं में भारत के यूनानी तथा कुषाणा शासकों में कालत्मक दृष्टि से पर्याप् सुन्दर मुद्राओं का प्रचलन किया था परन्तु उनमें विदेशीपन के भाव निहित थे और उनके लेख अभारतीय लिपि में लिखे जाते हैं, उदाहरणार्थः यूनानी तथा खरोष्ठी।[3] गुप्तों से पूर्व के कुछ भारतीय राजाओं ने पांचाल के

---

[1] एच0जी0 रालिन्सन- इण्डियन आर्ट, पृ0 231

[2] गुप्त का सांस्कृतिक इतिहास- भ0श0 उपाध्याय। पृ0 98

[3] सदाशिव अल्तेकर- गुप्तकालीन मुद्रायें, पृ0 9

"मित्र" तथा दक्षिण के सातवाहन लेखयुक्त सिक्कों का प्रचलन किया, किन्तु वे कला में हीन थे और उनकी तौल तथा माप सर्वथा अव्यवस्थित थी। अपर शासक की आकृति या अर्धचित्र खुदा नहीं मिलता है। गुप्तकालीन मुद्रा सर्वप्रथम भारतीय सिक्के हैं जो वर्तमान मुद्राओं के सन्निकट आती हैं। उन पर राजा की आकृति तथा नाम खुदे हैं उनकी तौल तथा माप एक सी है। आरम्भ में उनपर कुछ विदेशी प्रभाव दिखलाई पड़ता है, परन्तु शीघ्र ही वे उससे मुक्त हुए। उत्कृष्ट गुप्त मुद्रायें कला, बनावट तथा वस्त्राभूषणों में सर्वथा राष्ट्रीय कही जा सकती है।(चित्र - 93)

कलात्मकता, मौलिकता एवं विविधता में गुप्त सम्राटों की स्वर्ण मुद्राऐं प्राचीन भारतीय मुद्राओं में अपना सानी नहीं रखती। भारतीय यूनानी सिक्के निसंदेह कला की दृष्टि से ऊँचे माने गये हैं परन्तु उनमें प्रकारों की अनेकता और चिन्ह समूहों की विविधता नहीं दिखलाई देती है जो गुप्त मुद्राओं की विशिष्टता है।[1] भारतीय यूनानी सिक्कों के पुरोभाग पर अधिकतर राजा का उद्धर्व चित्र खुदा है। राजा का प्रदर्शन अनेक रीति से किया गया है, उसके वस्त्र तथा आयुध भी विधि प्रकार के हैं। वह प्रायः खड़ा दिखलाया गया है। कभी उसके हाथ में धनुष तो कभी परशु ओर कभी ध्वज रहता है। कभी–कभी तो राजा के पार्श्व में छत्राधारी व्यक्ति दिखलाई पड़ता है। अक्सर वह सिंह–शेर या गैंडा से लड़ते हुए अंकित है। कभी राजा घोड़े पर सवार है अथवा हाथी पर, मनोरंजन के लिये बीणा बजा रहा है या मोर को खाना दे रहा है। इस प्रकार की मनोहारी तथा कलात्मक विविधता भारतीय यूनानी सिक्कों में नहीं पाई जाती। कुषाण मुद्राओं के पृष्ठभाग पर उल्लेखनीय विविधता तो अवश्य है परन्तु इसका एक मात्र कारण यही था कि वहां राजा के इच्छानुकूल अनेक यूनानी, रोमन, ईरानी, हिन्दू तथा बौद्ध देवी देवताओं को स्थान दिया गया। उस विविधता का कारण कलात्मकता न थी, जैसी गुप्त मुद्राओं में पाई जाती है।[2] (चित्र - 94)

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल– गुप्तकालीन कला पृ0 92

[2] जे0 एलन– केटेलोग आफ कोइन्स ऑफ गुप्ता डायनेस्टी, पृ0 21
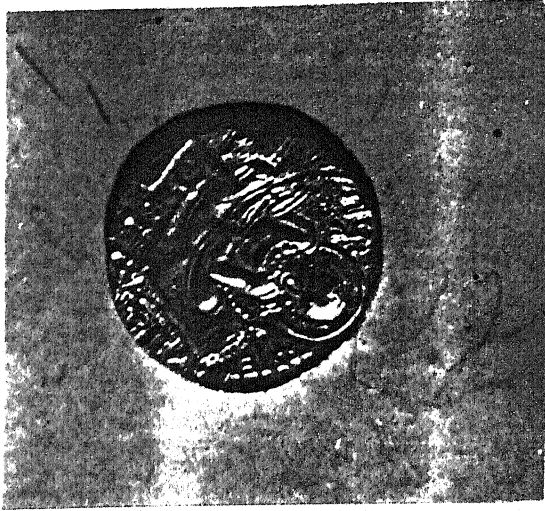
चित्र- 92

चित्र- 93

चित्र- 94

गुप्त युग की हिन्दूकला में गौरवास्पद नव निर्माताशक्ति थी जिसे न केवल तक्षण कला में, बल्कि सिक्कों पर भी देख सकते हैं। इस स्वर्णयुग कोई नरेश एक प्रकार की मुद्रा से सन्तुष्ट नहीं था। समुद्रगुप्त द्वितीय, चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त में प्रत्येक ने छह से अधिक प्रकार की मुद्रायें प्रचिलित कीं। मुद्रा पर उन सब सम्राटों का विशेष ध्यान रहा। शासन के आरम्भ में पूरी स्थिति पर विचार करके मुद्राओं का संचालन किया जाता था। कुछ पुराने प्रकारों का त्याग करते थे और नये का स्वीकार। कभी–कभी पुराने प्रकार सुधार के साथ पुनः प्रचिलित किये जाते थे।[1]

इतना ही नहीं कि मुद्राओं के अनेक प्रकार प्रचिलित किये गये, किन्तु हर एक प्रकार में अनेक उपप्रकार भी शुरू किये गये। द्वितीय चन्द्रगुप्त की धनुर्धारी मुद्रा अतीव साधरण प्रकार भी गिनी जाती है, जिसमें सैकड़ों सिक्के प्रचिलित हुए लेकिन इस प्रकार के उपप्रकारों में आश्चर्यलनक विविधता और विचित्रता पाई जाती है। कभी "चन्द्र" बाँह के नीचे, कभी धनुष तथा प्रत्यंञ्चा के मध्य और कभी प्रत्यञ्चा के बाहरी भाग में लिखा गया है। कभी धनुष राजा के दाहिने हाथ मे तो कभी बांये हाथ में रहता है। कभी धनुष सिरे से पकड़ा गया है तो कभी मध्य भाग से। साधारणतः राजा बाई ओर ही खड़ा है और देखता है, पर कभी वह दाहिने तथा बायें भी देखता है। ये उपप्रकार जितने कलात्मक है, उतने ही आश्चर्यकारी भी हैं। मुद्राओं के पृष्ठभाग पर भी इसी प्रकार की विविधता दिखाई देती है। उदाहरण के लिये सिंह निहन्ता प्रकार को ही लें– इस प्रकार के पृष्ठभाग पर देवी प्रायः सिंह पर सम्मुख बैठी हैं। वह सिंह का उपयोग सिंहासन के रूप में प्रायः करती हैं, किन्तु कभी वह अश्वारोही के समान अपने दोनों पर उसके दोनों ओर फैलाये बैठी हैं, कभी देवी का वाहन सिंह बांयी ओर चल रहा है तो काभी दाहिनी तरफ। काभी देवी निर्भीक भाव से सिंह के सिर पर पैर हिलाते हुए दिखाई गई हैं।[2]

---

[1] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 511

[2] ए0के0 कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0

वैसे तो गुप्तकालीन मुद्राओं की कला सर्वथा भारतीय है पर इसकी विशद विवेचना की आवश्यकता है, क्योंकि स्मिथ महोदय ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि गुप्त सिक्कों के कतिपय चिन्ह समूह विदेशी प्रभाव से अनुप्राणित है। किन्तु अधिकतर उदाहरणों से ज्ञात होता है कि स्मिथ का निदान निराधार है। जो लोग भागवत धर्म से परिचय रखते हैं वे जानते हैं कि उस धर्म में विष्णु तथा उसके वाहन गरूण को कितना महत्त्व दिया जाता है। वे कदापि यह नहीं मानेंगे कि परमभागवत वैष्णव गुप्त सम्राटों की गुरूड़ की. याद रोम के सिक्के देखकर हुई हो।[1] न कि विष्णु के वाहन को नमस्कार करने से। बेसनगर स्तम्भ के आधार पर यह सिद्ध होता है कि रोमन सिक्कों पर गरूण के समाविष्ट होने के बहुत समय पूर्व वैष्णव लोगों ने गरूणध्वज का सर्वत्र प्रचार किया था। कुमार गुप्त का नाम जिस देवता के नाम से हुआ, उस कुमार या कीर्तिकेय देवता का वाहन मोर था। इस कारण सब लोग इसे समझ सकते हैं कि मोर को सोने तथा चांदी के सिक्कों पर क्यों महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। ऐसी अवस्था में कुमार गुप्त के चांदी के सिक्कों पर इस पंखयुक्त मोर की आकृति को ज्यूलिया आगस्ट के सिक्कों का अनुकरण मानना[2] सर्वथा न्याय नहीं होगा। टिट्स की पुत्री ज्यूलिया आगस्टा की मृत्यु ई0 सन् 81–90 के बीच हुई। स्मिथ इसे स्वीकार करते हैं कि उस राजकुमार तथा प्रथम कुमार गुप्त के राज्यकाल में दीर्घ अन्तर है। वे यह भी मानते हैं कि उस राजकुमारी के ये दुल्प्राष्य सिक्के भारत तक पहुंचे थे। इनका भी कुछ प्रमाण नहीं है, तो भी वे अपने विचार पर दृढ़ है कि प्रथम कुमार गुप्त ने इस रोमन सिक्कों का अनुकरण करके ही अपनी मुद्राओं पर मोर को स्थान दिया। राजा या देवी द्वारा मोर को खिलाते हुए दिखाना एक सर्वथा भारतीय कल्पना है। इससे मिलती–जुलती हुई रोमन सिक्कों पर उत्कीर्ण मोर को खिलाते हुए घूनों की आकृति केवल आकस्मिक घटना ही मानी जा सकती है। अश्वारोही तथा सिंह निहत वर्गा के सिक्कों की कल्पना तथा सजावट भी सर्वथा भारतीय है। इसमें रोमन

---

[1] ज0रा0ए0सो0 1889, पृ0 24

[2] ज0ए0एस0बी0, 1889, पृ0 22

सिक्कों का अनुकरण देखना युक्तिसंगत नहीं है।[1]

प्रारम्भिक अवस्था में गुप्त स्वर्णमुद्रा में कुछ विदेशी प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है, पर वह कुषाण या सीथियन प्रभाव है, रोमन नहीं। प्रथम चन्द्रगुप्त के वैवाहिक दृश्य में भी गुप्त सम्राट सीथियन ढ़ग का वस्त्र पहने हुए दिखलाया गया है।[2] यज्ञ देवी का हवन करते समय भी विदेशी कोट पतलून का त्याग नहीं किया गया है। मुद्राओं के पृष्ठभाग पर ऊँचे पठिवाले सिंहसान पर बैठी हुई और कॉनु कोषिया[3] लिये हुए देवी की मूर्ति रोमन देवता आरदीक्षो का अक्षरशः अनुकरण है। हाँ, गुप्त

---

[1] विस्तृत विवरण के लिये– स्मिथ का लेख ज0रा0ए0सो0, 1889, पृ0 18–22, स्मिथ के प्रमाण कितने अविश्वसीनय है ये वह स्वयं भी उससे कैसे पूर्णतः प्रभावित नहीं हुए थे, यह निम्नांकित दो उद्धरणों से समझा जा सकता है– द्वितीय चन्द्रगुप्त की भागते सिंह वाली अद्वितीय मुद्रा गुप्त सिक्कों में सर्वाधिक कलापूर्ण है। यह सम्भव है तथा सुझाव रखा जा सकता है कि सिंह ओर व्याघ्र निहन्ता प्रकार की मुद्राओं पर इन पशुओं से लड़ते हुए राजा के चित्रण की कल्पना हैरेकल्स के नेमियन वन के सिंह की लड़ाई से भारतीयों को मिली होगी, यद्यपि सिंह निहन्ता हैरेकल्स तथा सिंह निहन्ता गुप्त सम्राटों में कोई साम्य नहीं है। गुप्त मुद्राओं पर भागता हुआ सिंह निःसन्देह यूनानी कला से प्रभावित है। किन्तु यूनानी चित्र या मूर्ति को देखकर ही भारतीय कारीगर ने उसे खोदा होगा (पृ0 20)। यह कहा जा कसता है कि अखेमनियम वंश के डेरिक सिक्कों से धनुर्धारी प्रकार के सिक्कों की कल्पना गुप्त सम्राटों की हुई। किन्तु यह असम्भव सा प्रतीत होता है।

[2] आर0डी0 बनर्जी– द एज ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज, 1933, पृ0 197

[3] आरदोक्षों देवी के हाथ में एक फलों से भरा हुआ सीग साथ में रहता है, जिसका नाम फॉर्नुकोपिया था ।

मुद्राओं पर उसका नाम नहीं मिलता। समुद्रगुप्त मुद्रा पर ध्वज लिये हुए दिखलाया गया है, क्योंकि सीथियन सिक्कों पर राजा इसी अवस्था में खड़ा है और उसका अनुसरण गुप्त टकसाल वालों ने किया। किन्तु, हिन्दू शिष्टाचार इससे सहमत नहीं है कि राजा अपना ध्वज अपने हाथ में धारण करें।

गुप्तकालीन कलाकार विदेशी चिन्ह तथा वेश भूषादि को शीघ्र हटाना चाहते थे, किन्तु मुद्राशास्त्री पुरानी प्रथा को बहुत मानते थे। इसलिये भारतीय दृष्टि से मुद्राओं में तुरन्त परिवर्तन करना सरल न था।[1] सीथियन ऊँची टोपी का स्थान आरम्भ से ही भारतीय उष्णीष ने ले लिया, परन्तु विदेश कोट और पतलून कई पीढ़ियों तक सिक्कों पर बीच-बीच में दिखाई देते हैं। अत्यधिक मुद्राओं पर राजा धोती पहने चित्रित किया गया है। आरदोक्षो, सिंहवाहिनी दुर्गा माँ के रूप में परिवर्तित कर दी गई है अथवा कमलासन पर बैठाकर उसे लक्ष्मी का रूप दे दिया है। वहां कॉनुकोपिया के स्थंन पर कमल वर्तमान है। ध्वजधारी प्रकार की मुद्रा के ध्वज को परशु अथवा धनुष से स्थानान्तरित करके सफलतापूर्वक भारतीयपन लाया गया है। अत्यधिक संख्या में गुप्त सम्राटों की मुद्रायें सर्वथा राष्ट्रीय हैं और वे भारतीय मुद्रा कला के सबसे अच्छे उदाहरण मानी जाती हैं।

गुप्त मुद्रायें अत्यन्त उच्च हस्त कौशल का प्रदर्शन करती हैं तथा बनावट और कला में उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती हैं तथा बनावट और कला में उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती हैं। द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिंहनिहन्ता प्रकार के एक वर्ग राजा की पतली किन्तु मांसल स्नायुयुक्त देहयष्टि अत्यन्त मनोहर दिखाई देती है। शायद ही उसकी समानता कोई कलाकार कर सके। देवी या खड़ी रानी की आकृति कोमल, कान्त व आकर्षक है। कितनी कमनीयता से वह हाथ में लीलाकमल धारण करती है या मुद्राओं को विखेरती है या मोर को खिलाती है। उससे उस युग की सुसंस्कृत रूचि का परिचय मिलता है। देवी की त्रिभंगी मुद्रा अत्यन्त मनमोहक है। समुद्रगुप्त के ऊँचे तथा भव्य शरीर का आभास

---

[1] ए0एस0 आल्तेकर– गुप्तकालीन मुद्रायें , पृ0 29

उसके सिक्कों से भलीभांति मिलता है। प्रथम चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमार गुप्त के राजा रानी प्रकार की मुद्रायें समुद्रगुप्त के वीणाधारी और अश्वमेघ प्रकार और सिंह निहन्ता- मुद्रा प्रकार तथा प्रथम कुमारगुप्त के अप्रतिध खंगनिहन्ता, गजारोही- सिंह निहन्ता प्रकार के सिक्के सभी निःसन्देह मौलिक हैं। वे मुद्राकारों की कला पारगंतता का पूर्ण परिचय देते हैं।[1]

कलाकारों ने मुद्राओं पर उस युग के आभूषणों की आकर्षक विविधता अंकित की है, जो तत्कालीन सुसंस्कृत रूचि का परिचय देती है।[2] राजा के बटनवाले कोट और पतलून, मौलिक विभूषित टोपी, राजमुकुट का चन्द्रकोर सभी सुन्दर और आकर्षक हैं। राजा के केश विन्यास के विविध प्रकार दिखायें गये हैं। कभी बालों की लटें लहराती हुई और कभी वे आधुनिक न्यायधीशों की टोपी की तरह दिखलाई देते हैं। स्त्रियों के आभूषण उनको ढक नहीं लेते हैं जैसा परवर्ती कला में दिखलाई पड़ता है। संख्या में वे कम है किन्तु सौन्दर्य में उत्कृष्ट उनकी साड़ियां और ओढ़नियां संदर्भरूचि पर बिना आघात किये उनके सौन्दय्र का आविष्कार करती हैं।

घोड़ों के बालों के सुन्दर गहने, उनके सिर पर का तुंस आकर्षक रूप से दर्शाये गये हैं।

साहित्यिक पुनरूत्थान, जो गुप्तयुग की एक विशेषता है, सिक्कों में भी प्रतिबिम्बित होता है।

भारतीय मुद्राशास्त्र में सर्वप्रथम गुप्त सिक्कों पर ही मुद्रालेख छन्दोबद्ध मिलते हैं।[3] काव्य की दृष्टि से भी उनका दर्जा ऊँचा है। यह सम्भव नहीं हे कि अधिकांश गुप्त सम्राटों ने

---

[1] के0एम0 शेमबवेरकर- द ग्लेमर एबाउट दि गुप्ताज, पृ0 123

[2] आर0के0 मुकर्जी- द गुप्ता एम्पाअर, पृ0 119

[3] मुद्रलेखों की छन्दोबद्धता को प्रथम पहचानने का श्रेय जांन एलन को है।

साहित्यिक प्रवृत्ति रखते हुए मुद्राओं को अपनी काव्यमय पंक्तियों से सुशोभित किया हो। साधरणतः उपगीति, पृथ्वी, उपजाति तथा वंशस्थाविल छन्दो में काव्य पंक्तियाँ मिलती है। यह एक ध्यान रखने लायक बात है कि गुप्त समाटों के पश्चात् किसी भी राजा ने अपने मुद्रालेख छन्दोबद्ध करने की प्रथा का अनुसरण नहीं किया है। हां मौखरी, हूण तथा वहनि वंश की मुद्राओं पर "विजितावनिरवनिपतिः श्री (.....) दिवं जयति, यह काव्यपंक्ति मिलती है किन्तु वह एक गुप्त मुद्रालेख का अनुकरण है।

गुप्त स्वर्णमुद्राओं के प्रकार :-

प्रथम चन्द्रगुप्त के पितामह श्रीगुप्त तथा पिता घटीत्कच प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण शासक नहीं थे अैर उन लोगों ने किसी प्रकार के सिक्कों का प्रचलन नहीं किया प्रथम चन्द्रगुप्त ने मुद्रा संचालन तब शुरू किया जब सम्भवत शासन के अन्तिम भाग में उसने महाराजधिराज की उपाधि धारण की। इस समय गुप्त साम्राज्य एक प्रकार का द्वैराज्य[1] था। उसमें गुप्त और लिच्छवि वंशों के समान अधिकार थे। प्रथम चन्द्रगुप्त की मुद्रा से इस राजनीतिक परिस्थिति का आभास मिलता है। उसमें केवल एक प्रकार की ही मुद्रा प्रचिलित की थी, जिसके पुरोभाग पर राजा तथा रानी की आकृतियां है तथा पृष्ठभाग पर शक्तिशाली लिच्छावी वंश का नाम अंकित है जहां रानी उत्पन्न हुई थी।[2] द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक भी सिक्का प्रथम चन्द्रगुप्त का नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि सभी पर विक्रम था सिंह विक्रम अथवा अजितविक्रम जैसे विक्रत शब्दयुक्त मुद्रालेख मिलते हैं। अभी तक कोई भी प्रमाण नहीं मिला है कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने यह उपाधि धारण की थी। बेली का कथन था कि उसे संग्रह की सीथियन ढंग की कुछ मुद्रायें प्रथम चन्द्रगुप्त की हो सकती हैं। परन्तु वे स्वयं निःसंदेह रूप से इन सिक्कों पर बाँह के नीचे

---

[1] दो राजाओं के द्वारा जिन राज्यों में साथ- साथ राज्य संचालन किया जाता है उसे प्राचीन भारतीय शास्त्रकार द्वैराज्य कहते थे।

[2] जॉन एलन के अनुसार ये सिक्के समुद्रगुप्त के है न क चन्द्रगुप्त प्रथम के।

"चन्द्र" नहीं पढ़ सके थे और न इन मुद्राओं के चित्र छापे गये हैं, जिससे हम इस लेख के अस्तित्व की जांच नहीं कर सकें। किन्तु ब्रिटिश संग्रहालय में ऐसे दो सिक्के हैं जिनमें बांह के नीचे विवादास्पद लेख के अतिरिक्त ध्वजा के बाहर भी लेख वर्तमान है। इनमें से एक को जे0ए0एस0बी0 1884, फ0 3, 4 पर प्रकाशित किया गया है। कनिघंम ने भी एक इसी प्रकार का सिक्का प्रकाशित किया है। इस नमूने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह लेख "भद्र" है जिसे "चन्द्र" भी भ्रम से पढ़ा जा सकता है। चूँकि बेली स्वयं इस लेख के विषय में संदेहपूर्ण है और इस प्रकार के अन्य सिक्कों पर इसे भद्रण भी पढ़ा जाता है। इस कारण ऐसे प्रमाण नहीं मिलते जिनके आधार पर पर यह कहा जा सके कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने ध्वजधारी मुद्राओं का प्रचलन किया था।

डा0 छाब्रा ने यह सुझाव रखा।[1] कि जिस दण्डधारी सिक्के के पृष्ठभाग पर परम भागवत लिखा है वह प्रथम चन्द्रगुप्त का है, द्वितीय का नहीं। किन्तु उनके प्रमाण कसौटी खरे नहीं उतरते। चूँकि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने पर्यकवाले मुद्रा के पृष्ठभाग में ध्वज का प्रयोग किया है इसलिये ध्वजधारी प्रकार की मुद्रा उसी की ज्ञात होती है। अभी तक ऐसे प्रमाण नही मिले हैं कि प्रथम चन्द्रगुप्त में परमभागवत का विरूद धारण किया था, इसलिये भी यह मुद्रा द्वितीय चन्द्रगुप्त की माननी पड़ेगी। अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने केवल राजा रानी प्रकार के सिक्के ही प्रचिलित किये थे, न कि अन्य किसी प्रकार के।

प्रथम चन्द्रगुप्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त में लम्बी अवधि तक राज्य किया उसकी छह विभिन्न प्रकार की मुद्रायें अभी तक मिली हैं[2] उनमें ध्वजधारी सिक्का अत्यधिक प्रचिलित है, जो तीसरी सदी के मध्य पंजाब में प्रचिलित शक राजाओं के सिक्कों का घनिष्ठतम अनुकरण करता है।

---

[1] जे0एन0एम0 आम्– 11–15 ,

[2] रीता शर्मा– प्राचीन भारत , पृ 318

इसमें राजा बायें हाथ में ध्वज लिये खड़ा है और दाहिने हाथ से यज्ञदेवी पर आहुति छोड़ रहा है। सीथियन मुद्राओं पर के त्रिशूल का स्थान गरूणध्वज ने लिया है, गरूण गुप्त साम्राज्य का राजकीय लांछन था। समुद्रगुप्त ने आगे चलकर धनुर्धारी तथा परशुधारी प्रकार के सिक्के प्रचिलित किये जिनको ध्वजधारी प्रकार भारतीय अवतार माना जा सकता है। हिन्दू शिष्टाचार के अनुसार राजा अपने हाथ में ध्वजधारण करना उचित नहीं समझता और दाहिनी ओर गरूण ध्वज की उपस्थिति से बाई ओर राजा के हाथ का ध्वज व्यर्थ सा हो जाता है।[1] इस कारण इसके स्थान पर बायें हाथ में धनुष रखा गया और दाहिने हाथ में आहुति की जगह बाण। इस प्रकार धनुर्धारी प्रकार के सिक्कों का आविष्कार हो गया जो गुप्तवंश के अन्त तक लोकप्रिय बना रहा। परशुधारी प्रकार की मुद्रा में ध्वज के स्थान पर परशु अंकित किया गया। इसमें एक वामन सेवक राजा के सम्मुख खड़ा है। इस प्रकार की मुद्रा से यह तात्पर्य समझा जाता है कि सम्राट किसी ऊँचे स्थान से युद्ध की प्रगति देख रहा है तथा सम्मुख स्थित दूत के द्वारा समाचार सुन रहा है जो युद्ध स्थल से शीघ्र ही आया है। परशुधारी प्रकार की मुद्रा पर समुद्रगुप्त के लिये कृतान्तपरशु का विरूद दिया गया है, जो गुप्तवंशीय लेखों में केवल उसके लिये प्रयुक्त है। उसके उत्तराधिकारियों में किसी ने भी इसे नहीं अपनाया। अपने विविध मनोविनोद के प्रकार और दिगन्तव्यापी पराक्रम हमारे मुद्रा प्रकारों से प्रजाजन को विदित हो– ऐसी समुद्रगुप्त की इच्छा थी। फलस्वरूप, व्याघ्रनिहन्ता वीणाधारी तथा अश्वमेघ वलो सिक्के निकाले गये व्याघ्रनिहन्ता,प्रकार के सिक्के उसके आखेट से प्रेम को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार के सिक्के कम मिले हैं, पर वे अत्यन्त सुन्दर है। इन मुद्राओं पर आभूषणधारी धोती पहने हुए राजा के आखेट समय का आवेश अत्यन्त सफलता से चित्रित किया गया है। वीणाधारी मुद्रा अवकाशकालीन राजा के वीणा वादन से प्रेम की अभिव्यक्ति करती है हो सकता है कि इन मुद्राओं पर पाटिलपुत्र महल की छत पर ग्रीष्म काल के संख्या समय में पर्यंक पर बैठ कर वीणा वादन से मनोविनोद करने वाले राजा का चित्र हमारे सामने उपस्थित किया गया है।[2] प्रयाग की

---

[1] सदाशिव आल्तेकर– गुप्तकालीन मुद्रायें। पृ0 33

[2] ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलॉग पृ0 78

स्तम्भ प्रशस्ति में कहा गया है कि संगीत कला में समुद्रगुप्त नारद तथा तम्बरू से भी अधिक निपुण थे, इसलिये यह आश्चर्य की बात नही कि राजा ने अपने संगीत प्रेमी प्रजाजनों को अभिव्यक्ति करने के लिये वीणा प्रकार के सिक्के संकलित किये हैं। अश्वमेघ प्रकार की मुद्रा समुद्रगुप्त के प्रसिद्ध दिग्विजय की उद्‌घोषित करती है। जैसा गुप्त प्रशस्तिकारों ने वर्णन किया है कि अश्वमेघ यज्ञ बहुत ससमय से लुप्तपांय था, वैसा शायद नहीं था। तब भी यह निस्संदेह माना जा सकता है कि समुद्रगुप्त ने अभूतपूर्व ठाटबाट से अश्वमेघ यज्ञ किया था। उसी के स्मारक स्परूप अश्वमेघ सिक्के प्रचिलित किये। निमन्त्रित विद्वान ब्राह्मणों तथा पुराहितों को दक्षिणा देने में वे सर्वप्रथम उपयोग में लाये गये होंगे।

प्राचीन भारतीय मुद्राओं में वीणाधारी, व्याघ्रनिहन्ता तथा अश्वमेघ प्रकार की मुद्राएं अत्युच्च कला के नमूने मानी जाती हैं रखालदास बनर्जी ने इन मुद्राओं को रूढ़ प्रकार के सिक्के माने हैं।[1] परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि ध्वजधारी, धनुर्धारी तथा परशुधारी प्रकारों की मुद्राओं का निर्माण जिस कुशलता तथा सावधानता इन मुद्राओं को नियमित प्रकार की मुद्रा मानते हैं। न जाने, क्यों वे वीणा प्रकार के सिक्कों को एक दूसरी तरह के समझते हैं।

यह सत्य है कि वे बहुत दुष्प्राप्य है, पर समुद्रगुप्त के धनुर्धारी तथा परशुधारी प्रकार भी उसी तरह के हैं। अश्वमेघ सिक्का परशुधारी प्रकार भी उसी तरह के हैं। अश्वमेघ सिक्का परशुधारी तथा धनुर्धारी मुद्राओं से अधिक संख्या में मिलता है।[2]

समुद्रगुप्त की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर ऊँचे सिंहासनारूढ देवी की मूर्ति ही अधिकतर पाई जाती हैं। यह कुषाण ढं गा अनुकरण है और ध्वजधारी तथा धनुर्धारी सिक्कों पर उत्कीर्ण है।

---

[1] दि एज ऑव इम्पीरियत गुप्ताज, पृ0 215-16 : आर0डी0 बनर्जी

[2] द केटैलाग आफ कॉइन्स इन गुप्ता एज- ए0के0 कुमारस्वामी। पृ0 142

परशुधारी प्रकार की मुद्रा में इस मूर्ति की भारतीयकरण के फलस्वरूप देवी का चरण पादुका के स्थान पर कमल दिखाई पड़ता है। वीणाधारी प्रकार में देवी बेंत की बनी तिपाई पर बैठी है। व्याघ्रनिहन्ता प्रकार में देवी मकर पर खड़ी है। शायद कलाकार उसको गंगा के स्वरूप में दिखलाना चाहते थे। अश्वमेघ मुद्रा के पृष्ठभाग पर रानी दन्तदेवी खड़ी है, जिसके कन्धे पर चवर विराजमान है और वह यज्ञीय अश्व के समीप परचारिका की तरह दिखलाई पड़ती है।

चूँकि काच का शासन थोड़े समय तक रहा, इसलिये उसने एक ही चक्रध्वज प्रकार का सिक्का चलाया था। इसमें राजा चक्रध्वज को धारण किये हुए है और दाहिने हाथ से आहुति दे रहा है। पृष्ठभाग पर एक देवी खड़ी हैं जैसी पहले के व्याघ्रनिहन्ता मुद्रा पर अंकित हैं। काच के इस प्रकार ~~का प्रकार~~ का पीछे के किसी राजा ने अनुकरण नही किया।[1]

द्वितीय चन्द्रगुप्त के आठ प्रकार के सिक्कों का अभी तक पता है। आश्चर्य तो यह है कि पिता के समय के अत्यन्त लोकप्रिय ध्वजधारी प्रकार को वह अत्यन्त ही कम काम में लाया है। उस प्रकार के केवल एक ही सिक्के का पता लगा है। धनुर्धारी मुद्रा, जिसे समुद्र ने कम प्रचिलित किया था द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। बयाना की निधि में चन्द्रगुप्त की 972 मुद्राओं में 798 सिक्के इसी प्रकार के मिले हैं।[2] प्रारम्भ में निकाली गई मुद्राओं में देवी ऊँचे पीठवाले सिंहासन पर बैठ दिखलाई गई है जैसा कि कुषाण सिक्कों पर मिलता है। किन्तु शीघ्र ही उस देवी को कमलासन पर बैठी लक्ष्मी बना दिया गया। इस लोकप्रिय मुद्राप्रकार के पुरोभाग तथा पृष्ठभाग पर मनोहारी विविधता दिखलाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। द्वितीय चन्द्रगुप्त का सिहंनिहन्ता प्रकार उच्चकला का

---

[1] आर0के0 मुकर्जी– एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ0 320

[2] जे0पी0 मेहता– चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, पृ0 173

एक सुन्दर नमूना है। इस प्रकार के कुछ सिक्के तो निस्संशय भारतीय कला के सर्वोत्तम उदाहरण है।[1] मुद्रा निर्माताओं ने इस प्रकार में राजा और सिंह को अनेक ढंगों से दिखलाया है। किसी में सिंह राजा के दाहिने हैं और कभी बांये। किसी में राजा से डटा हुआ सामना करता है तो किसी में वह राजा पर झपट रहा है। कभी राजा सिंह पर तनकर प्रहार करता है तो कभी सिंह राजा से भाग रहा है। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने नये प्रकार की मुद्राओं में अश्वरोही तथा छत्रधारी प्रकार के सिक्के अधिक प्रचिलित हैं।[2] पहला प्रकार यह बतलाता है कि चन्द्रगुप्त अपने समकालीन राजाओं में कुशल अश्वारोही था। दूसरा प्रकार इन गुप्त शासकों के एक छत्र राज्य की ओर संकेत करता है और उसके महान साम्राज्य की घोषणा करता है। चन्द्रगुप्त के पर्यक प्रकार का सिक्का सम्भंवतः पिता के वीणा प्रकार का रूपान्तर है। इस प्रकार से क्या अभिव्यंजित करने का प्रयास किया गया है यह कहना कठिन है पर मुद्रा पर एक रूपाकृति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पर्यक पर बैठकर राज्य किसी प्रकार का अभिनय देख रहा हो। उस तरह के आसन पर बैठे राजा रानी की एक स्वर्ण मुद्रा मिली है जो राजा को व्यक्ति जीवन में एक घरेलू दृश्य दिखलाता है। इस राजा के चक्रविक्रम प्रकार की एक स्वर्णमुद्रा प्राप्त हुई है जिसपर राजा का व्यक्तिगत नाम नहीं है। पृष्ठभाग के चक्रविक्रम मुद्रालेख से पता चलात है कि उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही प्रचिलित किया था। पुरोभाग पर विष्णु खड़े हैं उकना प्रभामण्डल वर्तुलदृयमुक्त है। उनके सामने प्रभामण्डल युक्त राजा खड़ा है। विष्णु भगवान उसे भेंट दे रहे हैं, जिसे लेने के लिये

---

[1] जे0 एलन0-केटेलॉग ऑफ कॉइन्स। पृ0 62

[2] प्रो0 दामोदर कोसाम्बी– प्राचीन भारत की संस्कृति व सभ्यता , पृ0 183

सम्राट में दाहिना हाथ फैलाया है।

द्वितीय चन्द्रगुप्त की स्वर्णमुद्राओं के पृष्ठ भाग पर बैठी हुई देवी की आकृति है। अधिकतर वह कमलासन पर बैठी है। पर कुछ सिक्कों पर कुषाण ढंग से पीठ वाले ऊँचे सिहांसन पर बैठी है। अश्वारोही प्रकार की मुद्रा पर वह बेंत के बने, मोढ़े पर बैठी है। छत्रधारी मुद्राओं पर देवी कभी सम्मुख खड़ी है तो कभी बायी ओर। कभी–कभी वह बांयी ओर चलती दिखाई गयी है। सिंह निहन्ता प्रकार में वह सिंह पर बैठी है।[1]

प्रथम कुमार गुप्त ने बहुत लम्बी अवधि तक राज्य किया जो बस्वंश में वैभवपूर्ण था उसने उतने प्रकार की स्वर्णमुद्रायें प्रचिलित की जितने कि उसके पिता या पितामह मिलकर निकाल चुके थे। अभी तक चौदह प्रकार की मुद्रायें ज्ञात है और सम्भव है कि कुछ अन्य का भी पता लग जाये। धनुर्धारी, अश्वारोही सिंहनिहन्ता तथा छत्रधारी को कुमारगुप्त ने जारी रखा। इन प्रकारों में छत्र प्रकार के सिक्के दुर्लभ है, दूसरे सारे प्रचुर संख्या में मिलते हैं, कुमारगुप्त ने अपने पितामह के वीणाधारी, अश्वमेघ तथा व्याघ्रनिहन्ता प्रकार को और प्रपितामह के राजा रानी प्रकार को पुनर्जीवित किया। कुमारगुप्त ने अनेक विल्कुल नये प्रकार की मुद्राओं का भी प्रचलन किया था। उसकी कार्तिकेय प्रकार की मुद्रा में उस देवता का आदर किया गया है, जिससे राजा का नामकरण "कुमार" हुआ। उसका खंगधारी सिक्का प्रायः यह व्यक्त करता होगा कि राजा तलवार चलाने में कुशल था आखेट के सम्बन्ध में प्रथम कुमार गुप्त के तीन नये प्रकार के सिक्के प्रचिलित किये गये– हपला "गजारोही, दूसरा "खंगनिहन्ता" तथा तीसरा "गजारूढ़ सिंह निहन्ता"। "अप्रतिध" प्रकार के सिक्के की गूढ़ता अभी तक हल नहीं हो पाई है।[2]

कुमार गुप्त की स्वर्णमुद्राओं के पृष्ठभाग पर देवी की आकृति है। केवल कार्तिकेय

---

[1] वी0एस0 अग्रवाल– गुप्तकालीन कला। पृ0 97

[2] आर0एन0 दाण्डेकर– लाइफ इन द गुप्ताएज। पृ0 130

प्रकार में देवी की जगह कार्तिकेय दिखाये गये हैं। अश्वमेघ प्रकार में महिषी यज्ञ पशु की परिचर्या में चंवर के साथ खड़ी है। प्रायः देवी कमलासन पर बैठी अंकित की गई है किन्तु कभी वह बेंत के मोढ़े पर विराजमान है तो कभी मोर को खिला रही है, जो अश्वारोही व्याघ्रनिहनता तथा गजारोही सिंह निहनता वाले सिक्कों में स्पष्ट होता है। सिंह निहन्ता प्रकार में पुराने ढंग का पालन हुआ है और देवी सिंह पर बैठी दिखलाई पड़ती है। गजारोही प्रकार में देवी सम्मुख खड़ी है।[1]

प्रथम कुमार गुप्त के शासन का अन्तिम समय अत्यन्त दुखमय रहा जिसके फलस्वरूप राजकीय कोष पर विषम आर्थिक संकट या कठिनाईयों आई किन्तु कुमार गुप्ता ने हीन स्वर्णमुद्रा प्रचिलित नहीं की। परन्तु चांदी पानी के सिक्कों के प्रचलन के लिये उसे बाध्य होना पड़ा।

स्कन्दगुप्त के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात गुप्त साम्राज्य की अवनति होने लगी, जिसके अनेक प्रकार के प्रतिविम्ब मुद्राओं में मिलते हैं। गुप्त साम्राज्य के वैभवकाल में स्वर्णमुद्रा प्रकारों में जो आकर्षक विविधता और मौलिकता दिखाई देती हो। वह अब लुप्त होने लगी। स्वर्णमुद्राओं की तौल तो 120 ग्रेन से बढ़कर 144 ग्रेन की गई जो कि भारतीय परम्परा के सुवर्ण सिक्कों की थी। किन्तु स्वर्णमुद्राओं में शुद्ध सुवर्णांश अभी 40 फीसदी ही रहने लगा।[2]

केवल दो प्रकार के मुद्राओं को स्कन्दगुप्त ने अधिक संख्या में चलाया[3] एक प्रकार था धनुर्धारी, जो पहले के शासन में लोकप्रिय था। दूसरा प्रकार सर्वथा नवीन और मौलिक था, जिसमें यह दिखलाया गया था कि लक्ष्मी राजा को मानो गुप्त साम्राज्य समर्पित कर रही है जिसका सुडेत एक प्रशस्ति में भी किया गया हे। बयाना की निधि मे छत्रधारी प्रकार का एक अद्वितीय सिक्का मिला है, जिसके पृष्ठ पर "क्रमादित्य" मुद्रालेख उत्कीर्ण है। सम्भवतः यह स्कन्दगुप्त की मुद्रा है। वही स्थिति

---

[1] ए0एस0 आल्तेकर– केटैलांग आफ गोल्ड काइन्स, पृ0 76

[2] भ0श0 उपाध्याय– प्राचीन कला की भूमिका, पृ0 102

[3] वी0डी0 महाजन– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 542

अकेले अश्वारोही मुद्रा की भी है जिस पर पृष्ठ की ओर "क्रमजित" खुदा है। स्कन्दगुप्त का विरूद क्रमादित्य था।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी धनुर्धारी प्रकार के ही सिम्के तैयार कराते रहे यही स्थिति पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त, द्वितीय कुमारगुप्त, विष्णुगुप्त तथा वैन्यगुप्त के शासन में रही। इन राजाओं की मुद्रा मिश्रित सोने की धातु की है जो तोल में 144 ग्रेन से भी अधिक है। पिछले गुप्त मरेशों में केवल प्रकाशादित्य ने स्वर्ण तौल के शुद्ध सोने की मुद्रा तैयार की थी। "प्रकाशादित्य" किस गुप्त सम्राट का विरूद था यह अब तक मालूम नहीं हुआ है।

मिट्टी की मुहरे :-

भारतीय पुरातात्विक खुदाईयों में विपुल संख्या में मिट्टी की मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। भीटा बसाढ़ कोशम्बी आदि स्थानों से मिली।

गुप्तकाल की कलाकृतियो में एक नये प्रकार की ताजगी थी। गुप्कालीन कलाकृतियां सर्वथा स्वाभाविक व यथार्थ व सहज थी। न तो वह शुंग काल सी चिपटी थी न ही कुषाण काल की सी गोल बल्कि गान्धार शैली की आकृतियों की तरह प्रकृत अण्डाकार हो गई। अब कलाकार उन्हें कला के प्रतिष्ठित मानदण्डो, सौन्दर्य भावों से नहीं, सीधे प्रवाहित जीवन से लेने लगा। बुद्ध जिन की समाधिस्थ मूर्तियों के उल्टे अंगूठे अपनी काष्ठरूपता छोड़ मांसल हुये। पुरूष और नारी ने नये केशकलाप धारण किये। पुरूषों के कुंचित कुन्तल कन्धों तक लटकने लगे। बनाई हुयी संभवतः नकली लटें भी प्रयुक्त होने लगी। नारी ने कुषाणकालीन केश प्रसाधन में प्रयुक्त सामने का वृत्त बनाना छोड़ अलक-जाल धारण किया। सीमन्त की रेखा खींच वह सीमन्तिनी बनी। उसके आभूषण सुरूचिपूर्वक चुने जाकर अल्पसंख्यक हुये, वास्तविक अलंकरण बन गये।

अध्याय-८

छवि अंकन में प्रतीकात्मकता

छवि अंकन में प्रतीकात्मकता

मानव एक प्रतीकपरक प्राणी है जो कला, विज्ञान, धर्म, मिथक तथा भाषा आदि प्रतीकात्मक विधानों के द्वारा वास्तव का प्रक्षेपण और परिज्ञान करता है। जीवन और जगत के सानिध्य से उत्पन्न प्रक्रियाओं को अभिव्यक्त करने की दिशा में मानवीय चेतना स्वभावतः ही अग्रसर होती है। अभिव्यक्ति अनेक रूपों में सामने आती है, जैसे– साहित्य, कलायें, धर्म, दर्शन तथा भाषायें आदि। ये अनुभव अपनी सूक्ष्मता अतीन्द्रियता, अमूर्तता तथा जटिलता के कारण सहज सम्प्रेषणीय नहीं हो पाते। अभिव्यंजना के सहज लोक स्वीकृत सामान्य मार्ग उनको व्यक्त करने में सफल नहीं होते। अतः योग्य मार्ग का चयन करने की प्रक्रिया को मानवीय चेतना कोई चिन्ह, कोई अभिप्राय कोई बिम्ब, कोई रूपक गढ़ती है जो उन अनिर्वचनीय अनुभवों को अन्य जनों के लिये ग्राह्य बनाने के हेतु अनुषंग और साहचर्य का सहारा लेते हैं। गूढ़ अदृश्य अर्थों, स्थितियों उपादानों आदि का प्रतिनिधित्व करते थे उनसे इतने सम्पृक्त हो जाते हैं कि क्रमशः रूप होकर अपने मूल अर्थों की प्रधानता खोकर उन्हीं अर्थों आदि को प्राधान्य से विवृत करते हैं। प्रतिनिधित्व को यह स्थिति प्रतीक–सृजन का मूल होती है।

अनेक भारतीय तथा विदेशी विचारकों में प्रतीक पर विवेचनात्मक विचार किया। प्रतीक के सम्बन्ध में उनकी धारणायें समान नहीं है। यहां तक कि कभी–कभी वे परस्पर विरोधिनी भी हैं। केसिरेर अधिकार भाषा के सम्बन्ध में चर्चा करते हुये प्रतीकात्मकता का विवेचन करते हैं। भाषा प्रतीकात्मक होती है। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि ऐन्द्रिकता और बुद्धि प्रतीक विधान में योग देते हैं। उनकी मान्यता है कि बिम्बो से ही प्रतीक बनते हैं।

प्रतीक को परिभाषित करते हुए ह्वाइटहेह मानते हैं कि चूँकि समग्र सृष्टि की अभिव्यक्ति प्रतीकमूल है। अतः मानव जीवन और जगत प्रतीकों से भरा पूरा है। वे कहते हैं कि मानवीय अनुभव के कुछ घटक जब सचेतना, विश्वास, संवेग एवं प्रयोग को अन्य घटकों के सन्दर्भ में

प्रकाशित करने लगते हैं तो मानवीय चित्त प्रतीकातमक ढंग से कार्य करने लगता है। डब्ल्यू0बी0 यीट्स ने सच्ची कला की अभिव्यक्ति सक्षम तथा प्रतीकात्मक बताया है। वह अपने प्रत्येक रूप, प्रत्येक नाद, हर एक रंग, हर अनुभूति के द्वारा किसी विश्लेष्य तत्व का संकेत करती हे यद्यपि उसकी प्रतीकपरक निश्चियात्मकता या स्थिरता गणित तुल्य नहीं होती।

जार्ज बैली प्रतीक से प्रतीकात्मकता का आशय लेते हैं तथा मानते हैं कि प्रतीक कला के प्रमुख वेशिष्ट्य की, उन कलात्मक तत्वों की जो तुरन्त "महत्वपूर्ण" को संकेन्द्रित करते हैं, पहचान करतो हैं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार प्रतीक किसी वस्तु को दिया गया नाम हे जो मन में किसी अगोचर किन्तु अनुभवनीय वस्तु का आभास कराते हुये प्रतिनिधित्व करता है। बेब्सटर के अनुसार प्रतीक सम्बद्ध आसंज परम्परा अथवा संयोग के आधार पर किसी कार्य का संकेत करता है। सादृश्य उसके मूल में नहीं होता उसे प्रमुखतः अभिव्यंजना से सम्बन्ध वस्तु का मूर्त संकेत कहा जा सकता है।

प्रतीक मुख्यतः अर्थव्यंजना से सम्बद्ध होता है यद्यपि आकार तथा धर्मसाम्य भी कभी–कभी उसके मूल में होता है। नेत्रों के लिये प्रयुक्त होने वाला "मीन" आकार साम्य पर आधारित है। अनेक स्थितियों में एक ही प्रतीक से परस्पर सम्बद्ध कई अर्थों की व्यंजना होती है अर्बन के अनुसार भाषा का विकास प्रतीकों और भाषा के अर्थ गर्भ संघटन पर आश्रित होता है वे प्रतीक को प्रत्यक्ष अथवा अभिधार्यक प्रतिनिधि नहीं मानते अपितु लाक्षणिक तथा अन्तर्दृष्टिमूलक मानते हैं।

जो प्रतीक जितने अधिक अर्थ को व्यंजना करता है उतना ही श्रेष्ठ होता है। कलात्मक प्रतीक अनुभविता की अनुभूति विशेष अथवा स्थिति विशेष की अभिव्यंजना करते हैं यद्यपि अर्थगत निश्चितता अनिवार्य नहीं होती किन्तु अनुभूति को व्यक्त करने की विशेष क्षमता होती है। वस्तुतः यह अधिक गहन अभिवयिक्त प्रकार के है जिसमें सूक्ष्म अर्थ स्तरों को उद्घाटित करने की क्षमता होती है।

"प्रतीकात्मक भाषा वह है जिसमें बाह्य संसार हमारे अन्त:संसार का हमारी आत्मा और मन का प्रतीक रहता है।

प्रतीक सामान्यतः इन्द्रियों अथवा कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत कोई वस्तु है जिसका किसी अन्य वस्तु के लिये प्रयोग होता है ये प्रतीक शिल्पगत कलात्मकता के साथ-साथ नन्दविक मूल्य रखते हैं तथा सक्षमतया उसके विचारों का सम्प्रेक्षण करते हैं। प्रतीक प्रतीकेय से घनिष्ठ साम्य रखता है तथा प्रतीकेय का महत्व बढ़ाता है "हिन्दी साहित्य कोश" में प्रतीक को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य वसतु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य विष्य का प्रतिवधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वास्तु प्रतीक है। प्रतीकों का प्रयोग अचेतन की प्रस्तुति के लिए किया जाता है तथा अचेतन केवल प्रतीकों के माध्यम से श्रेय है। स्वभावतः प्रतीकात्मकता की व्याख्या सरल नहीं है।

बिम्ब का सृजन हो सकता है। प्रतीक का नहीं कालान्तर में ये बिम्ब ही प्रतीक बन जाते हैं तथा स्पर्श से ही जाग्रत हो उठने की जीवन्तता लिए ये शताब्दियों तक मानवीय चेतना में स्थापित पड़े रहते हैं। जैसे ही मनुष्य प्रत्युत्तर के प्रति असंवेदनशील हो उठता है ये मुरझाकर समाप्त हो जाते हैं। कलाकार कितने ही सहज या अविचारित रूप से प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करें, प्रतीक उसकी क्रियाशील चेतना के सुनियोजित अंश होते हैं तथा स्वतंत्र सत्ता और अस्मिता रखते है। मूलतः प्रतीक मन से सम्बद्ध होता है। कला, संस्कृति धर्म तथा भाषा के तन्तु प्रतीकों का जाल बुनते हैं। समग्र मानव जीवनानुभव प्रतीकों का एक अटूट तथा जटिल जाल है।

मानवीय अनुभव की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। अध्ययन के उन विभिन्न क्षेत्रों में प्रतीक का प्रयोग प्रथक-प्रथक सन्दर्भों में होता है। प्रतीक धर्म, दर्शन, कला, मनोविज्ञान आदि

के क्षेत्रो में बहुलता से प्रयुक्त होता है। वस्तुतः समस्त मानवीय चिन्तन प्रतीकात्मकता से संयुक्त है। यहां तक कि व्यवहारिक जीवन में भी प्रतीकों का बाहुल्य रहता है। ध्वज किसी देश के सम्मान, गौरव तथा अदम्य प्रभुसत्ता सम्पन्नता का प्रतीक है तो विभिन्न सामाजिक रीतिरिवाज, धार्मिक क्रियाकल्प सम्बद्ध मानव समुदाय की चेतना तथा सांस्कृतिक उपलब्धि का। विभिन्न विवाह पद्धतियां तद–तद् जातियों के दाम्पत्य के प्रति विचार को प्रतीकायित करती है। मूर्तिपूजा परमात्मा के प्रति सम्बन्ध को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त करती हैं। तंत्रशास्त्र के "श्री" आदि चक्र अपने आप में सम्पूर्ण दर्शन के प्रतीक हैं।

"श्री चक्रं वियत् चक्रम् ।"

वियत अर्थात् आकाश श्री समग्र सृष्टि का प्रतीक है। यह पिंड का भी प्रतीक है और ब्रह्माण्ड का भी।

विभिन्न क्षेत्रो में प्रतीक स्वरूप गुण में परस्पर भिन्न होते हैं। धर्म के प्रतीक कला के प्रतीकों के समान रंजकतापूर्ण नहीं होते। दर्शन के प्रतीक धार्मिक क्षेत्र साधना क्षेत्र में आकर अनेकशः तद्‌वत् स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। धर्म और दर्शन के कुछ ऐसे प्रतीक, जो सीमितता से मुक्त होते हैं, बहुधा नंद त्रिकप्रतीकों के समान सीमित विस्तार तय हो जाते हैं। ऐसे प्रतीक साहित्य तथा कला के लिये उपयोग भी प्रमाणित होते हैं जैसे अनेक ज्यामितीय प्रतीक, स्वास्तिक तथा यन्त्र चित्रकला में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के उपादान रूप में प्रयुक्त होंते हैं।

विज्ञान के प्रततीक संकेतात्मक होने पर भी निश्चित सीमा में आबद्ध रहते हैं तथा चिन्ह की भांति कार्य करते हैं किन्तु कला के प्रतीक भावोदबोध तथा विचारोदबोध क्षम होते हैं तथा परिणामतः किसी सीमा से बंधे नहीं होते कला के प्रतीक भावनामूलक होते हैं। कला के प्रतीक जीवन के आत्मपक्ष को भी आत्मसात किये रहते हैं। वे मनुष्य के मन के अन्तरंग पक्ष को उद्‌घाटित करते हैा

कभी–कभी एक उषेला प्रतीक जीवन, जन्म, मृत्यु, प्रेम, जुगुप्सा, भय अमरत्व की आकांक्षा आदि विविध पक्षों को प्रकाशित करता है। प्रतीक को प्रतीकार्य से विघटित नहीं किया जा सकता यदा–कदा इनका प्रतीकेय से विनमय किया जा सकता है किन्तु यह सर्वदा नहीं हो पाता। असीम का ससीम के द्वारा, विशाल का लघु के द्वारा महत्वपूर्ण का तुच्छ के द्वारा, निर्बन्ध का प्रतिबन्ध के द्वारा तथा ब्रह्माण्ड का पिण्ड के द्वारा प्रस्तुतीकरण प्रतीकात्मकता के क्षेत्र में आता है। प्रतीकात्मक शैली सम्भवतः की संक्षेप, परोक्षता, संवण्डित प्रभाव शीलता महान भावात्मक तथा प्रत्ययात्मक संघनन तथा प्रखर गहनता से युक्त होती है।

शिल्प की दृष्टि से "प्रतीक" और "प्रतीकात्मक" एकांतिक रूप से एक ही नहीं है। यद्यपि मुख्यतः प्रतीक की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का साधन है तथापि प्रतीकात्मकता अपेक्षाकृत व्यापक टर्म है। रविवृत्त मूलक रचनाओं में प्रतीकात्मकता केवल शब्द प्रतीक के नियोजन से ही नहीं अन्य साधनों से भी सिद्ध होती है।

प्रतीकों का कार्य किसी अनुभव का प्रतिरूप अथवा प्रतिकृति या शाब्दिक साम्य है उसका प्रयोग कृति में सरलता की उद्‌भावना करता है, जिससे कि भावधारा या अमूर्त विचार बोध गम्य हो सके। इस प्रकार प्रतीकों का कार्य संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है। (क) किसी वस्तु की व्याख्या करना (ख) उस वसतु को स्वीकार्य बनाना (ग) पलायन के रूप में (घ) किसी प्रसुप्त या दमित भावना या अनुभव का उद्[illegible] करने की चेतना या अवगति प्रदान करना तथा (ड़) अलंकरण अथवा प्रदर्शन करना।

प्राचीन युग की जीवन विधि या साहित्य से अनेक प्रतीक कालान्तर की भारतीय संस्कृति में अपनाये गये–

(1) <u>देवता</u> :–

श्री लक्ष्मी, यक्ष, नाग, सूर्य, चन्द्र, वामन–विराट् त्रिविक्रय विष्णु, सुदर्शन चक्र, अर्धनारीश्वर, कुमार, गणपति, अदिति, उभयतः शीर्ष्णी अदिति[1] अम्बिका, ष्यमत्रक पशुपति, मातृका द्विमाता, सप्तमातरः, सप्तस्वसारः दशामातरः, विस्त्रों देवीः, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, समुद्र हिरण्य अर्भ, नारायण, दक्ष, असुर, अग्नि, सहस्त्राक्ष, नृतु (नराज), गन्धर्व, अप्सरा, ब्रह्म, वसु, रूद्र, आदित्य, भश्विन्, गणदेवता, प्रमथाः, यक्ष, राक्षस, सप्तर्षि अष्टमूर्ति शिव, कुम्भभुष्क (कुम्भाण्ड चतुर्द्रष्ट्यू श्यावतलः कुम्भमुष्कॉ असृड़मुखान[2] नारद, केशिनी (तु0 कोट्टवी और कालिका), रूद्र महादेव यम, विश्वरूपा, नारी, कश्यप, शतरूपा, त्रयस्त्रिशत् देवता[3] अग्नि सोम (अग्नि तत्व और जल तत्व, तु0 बुद्ध के अभिषक के लिये गर्म और ठण्डी जल धारायें) इत्यादि।

(2) <u>वैदिक धार्मिक एवं दार्शनिक भाव</u> :–

स्वस्तिक, दैवासुरम् (देवों और असुरों के संग्राम), त्रिविक्रम ज्योतिर्लिंग, पृथु द्वारा पृर्थिवी, दोहन, मांधाता और उत्तरकुरू का सुदर्शन नगर[4] वराह द्वारा पृथिवी का समुद्र से उद्धरण वराहेण पृथिवी संविदाना,[5] सहस्त्र पुरूष– अनन्द पुरूष (सहस्त्रात्मा), सप्तपदी, तिरश्चीन निर्गमन (इन्द्र, बुद्ध और स्कन्द का मातृकुठित से तिर्यक् जन्म), अग्नि स्कन्घ = ज्योतिर्लिंग (आग का खम्भा) इत्यादि।

(3) <u>पशु–पक्षी</u> :–

सुपर्ण, सुपक्षी, हंस, एकशीर्ष दशरीरी वत्ख (तं वत्सा उप विष्ठन्त्येकशीर्षाणो युवा

---

[1]यजुर्वेद, 4, 19
[2]अथर्वद, 11, 9, 17
[3] अथर्ववेद, 19, 27, 10
[5] अथर्ववेद, 12, 1, 48
[6] दिव्यावदान में उल्लिखित

युता दश[1] द्विशीर्ष वुषभ (दो सिरों वाला बैल), गृध्र, श्येन, वर्तिका, द्विशीर्ष्णों सुपर्णी (दो सिर की चुड़कली), सप्ताश्व, नन्दी (आनन्द का बृषभ रूप) अनन्त (सहस्त्रशीर्षा शेषनाग), वसह, वृषभधेनु (वृषमश्च धेनुः, गाय बैल का जोड़ा), 360 कील का शंकु चित्रक्र रथ, पञ्चार, षडर द्वादशार, त्रिनाभि चक्र, देवजात अश्व (महाकाल उच्चैः श्रवस्), महिस[2], महोरग (अहिवृत्र), महास्य श्वा (भौंकता कुत्ता, रेवन्त के शिकारी कुत्ते[3] चतुर्द्रंष्ट्र, सहस्त्रश्रृंग वृषभ[4], सरमा देवशुनी, हरिहंस (सुनहला हंस, हिरण्यपक्ष शकुनि[5], ऐरावत (इन्द्र का श्वेत हस्तो, तु0 तुषित स्वर्ग से उतरता हुआ श्वेत हस्ती जो बुध की माता की कुक्षि में प्रवृष्टि हुआ) इत्यादि।

(4) विविध वस्तुयें और पदार्थ :-

पूर्णकुम्भ, चक्र, यूप, स्कम्भ (स्तम्भ), इन्द्रयष्टि (त्रिभुजाकिंत ध्वज), वैजयन्ती, वेदिका, सप्तरत्न (तु0 चक्रवर्ती के सात रत्न) त्रिशूल, वज्र, वसुधारा (सुवर्ण दृष्टिहिरण्य वर्षा), देवरथ (महाकाल रूपी विश्वरथ) केतु (ध्वज), मण्डल (कुण्डल, कानों के दो कर्णाभरण) चमस (कटोरा), चमू (बड़ा घट), देवज मणि (मांगलिक रत्न अथर्व0 10/6/31) वसुधान कोश (रत्नों की पेटी अथर्व0 11/2/11) अरणी (अग्नि मंथन), धर्म (दूध औटी वाला घड़ा), अपूप (मीठा मालपुआ, सोम) (मोदक), धनुर-इधुः, कुम्भी[6], इयमेव प्रथिवी कुम्भी, चरू (पञ्चमुखी कड़ा है[7], निधि (निधान

---

[1] अथर्ववेद- 13, 4, 6
[2] ऋग्वेद- 10, 18, 9, 2
[3] अथर्ववेद- 11, 2, 30
[4] अथर्ववेद- 11, 1, 12
[5] अथर्ववेद- 13, 3, 14
[6] अर्थववेद- 11, 3, 11
[7] अर्थववेद- 11, 3, 18

कलश)[1], भुजिष्य पात्र (अन्नपूर्ण कपाल, भिक्षापात्र,[2] बुद्ध का भिक्षापात्र), चतुर्चम (तु0 चार लोकपालों द्वारा बुद्ध को दिये गये चार पात्र), मधुकोश (तु0 कपियों द्वारा बुद्ध को प्रदत्त शहद भरा कटोरा) इन्द्रासन (स्वर्ग मे इन्द्र का महान आसन, तु0 बोधिमण्ड), दैवी नाव (दिव्य संतरण नौका) आदि।

(5) वृक्ष– वनस्पति और पुष्प पौधे –

पद्य या पुष्कर, कल्पवृक्ष, कल्पलता वनस्पति, पुण्डरीक, (पुण्डरीक नवदारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्[3], हिरण्यस्त्रक्[4], पुष्करस्त्रज[5] आदि।

विविध :–

मिथुर (नरनारीमय अलंकरण), चतुस्त्रः प्रदिशः, सुमेरू (स्वर्ण पर्वत), द्यावापृथिवी (विश्व के माता–पिता, द्यौः पिता पृथिवी माता, उत्तान चमू), विमान (देवगृह), सलिलम् (आपः समुद्र), वातरशना (नग्नत्व या दिगम्बरता), महानग्न (दिगम्बर), महानग्नी (काली), पुर (देवपुरी , तु0 अयोध्या, अपराजिता पुरी), देवसदन (नाक) ग्रावाणा, उलूखलमुसल (प्राणापान), दृषदुपल, गुहा, अग्निगुहा आदि। ऊपर की सूची से ज्ञात होगा कि भारतीय कला और धर्म में वैदिक अभिप्रायों की कितनी अधिक सामग्री प्राप्त होती है वह नये–नये रूपो में विकसित हुयी और उसने कितने ही नये अलंकरणों को जन्म दिया।

---

1 अथर्ववेद– 12, 1, 44

2 अथर्ववेद– 12, 1, 60

3 अथर्ववेद– 10, 8, 43

4 अथर्ववेद– 10, 6, 4

5 यजुर्वेद– 2, 33

धार्मिक सम्प्रदाय कुछ भी हो भारतीय परम्परा में अभिप्रायों की यह बारहखड़ी नाना अर्थों को प्रगट करने के लिये एक–एक भाषा के रूप में स्वीकृत हुयी। जैसे साहित्य में भारतीय मानस की अभिव्यक्ति हुयी वैसे ही कला भी भारतीय अध्यात्म विचारों का दर्पण है। कला के मूर्त रूपों में शिल्पियों ने प्राचीन धर्म और विचारों की परम्पराओं को प्रकट किया है। भारतीय कला के सर्वांगीण अध्ययन के लिये आवश्यक है कि पुराकाल से समागत इन धार्मिक अभिप्रायों का अर्थ जाना जाय। उदाहरण के लिये कुछ की व्याख्या यहां लिखी जाती है।

श्री लक्ष्मी :–

श्री लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। विष्णु विश्व के अधिदेवता है। श्री लक्ष्मी सौन्दर्य और समृद्धि की लोक व्यापिनी अधिष्ठात्री देती है। पुरूष सूक्त के युग से आज तक श्री लक्ष्मी सुख सम्पन्न गृहस्थ की देवी मानी जाती रही। वह समुद्र की दुहिता, सरोवर की पुत्री, कमलासन पर विराजमान, कमल–वन में खड़ी पद्मिनी या पद्मालिनी देवी का रूप है। कला में प्रदर्शित दो या चार हाथी सूड़ों में आवर्जित घट उठाये हुये दिव्य जलों से देवी का अभिषेक कर रहे हैं। ये हाथी दिशाओं के सूचक दिग्गज हैं, और पूर्व घटों में भरा दिव्य जल अमृत या सोम है। कमलों के जिस सरोवर में वह दिखायी जाती है। वह इन दिव्य जलों का स्रोत है, जिसके विश्व का जन्म होता है। और उन्हें ही आपः, समुद्रः, सलिलम् कहा जाता है। पद्म या कमल उस जीवन तत्व के सूचक है जो सृष्टि के आदिकारण रूप समुद्र के मन्थन से प्रकट होते हैं ओर जिसे भागवतों द्वारा भूपद्मकोश कहा गया हे। यह ज्ञातव्य है कि प्रतीक या निदान का अर्थ निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता जाता है और उसके साथ नई–नई व्यञ्जनायें जुड़ती जाती हैं। दन्दानेदार पहियों की भांति प्रतीक के पहल नये–नये सम्पर्क बना लेते हैं। भारतीय धर्म में तो ऐसा विशेषकर हुआ है।

श्री के वृक्ष का अभिप्राय संसाररूपी वृक्ष से है। जिसे अश्वत्य कहा गया है। वही पीपल या बोधिवृक्ष हुआ। उसके भीतर की दुर्धर्ष शक्ति फूल और फलों के रूप में प्रकट होती है। वही पीपली के रूप में और बड़बट्टों के रूप में प्रकट होती है जो महती प्राणशक्ति का ही रूप है। विष्णु और लक्ष्मी विश्व के माता-पिता की प्रतीक हैं, जैसे द्यावापृथिवी शिव पार्वती या राधाकृष्ण। ये दोनों विश्व के आदि कारण हिरण्यगर्भ या हरण्याण्ड क`दो शकल या पूर्वार्ध और उत्तरार्ध है, जिनसे अनन्त स्त्री पुरूषों की परम्परा प्रवृत हुयी। विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरूषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजसृजत् प्रभुः।[1]

श्री लक्ष्मी जी का अंकन भरहुत, साँची, अमरावती, बोधगया, मथुरा, खण्डगिरि, उदयगिरि एवं पश्चिमी भारतीय गुफाओं में किया गया है। उसे किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित न मानकर समस्त भारतीय जनता के गृहस्थ आदर्श की देवी कहना ही यथार्थ है। भरहुत में उत्कीर्ण सिरिमा देवता इसी का रूप है मथुरा की दुद्धाधारणी गुप्ता में खड़ी पद्मिनी देवी भी यही हैं।[2]

<u>यक्ष</u> :-

महाकाय, मध्द्भूत की संज्ञा यक्ष थी, वह ब्रह्मा का ही दूसरा नाम था। भुवनों के अन्तराल में प्रविष्ट महद्भूत तो सृष्टि के आदि कारण जलों पर तप या अग्नि से गतिशील हो जाता है वहीं विश्व का अधिदेवता महान यक्ष था। महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये[3] वह महावृक्ष के समान है जिसकी

---

[1] मनुस्मृति- 1, 32

[2] भारतीय कला, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0- 63

[3] अथर्ववेद- 10, 7, 38

शाखाओं प्रशाखाओं पर अनेक देवों का निवास है। जीवन और विश्व के महान रहस्यमय देव का उपयुक्त प्रतीक महद्‌भूत या यक्ष के रूप में माना गया। यक्ष–पूजा लोक धर्म का व्यापक अंग थी जो ऋग्वेद का से लेकर अब तक चली आयी।[1] जैन, बौद्ध, ब्राह्मण सबने इसे समान रूप से स्वीकार किया। इन्द्र, मित्र, वरूण, अर्गमा, इनकी यक्षों से तुलना की गयी है। कालान्तर में यक्ष से बुद्ध और महावीर की भी समानता दी गयी। हर गांव में यक्ष का स्थान या चौरा बनाया जाता था और वहां वार्षिक मेला लगता था जिसे यक्षमह कहते थे। यक्ष को ही वीर कहने लगे और यह उक्ति प्रसिद्ध हुई– गॉंव–गांव को ठाकुर, गॉंव–गॉंव को वीर। जैन–बौद्ध साहित्य में कई यक्ष–चेतिय या यक्षायतनों का वर्णन आता है। इन्हें वैदिक युग में यक्षसदन कहते थे।[2]

नाग :–

नाग भी लोकधर्म के देवता थे। वे नर और व्याल विग्रह में अंकित किये गये। यह विचारधारा वैदिक अहि– वृत्र से आरम्भ हुयी । उसे ही अर्ध्बिुघ्य देवता की संज्ञा दी गयी थी। जो महासमुद्र से उत्पन्न नाग का रूप था वही अनन्त शेषनाग के रूप में विष्णु का वाहन कल्पित किया गया। नाग पाताल लोक के अधिपति थे जो देवता रूप में मान्य हुये।[3] कथाओं में नागों की मृत्यु तम और अनृत का प्रतीक माना गया और इसके विपरीत देवों को अमृत, सत्य और ज्योति का। बौद्धों ने नागों को संभ्रान्त देवों की कोटि में स्थान दिया। बुद्ध महावीर और कृष्ण के जीवन में नाग देवता की कथा है। जैसे इन्द्र ने अभिशंसी वृत्र नामक ओजायमान अहि का दमन किया था वैसे ही इन्होंने भी अपलाल, चन्द, कालिय आदि नागों को वश में किया। शिव ने विषपान करके सर्पों को अपने शरीर पर

---

[1] बुद्ध प्रकाश, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री सिवलिजेशन अध्याय– 3

[2] विलियम मोनियर– रिलीजियस थॉट्स एण्ड लाइफ इन इण्डिया पृ० - ५।

[3] जे0एन0 फर्कर– एन आउटलाइन ऑफ रिलीजियस लिट्रेचर ऑफ इण्डिया– 1920 पृ० - ३१

स्थान दिया।

सूर्य और चन्द्र :-

ये ऐसे प्रतीक है जो वैदिक युग से आज तक लोक में मान्य है। हिम और घ्रंस अर्थात् सर्दी तथा गर्मी के दो रूप चन्द्र और सूर्य है। इन्हीं के समान सृष्टि में और भी गई द्वन्द्व है जैसे- स्त्री-पुरूष, माता-पिता, प्राण-अपान, पिगंला इडा। अथर्ववेद में इन्हें अग्नि के दो रूप कहा है (तत्रैतावग्नी) आधत हिंमं घ्रंसं च रोहितः[1] एक ही रोहित देव सूर्य ने सर्दी और गर्मी इन दो अग्नियों का आधान किया। सूर्य और चन्द्र का अंकन गुप्त और सासानी कला में पाया जता है। सूर्य में पार्श्वचर दण्ड और पिंगल की कुलह टोपी पर चन्द्र दिवाकर का प्रतीक अंकित किया गया। लोकवार्ता और लोककला में चन्द्र सूर्य का रूप अभी तक लिखा गया है। यह स्फुट है कि विश्वरचना की द्वन्द्वमयी प्रवृत्ति ही अग्नि के दो रूप या चन्द्र सूर्य के रूप में मान्य हुयी। परतः प्रकाश एवं क्षयवृद्धि से युक्त है। सूर्य उच्च विज्ञान या बुद्धि का प्रतीक है और चन्द्र इन्द्रियानुगामी मन या प्रज्ञान का प्रतीक है।[2]

अर्धनारीश्वर :-

अर्धनारीश्वर नरनारीमय वपु की कल्पना का रूप है। विश्व को जन्म देने वाले सुवर्णेण्ड से उत्पन्न दो शकल स्त्री-पुरूष हैं।[3] इन्हें ही पार्वती परमेंश्वर या उमामहेश्वर कहा गया (जगतः पितरों वन्दे पार्वतीपरमेश्वरो) । शिव का लिंग विग्रह प्राण सृष्टि का रूप है और उमा-महेश्वर मैथुनी सृष्टि के जिससे स्कन्द रूप कुमार जन्म लेता है। वेदों में इसी द्वन्द्व को स्त्रीपुरूष या कुमार-

---

1 अथर्ववेद- 13, 1, 46

2 वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला- पृ0 68

3 शैव प्रतिमायें, राज्य संग्रहालय, भोपाल, 1991, पृ0 197

कुमारी कहा है (त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी[1]) प्रत्येक स्त्री अर्धभाग में पुरूष और प्रत्येक पुरूष अर्धभाग में स्त्री है (स्त्रियः सतीस्ता 3 में पुंस आहुः[2])। मिथुन या अर्धनारीश्वर अभिप्राय का यही स्वरूप है। वह अग्नि और सोम का संयुक्त रूप है। इसे कुषाण, गुप्त और मध्यकालीन कला में अंकित किया गया है। किन्तु साहित्य में इसकी मान्यता पूर्व युगों में थी ।

कुमार :-

चित्रशिशु, अद्भुत वीर, देवसेना का पति, अग्नि का पुत्र और और गंगा का पुत्र विराट् प्राण या जीवन तत्व का प्रतीक है। इसी की संज्ञा स्कन्द है। कुार को पाण्मातुर या छह माताओं का पुत्र कहा गया और कला में इसके छह सिर भी दिखायें गये हैं। इसके वान कुक्कुट और मयूर है। शक्ति इसका आयुध है ब्रह्मा और शिव इसका अभिषेक करते हैं। इसकी प्रतिमाओं के पीछे कई प्रतीकों का योग पाया जाता है। इसका जन्म शरवण या सरपत के बन में कहा गया है। जहां प्रत्येक शरकाण्ड प्राण के अंकुर या घटक कोश का प्रतीक है। कालिदास ने स्कन्द को अग्नि अर्थात् सुषुम्णा के मुख में संभृत शिव का तेज कहा है जो सूर्य से भी अधिक तेज वाला है। (अत्यादित्य हुतवहमुखे संभृतं तद्धितेजः,[3]। स्कन्द और तारकासुर के आख्यान में कुमार के जन्म ओर कर्म का भव्य रूप चित्रित किया गया है। जहां कुमार विज्ञानात्मक दिव्य तेज और तारकासुर इन्द्रियानुरागी अवर मन का सूचक है। दोनों के संघर्ष में विज्ञान की ही विजय होती है। तारक का अर्थ तारा या चन्द्रमा है तो प्रजापति या नारायण पुरूष के मन से उत्पन्न हुआ। (चन्द्रमा मनसो जातः[4]) प्रत्येक प्राणमय

---

[1] अथर्ववेद- 10, 8, 27

[2] ऋग्वेद- 1, 164, 16

[3] मेघदूत- 1, 34

[4] ऋग्वेद- 10, 96, 13

जीवनकेन्द्र कुमार का ही रूप है। कुमार या बालक के रूप में ही प्रकृति अपनी प्राणमय श्रंखला का सहस्त्रों पीढ़ियों से आगे बढ़ती आयी है। वस्तुतः पुरूष की रचना मे तीन कुमार हैं। इन तीनों का वर्णन कालिदास ने किया है। इस मनोमय विराट् कुमार जो स्कन्द है और कुमार संभव में जिसके दिव्य जन्म का वर्णन है, दूसरा प्राणमय कुमार जिसकी संज्ञा आयु है और जिसके जन्म का वर्णन पुरूखा और उर्वशी के पुत्र रूप में विक्रमोर्वशीय में पाया जाता है, तीसरा पंचभौतिक कुमार है, जिसकी संज्ञा भारत है और जिसका वर्णन दुष्यन्त शकुन्तला के पुत्र रूप में किया गया है। मत्स्य पुराण में बीरक या स्कन्उ का विस्तृत वर्णन लगभग 1000 श्लोकों में हैं किन्तु कुमार संभव में कालिदास ने कुमार या स्कन्द के रूप को साहित्य और कला की पराकाष्ठा तक पहुचा दिया है। वह ऐसा धरातल है जहां कुमार का राष्ट्रव्यापी उदात्तरूप दृष्टि में आता है।

गणपति :-

गणपति का उल्लेख ऋग्वेद में आता है वहां वह ब्राह्मणस्पति सोम सृष्टि का निर्माण करने वाला सर्वव्यापारी विराट तत्व है। वहीं प्रत्येक शरीर के प्राण रूपी पवित्र या छानने के वस्त्र से होकर व्यक्ति केन्द्र में आ रहा है। (पवित्रं ते यिततं ब्रह्मणस्पते प्रभु र्गात्राणि पर्येशि विश्वतः[1])।

ब्राह्मणस्पति का मस्तक सब पशुओं में बृहन्त है और ब्राह्मणस्पति सोम का सूचक है। सोम की एक संज्ञा मधु है। उसी का वैदिक प्रती अपूप था जो गणपति का मोदक हो गया और वहीं कर्मकांड में प्रायः बतासे के रूप में लिया जाता है। गणपति का छोटा आखु या चूहा यह इन्द्रियानुगामी मन है जो भूतों या विषयों में छिपा रहता है।

अम्बिका :-

ऋग्वेद की मही माता ही अम्बिका है। इस मूलभूत मातृ-शक्ति को अदिति कहा गया

---

[1] ऋग्वेद- 9, 83, 1

है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः माता–पिता–पुत्र, भूत–भविष्य–वर्तमान, विश्वेदेव और पञ्चजन ये सब यही माता अदिति के रूप हैं।[1] अनेक मातृकायें उसी यही माता अदिति की रूप है, जिनकी संख्या एक, तीन, सात, दस, सोलह आदि कहीं गयी है। शिव की शक्तियों के रूप में सप्त मातृकाओं का अंकन कुषाण मूर्ति शिल्प में मिलने लगता है। अदिति, हैमवती, उमा और पार्वती उसी महती देवता के नाम है, त्रिक के धरातल पर उसे ही महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली या दुर्गा कहा जाता है।[2]

समुद्र :–

समूद्र से तात्पर्य सृष्टि के उन आरम्भकालीन मातृसंज्ञक जलों में है, जिनकी मन्थनशक्ति से विश्व जन्म लेता है।[3] बह्म और उसका मन वह समुद्र है, जिसमें विश्वलीन रहता है और वहीं से एक मधु–बूँद के रूप में टपकता है या तरंग के रूप में प्रकट होता है। आनन्द और सौन्दर्य उसकी दो कलायें हैं जो विश्व सुपर्ण के दो सुनहले पंख है। उदयगिरि के महावराह दृश्य में समुद्र अंकन किया गया है। कालान्तर में समुद्रमन्थन के दृश्यों में भी उसका चित्रण है सहस्त्रशीर्षा पुरूष नारायण को क्षीरसागरशायी विष्णु कहा गया जो अनन्त शेष की शय्या पर शयन करते हैं। सान्त विष्णु और अनन्त शेष की यह कल्पना मनोहर है। अनन्त ब्रह्म और सादि, सान्त विश्व के पारम्परिक संबंध को व्यक्त करेन के लिये यह समीचीन सूत्र हैं।[4]

नारायण पुरूष जिसका स्थान जलों से होने के कारण नारायण का नाम हुआ, उस हिरण्यगर्भ की संज्ञा है जिससे प्राणमय विश्व उत्पन्न होता है वेदों में प्राण की संज्ञा हिरण्य है। प्राणमय

---

[1] ऋग्वेद– 1, 89, 10

[2] सदाशिव आल्तेकर– सोर्सेज आफ हिन्दू धर्मा इन इट्स सोशियो रिलीजियस आसपेक्ट्स, पृ0 74

[3] भगवतशरण उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका पृ0 30

[4] वासुदेव शरण अग्रवाल– भारतीय कला, पृ0 69

को हिरण्यमय कहा जाता है। सूर्य का रथ प्राणमय या हिरण्यमय है। यद्यपि नारायण पुरूष का उल्लेख ऋग्वेद और शतपथ ब्रा0 में है पर भागवतों में उसका अत्यधिक प्रचार किया। कला में अनन्तशायी विष्णु इसका रूप है जो देवगढ़ में दशावतार मन्दिर के एक शिलापट्ट पर रथिका बिम्ब के रूप में पाया जाता है।

स्वस्तिक :-

चार दिशाओं में व्याप्त विश्व मण्डल के चतुर्भुजी रूप का यह प्रतीक सूर्य से सम्बन्धित है। यह मण्डल, प्राची, दक्षिणा, प्रतीची और उदीची दिशाओं से बना है और सूर्य उसका मध्य है। प्राची, प्रतीची एवं दक्षिणा और उदीची के विकास में स्वस्तिक बनता है। यह मानव और विश्व का सर्वोत्तम मांगलिक चिन्ह है। रेखाओं को हम इच्छानुसार घटा-बढ़ा सकते हैं पर इससे स्वस्तिक के पूर्ण मूल्य में काई क्षय"- वृद्धि नहीं होती। जब इसकी चार भुजाओं या रेखाओं को अपने से दाहिनी ओर वितान देते हैं तो उससे स्वास्तिक का और भी सुन्दर रूपं संपादित हो जाता है। सूर्य के साथ जीवन के कल्याणमय रूप का प्रतीक स्वस्तिक है।[1]

चार दिशाओं की मरूता या चार लोकपालों की पूजा या व्रत के रूप में स्वस्तिक की पूजा का ही विकास हुआ। इस मान्यता के अनुयायी दिशाव्रति कहे जाते थे। ऋग्वेद और अथर्वेद में अनेक बार पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर इन चार दिशाओं का एक साथ उल्लेख आता है। अग्नि, इन्द्र, वरूण और सोम ये चार देवता चार दिशाओं के अधिपति थे। किन्तु लोकधर्म में यह कल्पना बदली और चार दिशाओं के चार लोकपाल माने जाने लगी। वे ही चतुर्महाराजिक देव कहलाये[2] बौद्ध स्तूपों में चार तोरण द्वारों पर उनकी मूर्तियां स्थापित की जाने लगीं लोक के अनेक देवता स्वास्तिक की चारों दिशाओं

---

[1] शिल्परत्न- टी0 गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज प्रथम, जिल्द- त्रिवेन्द्रम- 1924-25 पृ0 40

[2] भारतीय कला की भूमिका- भगवतशरण उपाध्याय- पृ0 31

से संबद्ध मान लिये गये। धृतराष्ट्र एवं गंधर्व पूर्व से, कुम्भाण्ड एवं विरूढक दक्षिण से, विरूपाक्ष और नाग पश्चिम से वैश्रवण एवं यक्ष उत्तर से। लोक मान्यता के अनुसार गन्धर्वों का अधिपति धृतराष्ट्र, कुम्भाण्डों का विरुढ़क यक्षों का वैश्रवण और नागों का विरुपाक्षा था। प्रत्येक वृत्त चक्र की कुक्षि में स्वस्तिक का रूप रहता है। उसका निर्माण 90^0–90^0 की चार नवतियों या चतुष्कोंणों से होता है। यही 360 अहोरात्र या शङ्कु है जिनसे कालचक्र या पृथिवी के यक्ष चक्र का स्वरूप बनता है। स्वस्तिक को चतुष्पाद् बह्म का भी उपलक्षण कह सकते हैं अथवा यह चतुर्भुज ब्रह्म का रूप है जो विश्व का प्रजापति, आधार और विधान करने वाला है। कहा जाता है, चतुष्टयं वा इदं सर्वम्– यह विश्व चतुर्धा विभक्त है, इसके अनेक प्रतीक प्राचीन युग में विभिन्न क्षेत्रों में कल्पित किये गये, जैसे चार वेद, चार लोक, चार देव, चार दिशायें, चार वर्ण, चार आश्रम, चार होता आदि।[1]

दैवासुर :–

देवों और असुरों के युद्धों का वर्णन और पुराणों में कितने ही रूपों में आया है। यह अमृत और मृत्यु ज्योति और तम एवं सत्य एवं अनृत के विश्वव्यापी संघर्ष का प्रतीक है। प्राणों की संज्ञा देव और भूतों की असुर है। भूतों का प्राणों के वश में होना यही देवों की असुरों पर विजय है। देव अमर और असुर मृत्यु के अधीन होते हैं। देव द्युलोक की शक्तियाँ हैं और असुर तमोमद भूतों की। जब प्राण भौतिक देह में प्रत्यक्ष होता है तभी देवासुर संग्राम शुरू होता है देव ओर असुर दोनों ही मन की शक्तियां हैं। ऊध्र्व दूसरी अद्यः, एक ज्योतिर्मय दूसरी तमोमयः, जीवन के प्रत्येक धरातल पर देवों असुरों का द्वन्द्व प्रकट होता रहता है।[2] वह एक दूसरे को परास्त करना चाहते हैं, पर अन्तिम विजय देवों के पक्ष में है। बीच–बीच में असुर बली होते रहते हैं। धार्मिक आख्यान और कला के अंकन

---

[1] बासुदेव शरण अग्रवाल– भारतीय कला, पृ0 61

[2] आ0टी0एच0 ग्रिफिथ"– दि हिमन्स आफ दि ऋग्वेदा, पृ0 54

इसके साक्षी है। ऋग्वेद के आख्यान दैवासुरम युद्ध के सांचे मे ढले हैं। दैवासुरम् कल्पना के मूल में ऐतिहासिक तथ्य के अपलाप की आवश्यकता नहीं किन्तु यह अवश्य है कि युद्धों के भौतिक वर्णन को ही आधार मानकर अनेक वर्णन किये गये हैं। वैदिक युग में ही यह कहा गया कि इन्द्र के युद्धो की वर्णन माया (मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहु:)[1] या कल्पना है जो इतिहास पुराणों में बढ़ा चढ़ा कर रखी गयी है। बुद्ध का भारधर्षण, शिव का मदनदहन, देती का महिसाषुर से युद्ध ओर महिषवघ, शिव का अन्धक वध और स्कन्द एवं तारक युद्ध, विष्णु का मधुकैटम वध, ये दैवासुरम् संघर्ष के ही नाना प्रकार है। मुथुरा शिल्प कला में प्रदर्शित गरूड़ नाग युद्ध भी इसी का अवान्तर भेद है। यह सौपर्णाख्यान का अभिप्राय था। इसमें देवों को सौपर्णेय एवं असुर या नागों को काद्रवेय माना गया। इसी प्रसंग में सृष्टि की मूलभूत शक्ति को उपयतः शीष्णी सुपर्णी कहा गया है जो प्राची और प्रतीची दोनों को अपने प्रचण्ड वेग से कम्पित रखती है। एति च प्रेति च)[2] वस्तुतः इन विविध गतियों में सुपर्ण रूपी महाप्राण का ही संकोच और प्रसार देखा जाता है। गति और आगति सुपर्ण के दो पक्ष हैं सुपर्ण ही सुनहला हंस है। प्रजपति ने सूर्य को सुपर्ण का रूप दिया जो अनादि अनन्त काल से ही गतिशील है या नील आकाश के गर्भ में पंख फैलाकर उड़ रहा है। (सहस्त्राहृयं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हसस्य पततः स्वर्गम्)[3] देवों और असुरों की युद्ध कथायें अन्य देशों के गाथा शास्त्र में भी मिलती हैं। वे उनके धर्मो को समझने की कुंजी हैं। इन आख्यानों में इतिहास की घटनाओं की खोज असमीचीन है क्योकि इससे उनके मुख्य उद्देश्य की हानि होती है। ऋग्वेद में तो स्पष्ट लिखा है कि इन आख्यानों पर इतिहास पुराण की छाप लगाना उचित नहीं है।[4]

---

1 ऋग्वेद– 10, 5, 2

2 भारतीय कलायें– अली असगर कादरी, पृ0 39

3 अथर्ववेद– 10, 8, 18

4 भारतीय कला– वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0 70–71

त्रिविकम :–

विष्णु के तीन चरणन्यासों का वैदिक आख्यान पुराणों में वामन और विष्णु की कथा के रूप में पल्लवित हुआ। यह काव्य और कला दोनों के उपयुक्त था। यह त्रेधागति का सूचक है। भूत, भविष्य और वर्तमान एवं पृथिवी, अंतरिक्ष और द्यौः त्रिविक्रम विष्णु के ही तीन चरण हैं, तीन पार्थिव लोकों का और कल में तीन खण्डों का विमान, मापन या विस्तार यही विष्णु के त्रिविकम का संकेत है। (इदं विष्णुर्ति चक्रमें त्रेधा निद्धे पद्म)।[1] यह विश्व की रचना का मौलिक सत्य है। जन्म, वृद्धि और ह्रास के बीज प्राणिमात्र में है। वसन्त, ग्रीष्म और शद में तीनों ऋतुयें संवत्सर रूपी विषणु के तीन चरण हैं। इन्हें ही और गूढ परिभाषा में गायत्री त्रिष्टुम जगती नाम तीन छन्द या तीन सुपर्ण बताया गया है जो अपने पंखों की शक्ति से दिव्यलोक का अर्मतघट पृथ्वी पर लाते हैं अर्थात् गति द्वारा ही पृथ्वी की तरंगे आकाश तक जाती हैं और अर्मत लेकर पृथ्वी पर लौटती हैं जीवन का कोई भी क्षण या भाग इस त्रिसौपर्ण सामगान से विरहित हनीं हैं। विज्ञान की परिभाषा में जिसे हम केन्द्र से परिहित की गति, परिधि से केन्द्र की ओर आगति और केन्द्रस्थ स्थिति कहते हैं, वह भी विष्णु के तीन विक्रमण या चरण न्यास से मिलता हुआ वर्णन हे। विश्व रचना और जीवन के लिये गति आवश्यहक है। इसका सबसे प्रकट रूप काल की गति है, जिसके वेग से संार चक्र घूम रहा है। जीवन भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल खण्डों में विभक्त है। सर्वत्र ही सब वस्तुओं पर उनकी छाप है। अतः विष्णु के तीन पदन्यासों से कोई बचा नहीं है। त्रिविक्रम विष्णु सबमें व्याप्त है। काल की अप्रतिहत शक्ति से ही वृद्धि पाकर वामन विराट बन जाता है। बालक का युवा और वृद्ध होना इसी का फल है। जीवन के साथ जन्म, वृद्धि और ह्रास का अटल नियम लगा हुआ है।[2]

ज्योतिलिंग :–

ज्योतिलिंग या प्रकाश का स्तम्भ यह भी प्राचीन कल्पना थी क्योकि कोई भी देव ऐसा

---

[1] इण्डियन स्कल्पचर, 1961 सी– शिवरामूर्ति।, पृ0 69
[2] मूर्ति विज्ञान पूना– 1936, पृ0– 87, हरी गणेश खरे।

नहीं जिसका स्वरूप ज्योति न हो। स्वयं ब्रह्मा को सूर्य के समान कहा गया है। (ब्रह्म सूर्यसभं ज्योतिः)[1] सूर्य ज्योतिलिंग का प्रकट रूप है ऐसे ही कोटि कोटि सूर्य है जो एक अक्ष परम्परा में पिराये हुये हैं। वही सहस्त्रो दिव्य सूर्यों से बना हुआ महान ज्योतिलिंग है। उसे ही शिव का अग्नि स्कन्ध यप भी कहते हैं। पाशुपत आचार्यों ने ज्योतिलिंग के आधार पर एक सुन्दर आख्यान की रचना की। ज्योतिलिंग की इयत्ता जानने के लिये ब्रह्मा हंस पर ऊपर की ओर गये पर उन्हें उसकी अनन्तता का पता न लगा। तब उन्होंने मिथ्या भाषण ले प्रतिज्ञा की कि उन्होंने पता लगा लिया। अतः वे शापवश पूजा से बहिष्कृत हुये। विष्णु अपने गरूढ़ पर ज्योतिलिंग थाह लगाने के लिये पाताल की ओर जाना चाहते थे कि उन्हें यह ज्योति का स्कम्भ तो अनन्त है। यह सोचकर उन्होनें वहीं उसकी प्रदक्षिणा की और प्रणाम किया। इस कहानी के दो अंगों से वैज्ञानिक की और ऋषि की दृष्टि सूचित की गयी । बुद्धि बल और दूसरा हृदय बल से ज्योतिलिंग या अनादि अनन्त विश्व का एवं उसके मूलकारण ब्रह्म को जानना चाहता है पर सफल नहीं होता, केवल जानना चाहता है हृदय की श्रद्धा से ऐसा संभव है, प्रज्ञा बल से नहीं।[2]

शिवलीला के और भी ऐसे ही रूपधर्म और कला में प्राप्त हैं, यथा लाभान्तर मूर्ति, योगेशवर मूर्ति, दक्षिणामूर्ति, रावणानुग्रह मूर्ति, मरवान्तक मूर्ति, यमान्तकमूर्ति, कैलासोत्तोलन मूर्ति, विष्णु द्वारा चक्षु प्रदान मूर्ति, विषपान मूर्ति, नटराज मूर्ति, नरनारीश्वर मूर्ति, हरिहर मूर्ति आदि। मध्यकालीन शिव के मंदिरो और मूर्तियों में इन विविध रूपों का अत्याधिक महत्व देखा जाता है[3] पुराणों स्रोत्रों में भी इन रूपों का विस्तार हुआ है। वेदों में शिव या रूद्र को अग्नि का स्वरूप बताया गया है (यो वै रूद्रः सोडग्निः, त्वमग्ने रूद्रः)[4] शिव के पुत्र स्कन्द को अग्नि का पुत्र कहा गया है। ज्योतिलिंग मूर्ति का एक अच्छा उदाहरण भारतकला भवन में सुरक्षित है।

---

1 यजुर्वेद– 23, 48
2 शैव प्रतिमायें– राज संग्रहालय भोपाल– पृ0 66
3 ओ0 प्रभाशंकर– भारतीय शिल्प संहिता, बम्बई, प0 93
4 ऋग्वेद– 2, 1, 6

<u>सुपर्ण</u> :–

इसकी संज्ञा गुरत्मा सुपर्ण भी है यह सूर्य का रूप है। यक काल और संवत्सर दोनों का अभिन्न प्रतीक हैं, अग्नि भी सूर्य का रूप है। अतः विश्व की विराट शक्ति को सुपर्ण ओर उसके व्यष्टि रूप को वर्तिका कहा गया है। प्रत्येक वर्तिका (बटेर) सुपर्ण के पंजे में जकड़ी है। (ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वार्तिकाम्, महाभारतः थाभिवर्तिका ग्रसिता ममुञ्चतम्,[1] आकाशचारी गरूड़ या विराट महाप्राण प्रथ्वी पर स्थित वर्तिका या अल्पप्राण की ओर झपट कर उसे दबोच लेना चाहता है। यही जीवन की लीला है।

कला में गरूड़ नाग का अभिप्राय सूपर्णाख्यान का ही एक अंग है। जैसा कि आदि पर्व से स्पष्ट है विनता और कूद दोनों प्रजापति की पत्नी है एक गरूड़ की दूरी सर्पों की माता है। सारनाथ की शिल्पकला में "द्वा सुपर्णा" एवं "त्रयः सुपर्णा" इन दोनों रूपों का अंकन है।[2]

<u>महिष</u> :–

महिषासुर वह असुर है जो अनियन्त्रित शक्ति का प्रतीक है। वह सब देवों की माता अदिति या दुर्गा के बल को चुनौती देता है।[3] ओर से अच्छिद्र या परिपूर्ण हो जाता है और उसके भीतर देवों की ज्योति प्राण से अपान और अपान से प्राण की ओर स्पन्दित होने लगती है। तब महिषसुर को बड़ी ईर्ष्या होती है और वह उस मण्डल के चारों ओर इसलिये चकराने लगता है कि कहीं छेप पाकर प्रविष्ट हो जाये पर देवी की ऐसी शक्ति के कारण ऐसा संभव नहीं हो पाता। इसी युद्ध का वर्णन है।

---

[1] ऋग्वेद– 1, 112, 8

[2] कादरी– भारत की कला, पृ0 178

[3] ऋग्वेद– 10, 189, 12

<u>पूर्णकुम्भ</u> :–

फूल पत्तियों से समृद्ध पूर्णघट सुख–सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। घड़े में भरा जल जीवन या प्राण का रस हे। (सलिलम्, ऋतुम्, आपः) उसके मुख पर लहराती हुयी पत्तियां और पुष्प जीवन के नानाविध आनन्द और उपभोग है। मानव ही पूर्ण घट है। उसी प्रकार विराट् विश्व भी पुर्ण कुम्भ है। ये दोनों ही पूर्णता के सूचक हैं।

<u>चक्र</u> :–

यह सूर्य या काल का प्रतीक है (काल चक्र) इसे विश्व का भवचक्र या संसार चक्र कहा जाता है। इसी दृष्टि से प्राणमय जीवन को जीवन चक्र और विराट विश्व की स्थिति को ब्रह्मचक्र कहा जाता है –येन दें भ्राम्यते ब्रह्म चक्रम, ब्रह्म की शक्ति इस चक्र को पहिये की तरह घूमा रही है। चक्र वह है जिसमें नियमित गति होती है।

यूप या <u>यज्ञीय स्तम्भ</u> :–

यह विश्व यज्ञ है। इसको धारण करने वाले स्तम्भ को ही यज्ञ का स्तम्भ या यूप माना गया। दिव्यावदान मे यूप को धर्म का चिन्ह कहा है।[1] इससे सिद्ध है कि बौद्ध साक्षी के अनुसार यूप का ही दूसरा रूप चक्रयुक्त धर्म स्तम्भ या चक्रध्वज था। यूप के दर्शन से चक्रवर्ती सम्राट को अपने धर्मयुक्त कर्तव्य पालन का स्मरण होता था। यूप का भूमिनिखात अंश असुरों के अधिकार में समझा जाता था[2] रशनायुक्त भाग मनुष्यों का, चषालपर्यत देवों का और उससे ऊपर का भाग देवसदन समझा जाता था। यूप का यह संविभाग स्तूप से मिलता है उसमें भी क्रमशः चार भाग होते हैं– भूमि

---

[1] काबेल– पृ0 59 किश्चित् त्वं अस्मांक चिन्हं स्थापय यूपं चोच्छ्रापयोर्ध्वम्।

[2] शतपथ ब्राह्मण– 35, 5, 15

प्रविष्ट भाग, मेधिभाग, अण्डभाग, और छत्रयष्टियुक्त हर्मिका जहां देवों का निवास (देव सदन) समझा जाता था।

स्तम्भ ऊँची लम्बाई का होता था (उच्छ्रूय, वर्ष्मन)। यह ज्येष्ठ ब्रह्म और उसके द्वारा निर्मित विश्व दोनों का प्रतीक था। जैसा स्कम्भ सूक्त में कहा है (अथर्ववेद 10/7) सब लोक और सब देव स्कमभ के आश्रित हैं। स्कम परमेष्ठी प्रजापति की ऊर्ध्व और प्रभविष्णु, शक्ति का प्रतीक था। इन्द्रयष्टि इन्द्र के सम्मान में खड़ा किया हुआ ध्वज स्तम्भ था। इन्द्र को वृष्टि, मेघ और जन जीवन के हास प्रमोद का देवता माना जाता था। इस प्रकार का इन्द्रध्वज योरप में भी मे-पोल के नाम से पूजा जाता है। वन के किसी वृक्ष या वनस्पति को काटकर बड़ी धूमधाम से खड़ा किया जाता था। प्राचीन आहत मुद्राओं पर त्रिभुजशीर्षक युक्त एक यष्टि चिन्ह पाया जाता है। उसकी पहचान इन्द्रयष्टि या वैजयन्ती से सभंव है। इन्द्रध्वज के उत्सव को इन्द्रमडं कहा जाता था।

सप्तरत्न :-

सप्तरत्नों का उल्लेख ऋग्वेद में आता है। अग्निप्रत्येक घर में सप्त रत्नों का आधार करता है (दमेद में सप्त रत्ना दधानः) कालान्तर में सप्तरत्नों की कल्पना का संबंध चक्रवर्ती सम्राट से जोड़ लिया गया, जैसा बौद्ध साहित्य और पुराणों में मिलता है। इन सात रत्नों के नाम ये थे- चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, मणिरत्न, स्त्रीरत्न, गृहपति (श्रेष्टी) रत्न और परिणायक (मंत्री) रत्न।

चक्रं रथो मणिर्मार्या निधिरश्वो गजस्तथा।
प्रोक्तानि सप्त रत्नानि पूर्वं स्वाम्भुवेडन्तरे ।।[1]

---

[1] मत्स्य पुराण- 142-63

पद्म या पुष्कर :–

भारतीय कला, धर्म और दर्शन में कमल सबसे अधिक महत्व का प्रतीक है। यह अगाध जलों के ऊपर तैरते हुये प्राण या जीवन का चिन्ह है। यह पुष्प सूर्योदय के समय अपनी पंखुड़ियां खोलता है। सूर्य ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः[1]

कल्पवृक्ष :–

कल्पवृक्ष का जन्म समुद्र मंथन में हुआ। यह इच्छाओं की पूर्ति करने वाला वृक्ष और मन का प्रतीक है। कल्प का अर्थ चिन्तन, विचार या मन है । कल्पवृक्ष के नीचे मनुष्य जो सोचता है वह उसे मिल जाता है। कल्पवृक्ष स्वर्ग का वृक्ष था। उसकी शाखाओं और पल्लवों पर देवों का निवास था। इस वृक्ष की चार दिशाओं में चार शाखायें मानी जाती थी। इससे इसका संबंध विश्व स्वस्तिक से भी ज्ञात होता है। सदा यौवन का उपयोग करने वाले स्त्री–पुरूषों के मिथुन या जुगलिये कल्पवृक्ष से ही जन्म लेते हैं। इस दृष्टि से घर भी कल्पवृक्ष का रूप है जिसमें स्त्री पुरूष विवाह करके माता पिता बनते हैं। उत्तरकुरू के कल्पवृक्षों का वर्णन रामायण, महाभारत, पाली वाणिक जातक, पुराण, जैन ग्रन्थ और काव्यों में बहुत आया है। भरहुत, भाजा, सांची आदि स्थानों की कला में कल्पवृक्ष और कल्पलताओं का अंकन बहुशः मिलता है। गुफा और मन्दिरों के द्वार स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिथुन मूर्तियें का अभिप्राय वहीं से लिया गया। जैन ग्रन्थों में दश प्रकार के कल्पवृक्ष कहें हैं।[2] इसी अभिप्राय का एक रूप लहराती हुई कल्पलता थी जिसके मोड़ों में से भांति–भांति के वस्त्र और आभूषण जन्म लेते हुये दिखाये गये हैं। इसी से संबंधित एक अवान्तर अभिप्राय नारीलता या कामलता था जो गढ़वा के मन्दिरं के स्तम्भों पर मिला है।[3]

---

[1] यजुर्वेद, 23; 48

[2] यू0डी0 बरोदिया– हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर आफ जैनिस्म, 1909 , पृ0 105

[3] भगवत शरण उपाध्याय– भारतीय कला की भूमिका, पृ0 33

सुमेरू :–

सुमेरू विश्व के ध्रुव केन्द्र का प्रतीक है। वह सुवर्ण का पर्वत है। सुवर्ण प्राण का वाचक है। मेरू के चार तटों पर चार पर्वत और चार महाद्वीप माने जाते हैं। मेरू समस्त विश्व की विधृति है। चार दिशाओं में बहने वाली चार महानिदयाँ मेरू से जन्म लेती हैं। उनके स्रोत चार सरोवर हैं। पुराणों में मेरू की भव्य, कल्पना पाई जाती हैं। चार महापशु और चार देवताओं का संबंध भी मेरू से माना गया है। मेरू पर सब देवों का निवास है। गाथा शास्त्र और कला में प्रदर्शित हिमालय को मेरूसखा (मेरू का मित्र) कहा गया है।

बुद्ध :–

गौतम के मानुषी रूप के विषय में जो चाहे कहा जाये किन्तु बुद्ध के लोकोत्तर रूप का आधार वैदिक प्रतीक थे।[1] ललितविस्तार में बुद्ध के जीवन का वर्णन करते हुये लोकोत्तरवादी आचार्यों ने वैदिक प्रतीकों के सांचे में ढालकर ही बुद्ध के जीवन की लीलाओं का विसतार किया। तुषित स्वर्ग का श्वेत हस्ती, मातृकुक्षि से तिरश्चीन, जन्म, सप्तपद, शीतोष्ण जलधाराओं में प्रथम अभिषेक, बोधिवृक्ष, बोधिमण्ड, भारघर्षण इन्द्रशैल गुहा, वानरों द्वारा मधु का उपहार, लोकपालों द्वारा प्रदत्त चार भिक्षापात्रो का एक पात्र में परिवर्तन, अग्नि की ज्वालाओं और जल धाराओं का शरीर से प्रकट करने का चमत्कार एवं सहस्त्र बुद्ध रूप प्रदर्शन इनका कोई अर्थ बौद्ध साहित्य मं नहीं मिलता। ये मानुषी बुद्ध की जीवित घटनायें नहीं, बुद्ध के प्रतीकात्मक जीवन की लीलायें हैं। इन कड़ियों की व्याख्या की कुंजी प्राचीन वैदिक परंपरा में ही पायी जाती है। बुद्ध स्वयं सूर्य के अवतार हैं।[2] ये देवता प्राकृतिक शक्तियों

---

[1] ई0 जे0 थोम्स– दि लाइफ आफ बुद्धा, पृ0 95

[2] रेइस डेविस– ए मेनुअल ऑफ बुद्धिस्ट सोसाइटी पृ0 47

के मूर्तिरूप थे। इनके अतिरिक्त कुछ नवीन देवी देवता प्रवेश कर चुके थे तथा उनकी पूजा भी प्रचलित हो चुकी थी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति और स्कन्द, विशाख, वैश्रवण आदि देवताओं की मूर्तियां बनायी जाने लगीं थी। भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क बढ़ जाने से अनेक देवी देवताओं का प्रवेश हुआ। नाग, सुपर्ण, यक्ष, असुर गन्धर्व आदि देवताओं की भी मूर्तियां बनायी जाने लगीं थी।

अध्याय - ६

लोकाकृतियों के अंकन का ऐतिहासिक व सामाजिक महत्व

उपसंहार

भुवन में अखिल आकर्षण की मूर्तिमान देखने की अमिट चाह सत्य में स्वप्न के आविर्भाव का हेतु है। काम मन का सत्य है। काम कल्पना को उर्वरित करता है कल्पना जब साकार होती है तब कला की सृष्टि होती है।

अव्यक्त निरूपाधि निर्गुण ब्रह्म का व्यक्त रूप सोपाधि त्रिगुणात्मक ब्रह्म है। ब्रह्मानन्द का त्रिगुणात्मक व्यक्त स्वरूप सत्यं शिवम् सुन्दरम् है कल्पना और कला का यह श्रेष्ठ समन्वय है।

हम सब सत्य की चर्चा विवेचना भी करते हैं और उसकी दुहाई भी देते हैं, परन्तु हममे से कितने व्यक्तयों ने सत्य का अनुभव किया है। यदि हम सत्यानुभव के साथ सामंजस्य बिठाते हुए जीवन व्यतीत कर सकें तो हमारी चेतना प्रसूत समस्त कल्पनायें एवं तद्नुसार समस्त प्रक्रियायें सत्य की संगति में होने के कारण सुन्दरम् की कोटि की हो जायें वह कला का विन्यास है जहाँ सत्य और सौन्दर्य अन्योन्याश्रित हो जाते हैं वहां जीवन का कलात्मक स्वरूप अपने उच्चतम स्तर पर अभव्यक्त होता है। वैतरीय उपनिषद[1] के अनुसार भगवान आनन्द से जगत की रचना करते हैं और कविवृन्द छंदोबद्ध काव्य का सबसे बड़ा कलाकार परमेश्वर है। विश्व उसी की प्रत्यक्ष कला है। मानव की प्रत्येक कला उस परम कलाकार की अनुकृति है।

विश्व के कण–कण के प्रति आत्मीयता की अनुभूति 'शिवम्' का उद्रेक करती है जिसकी प्रेरणा मानव की एकत्व एवं सामरस्य की विधायिका कला की सर्जना के लिये उत्स प्रदान करती है। उस कलामय की सम्पूर्ण संसृष्टि के सपन्दनों के विषय में कल्पना उत्तर देती है और उनकी अभिव्यक्ति करती है।

सत्य सर्वव्यापी है उसका द्वार सबके लिये सदैव उन्मुक्त है। उसका अनुभव व्यक्ति

---

1 11–7–1

सापेक्ष है अर्थात् सत्य का अनुभव व्यक्ति को अपने विकास स्तर के अनुसार होता है। हाथी और चार अन्धों की कहानी लोक प्रसिद्ध है जिस अन्धे के हाथ में हाथी का जो अंग आ गया उसने हाथी के स्वरूप की कल्पना उसी आधार पर की थी जिस अन्धे व्यक्ति के हाथ में पांव आया उसने हाथी को एक विशाल स्तम्भ बताया जिसने उसका कान पकड़ा उसने हाथी की कल्पना विशाल सूप से की आदि। अध्ययन और शोध के क्षेत्रों में भी स्थिति बहुत कुछ इसी प्रकार है "वैज्ञानिक का सत्य" भौतिक जगत का सत्य (तथ्यात्मक) है। उसका सत्य प्रयोग और परीक्षण की सीमाओं द्वारा आबद्ध सत्य होता है। इतिहासकार का सत्य अतीत पर आधारित होता है– वह केवल विगत का अस्थिपंजर मात्र होता है। जन साधारण का सत्य लोक परम्परा तक सीमित रहता है। मानव विकास शास्त्री का सत्य तत्संबंधी उपलब्ध सामग्री पर आधारित होता है किन्तु कलाकार का सत्य सबसे भिन्न होता है उसके सत्य में भविष्य के लिये महत्वपूर्ण स्थान होता है। वैज्ञानिक वर्तमान का विवेचन व आंकलन करता है। इतिहासकार अतीत का चित्रण एवं मूल्यांकन करता है। परन्तु कलाकार अतीत और वर्तमान के परिपेक्ष्य में अनागत की कमनीय कल्पना करता है। कलाकार यह कल्पना करता है कि भविष्य कैसा हो सकता है। इतिहास का सत्य यदि हमारी आँखों खोलता है तो कलाकार का सत्य आँखों में अंजन लगाता है विज्ञान और इतिहास जो है जो हो चुका है– की सीमाओं द्वारा आबद्ध रहने को विवश रहते हैं परन्तु कला ये सीमाएं स्वीकार नहीं करती है और वह बताती है कि आगे क्या हो सकता है क्या होना चाहिये और हमारे जीवन की क्या सम्भावनायें है कला या कलाकार को इन सम्भावनाओं का दर्शन करती है– कल्पना जो मानव को ईश्वरीय वरदान के रूप में प्राप्त हुई है उस ईश्वरीय वरदान को प्राप्त कलाकार टिमटिमाते तारे में प्रियतमा का आमन्त्रण पाता है और नरगिस में प्रेयसी के कटाक्ष का दर्शन करता है।

विश्व के कण--कण के प्रति वेदना की आत्मीयता की अनुभूति कल्पना के स्फुरण और कला की अभिव्यक्ति का प्रथम लक्षण है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला द्वारा होती है। "सुन्दर" में जिस

कोटि के सौन्दर्य की कल्पना की जाती है। कलाकार उसी कोटि की कला का सृजन करने में समर्थ होता है। जिस सौन्दर्य की अनुभूति केवल अन्नमय कोश तक परिसीमित रहती है उसकी अभिव्यक्ति रूप रंग समानुपात इत्यादि बाह्य तत्वों तक ही परिसीमित रहती है उसमें लावण्य का पुट नहीं आ पाता है जिस सौन्दर्य की अनुभूति में प्राणमय कोश का प्राबल्य रहता है उसमें रजोगुण अधिक होता है जिस सौन्दर्य की अनुभूति मनोमय कोश प्रधान होती है उसमें प्रसाद गुण की व्याप्ति रहती है। सौन्दर्य की जिस अनुभूति में विज्ञानमय कोश का प्राधान्य रहता है उसमें माधुर्यगुण की प्रबलता होती है क्योंकि उसमें सहृदयता, बौद्धिक सन्तुलन और सामंजस्य का सुन्दर समन्वय होता है इस प्रकार की कला पूर्णताः अन्तः प्रज्ञा द्वारा प्रेरित होती है जो सौन्दर्यानुभूति आनन्दमय कोश प्रधान होती है उसमें एक दिव्य सदैश होता है और उसमें एक अलौकिक दीप्ति होती है। उसमें एकत्व एवं समरसता की अनुभूति को जाग्रत करने की क्षमता होती है।

आनन्दमय और विज्ञानमय कोश के स्वर्गीय ओसकण के अभाव में किसी भी कला कुसुम में स्वर्गीय सौरभ नहीं आ सकता वास्तविक और कला वहीं है जो किसी क्षुद्र वासना को उद्दीप्त किये बिना माधुर्य की अनुभिति करा सके। वह किसी राष्ट्र की संस्कृति के स्तर का माप उसकी कला द्वारा होता है। हमारे देश में आजकल जो सस्ती बाजारू अश्लील एवं कामोददीपक कृतियों का चलन प्रचलन हो गया है। उसको देखकर कोई भी व्यक्ति यह निर्णय कर सकता है है कि भारतीय समाज के सांसकृतिक विकास का स्तर किस अवस्था को प्राप्त हो गया है, क्योंकि विकास के स्तर के अनुरूप कोश की प्रधानता के अनुसार ही हमारी कल्पनायें अनुभूतियां और अभिव्यक्तियां होती है आजकल हमारी सौन्दर्यानुभूति निश्चित रूप से अन्नमय तक परिसीमित होकर रह गई हैं। जो कला ससीम के भीतर असीम का नानत्व के भीतर एकत्व का संकेत कर सके वहीं माधुर्यपूर्ण सौन्दर्य की अनुभूति करा सकती है क्योंकि उसकी परिकल्पना विज्ञानमय और आनन्दमय के स्तर पर की जाती है। सौन्दर्य बोध की परिपूर्णता उस स्थिति में होती है जहां सुन्दरता के साथ प्रभाता की तदाकार परणिति हो जाती है।

योग के साथ कला का सम्बन्ध स्थापित करते हुए आचार्यों ने कहा है कि सौन्दर्यबोध जब अपनी उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह योग का रूप धारण कर लेता है क्योंकि उस दशा में आश्रय और आलम्बर का अभेद स्थापित हो जाता है।

जितना गम्भीर आत्मप्रत्यक्ष होता है उतना ही अपनापन लिये सौन्दर्य का साक्षात्‌कार होता है। यही भारतीय कला का दर्शन है।

सृजन के कौशल और कल्पना के बल के संयोग का नाम कला है यह वस्तुस्थिति और मनः स्थिति का अद्‌भुत संयोग है। कला जीवन का आकर्षण एवं संस्कृति की महान उपलब्धि है वही कला सार्थक है जो कल्पना द्वारा भौतिक एवं दार्शनिक चित्रों में झूम, स्वर, गति और लालित्य भर दे।

कला कल्याण की जननी है उस धरती पर मनुष्य की उदयवेला का इतिहास कला के द्वारा ही रूपायित हुआ है। कला इस विराट विश्व की शक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में व्याप्त है। वह अनन्तरूपा है और उसके इन अनन्तरूपों की अभिव्यक्ति एवं निष्पत्ति का आधार कलाकार (परमेश्वर) है। जितने कभी तत्वविद साहित्य सृष्टा और कला साधक हुये उन सबने भिन्न–भिन्न मार्गों का अवलम्बन करके उसी एकमेव लक्ष्य का अनुसन्धान किया यही कारण है कि विभिन्न युगों में कला के रूप की परिकल्पना विभिन्न दृष्टिकोणों से की जाती रही है।

भारत में कला को अन्तिम वास्तविक की संप्राप्ति का माध्यम समझा जाता रहा। वह अपने दृष्टिकोण में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में आदर्शवादी और प्रतिपालन में लोकोत्तर रही।

कला कलाकार की इस अवस्था का प्रकाशन कहा जाता है यह केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं बन सकती है वरन् एक साधना है, कला सौन्दर्य है। परमात्मा सब वस्तुओं में विद्यामान है। उसकी इस विद्यमानता का प्रकाशन ही कला का वह सुन्दर रूप है जो हमारी आँखों को प्रत्येक दृष्टिकोण से अच्छा लगता है। कलाकार अपनी अनुमति के अनुसार अपनी अन्तरात्मा की तृप्ति के लिये जब इस सौन्दर्य का रूप गढ़ता है, तो उसे यह भी ध्यान नहीं रहता है कि उसको क्या और भी

करना है। वह स्वयं तो सौन्दर्य में मुग्ध हैं। उस समय तो उसकी आत्मा समस्त ब्रह्म जगत को छोड़ कर एक अलौकिक स्थिति में, पदार्थों आदि में लीन रहती है, उस अवधि के लिये उसकी अनुभूति कला लोक जीवन के बहुत ही पास जाकर खड़ी हो जाती है।

कला का उदय मानव की सौन्दर्य भावना का परिचायक है। इस भावना की तृप्ति के लिए एवं मानसिक विकास के लिए अनेक प्रकार की कलाओं का उदय हमारे देश भारतवर्ष में हुआ। भारतीय एवं विदेशी दोनों विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। हमारी देश की संस्कृति भाषा के साहित्य में ज्ञान का वर्णन दो रूपों में देखने को मिलता है, विद्या और उपविद्या। प्रथम के अन्तर्गत काव्य को स्थान दिया गया है तथा विभिन्न कलाओं को उपविद्या के अन्तर्गत। भर्तृहरि ने काव्य तथा कला को अलग–अलग रूपों में माना है। उनके ही शब्दों में "साहित्य संगीत कला विहीन साक्षात पशुपुाच्छ विषाण हीन" अर्थात् साहित्य, संगीत तथा कला के ज्ञान से रहित मनुष्य पशु ही है। अतः साहित्य तथा कला दोनों का अपने–अपने क्षेत्र में महत्व स्वयं सिद्ध है।

भारतीय कला के यहां के मस्तिष्क और हस्तकौशल का सर्वोत्तम प्रमाण पाया जाता है। भारतीय कला की सामग्री वैसी ही समृद्ध है जैसी भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन की। भारतीय कला के वातायन द्वारा हम यहां के शिल्प, मूर्तियों, चित्रों और खिलौनों का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और उनमें छिपी हुई मानसिक कल्पना एवं प्रतिभा से भी परिचित हो सकते हैं।

कला का मानव जीवन में इससे अधिक और क्या महत्व हो सकता है ? कि भगवान बुद्ध को मूर्ति का रूप देकर उसकी पूजा बौद्ध धर्म में भी प्रचलित हो गयी और अपनी इसी विशेषता के कारण वह संसार का एक पसिद्ध तथा महान धर्म बन गया। भारतीय कला आलस्य पूर्ण क्षणों को व्यतीत करने का साधन नहीं कही जा सकती है। किसी भी कृति को देखकर हृदय में खुशी की भावनायें अवश्य उत्पन्न होती है, क्योकि इसमें रस की कमी नहीं रहती है तथा साथ ही साथ वह हृदय की भावनाओं के सामने लाकर इस लोक का सृजन भी किया करती है। यही कारण है कि

कला असुन्दर को भी सुन्दर रूप में ग्रहण किया करती है। काली देवी की कुरूपता और भयानकता में भावना का जो सौन्दर्य होता है वह उसको असुन्दर होते हुये भी कला के संसार में सुन्दर बना देता है। आनन्दपन की इस महत्ता के कारण ही व्यक्ति के लिये उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। आज के युग में इसका महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

उदयांचल से उठकर सूर्य जब अपना दूसरा पैर उठाता है तब उसका पूरा तेज आकाश को छू लेता है। कला का वैभव भी उसके दूसरे चरण अर्थात् भावों को रूप देने में ही है। शिल्पी अपने अनगढ़ शिलाखण्डों की धैर्य के साथ आराधना करता है, उसकी उस साधना से वे पाषाण मानों द्रवित होकर श्री और सौन्दर्य के रूप में परणित हो जाते हैं। उनमें कलाकार की भावना प्राण का संचार कर देती है। शिल्प के वे प्रतीक रसिकों और कलाविदों के लिये रस के अनुपम स्रोत बन जाते है जो रसज्ञ है, सहृदय है, उनके हृदय में ही कला रस संचार का द्वार खोलती है। और वे ही कला की वाणी के अर्थ को प्राप्त करते हैं, कला के आचार्य उसके बाह्य रूप को समझ सकते हैं। पर रस के लिये कला की वाणी अपने अंतरंग को प्रकट कर देती है।

भारतीय कला ने अपने अर्थों को व्यक्त करने के लिये अनेक मनोहर सत्रों का निर्माण किया है। त्रिमूर्ति के पीछे दार्शनिक चिन्तन का कितना रहस्यमय संकेत है? प्रभाव से लेकन त्रैगुण्य तक के विराट भावों की अभिव्यक्ति के लिये मूर्तिकला ने त्रिमूर्ति एक छोटा सा इंगित बनाया और वह सब के लिये संतोषप्रद हुआ। त्रिमूर्ति की प्रतिमा मानो भारतीय दर्शन की प्रतिमा है। तत्वज्ञान के आंगन में खड़े होकर जब हम एकैव मूर्तिर्विभेद त्रिधा सा उच्चारण करते हैं। तब कला में विचरित त्रिमूर्ति की प्रतिमा उस अनुभव को प्रत्यक्ष दिशा कर हमें अपूर्व संतोष प्रदान करती है। धारापुरी के कैलाश मन्दिर में स्थापित त्रिमूर्ति की प्रतिमा भारतीय दर्शन की अमर प्रतिमा की भांति हमारे सामुद्रिक देहली द्वार पर प्रतिष्ठित है। दर्शन ही हमारे राष्ट्र की आत्मा है। अतएव इस भव्य त्रिमूर्ति के रूप में मानों राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी स्वंय मूर्तिमयी होकर रत्नाकर के प्रवेशद्वार पर सबका स्वागत करती है। इसी प्रकार शिव का ताण्डव भी मूर्तिकला का मंजा हुआ सूत्र है। दुहर्षि सृजन शक्ति के स्पन्दन को एक केन्द्र पर

लाकर अपनी कल्याणमयी कल्पना शिव का ताण्डव नृत्य है, जिस मूर्तिकार ने सर्वप्रथम इस गम्भीर दार्शनिक भावों को कला की लिपि में व्यक्त किया उसकी ध्यान शक्ति को धन्य है।

इसी प्रकार कमलों के वन में विराजमान देवी पद्मा श्री, जिसे दिशाओं के अधिपति दिग्गज आर्वीजत घटों से अभिषेक कराते हैं, सर्वभूतधात्री पृथ्वी के मंगल विद्याथिनी उर्वरा शक्ति का प्रतीक है। कारण त्रिलोकी अवध्य होती है और जगती तल पर जीवन का अविछिन्न प्रवाह चला करता है। पृथ्वी के जलाशयों में जो पद्मवन फूलते हैं। उनकी श्री जब तक आकाश के मेघों से प्रति वर्ष संयुक्त होती है। तभी तक प्रजापति का चलाया हुआ चक्र सकुशल रहता हे। इस विराट यज्ञ चक्र के गम्भीर भाव को व्यक्त करने वली पद्मश्री की कलात्मक वाणी को पाकर हमारा समाज संतुष्ट हुआ। सांची और भरहुत के तोरणों पर चिन्हों के द्वारा ही मूर्तिकला में जीवन के अर्थों को अभिव्यक्त करने का विधान किया गया था। उसमें पद्मा श्री अथवा श्री लक्ष्मी के अनेक मूर्तियों का मन्डन है। मूर्तिकला के ये अभिप्राय एक बार जन्म लेकर देश और काल के साथ फूलते रहते हैं इनके आयुष्मान जीवन अथवा विकास का अध्ययन भारवीय कला के इतिहास का रोचक पक्ष है। जब तक उसमें जीवन या प्राण भरा रहता है। जब तक मांगलिक या पूज्य समझा जाता है।

जीवन के स्वस्ति भाव का द्योतक स्वास्तिक चिन्ह है। यह विश्व स्वास्तिक का ही प्रकाश है। स्वास्तिक के विपयसि या उलटने से विश्व का विद्यटन हो जाता है।

इस प्रकार अनेक देव प्रतिमाओं और चिन्हों के द्वारा भारतीय कला ने अपनी परिभाषा का विकास किया। अनेक प्रकार के सौम्य और रोद्र भावों की अभिव्यक्ति के लिये शान्त और क्षुब्द रूपों का आश्रय लिया गया। मनुष्य समाज ने अपने पारिवारिक कल्याण की छाया को इन समग्र रूपों में देखने का प्रयत्न किया। देवों का रौद्र रूप भी जीवन का कठोर सत्य है। अमृत के साथ मृत्यु भी मनुष्य के साथ मैत्री करना चाहता है। उसी की सत्ता को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये अनेक प्रकार की संहार मूर्तिया का निर्माण हुआ। कलाकार शिल्पी उसी अनुशासन को स्वीकार करके चले हैं

और इन्होंने कल्पना को तरांगति करके विविध रोद्र रूपी की सृष्टि की है।

कला के दो ही उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी समृति को या अतीत को जीवित बनाये रखना दूसरे अमूर्त को मूर्त रूप देना अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात किसी भाव को आकार प्रदान करना। यदि हम सारे संसार की सब काल की कलाकृतियों का विवेचन करें तो उनका निर्माण बिना देश काल के बन्धन के मुख्यतः इन्हीं दोनों प्रेरणाओं से पायेंगे।

हाथी और घोड़े की आकृतियों बनाकर मनुष्य ने अपने इर्द गिर्द के जन्तु जगत की ओर सम्भवतः उसके ऊपर अपने विजय की स्मृति सुरक्षित की है। इसी प्रकार मनुष्य आकृति को इंगित करने वाले ताँबे के टुकड़े बनाकर उसने अपनी अमूर्त आध्यात्मिक भावना को अधिभौतिक रूप दिया है। देखा जाय तो मानवता का विकास वस्तुतः इन्हीं दो विशेषताओं पर अवलम्बित है अतीत का संरक्षण और अव्यक्त की मूर्ति अभिव्यक्ति।

वस्तुतः आध्यात्मिक भावना में उपासना में जो अतीन्द्रिय, बुद्धिग्राह्य आत्यांतिक सुख प्राप्त होता है वा रागात्मक अभिव्यक्ति में जो लोकोत्तकर सुख है वह और कुछ नहीं निराकर को, बुद्धि ग्राह्य को अर्थात् भाव को साकारता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में मूर्ति चित्र कविता व संगीत के रूप में परिवर्तित करना है।

भारतीय कला देश के विचार, धर्म और संस्कृति का दर्पण होती है। भारतीय जनजीवन की पुष्काल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। यहां के लोगों का रहन–सहन कैसा था। उनके भाव क्या थे, देवदत्त के विषय में उन्होंने क्या सोचा था, उसकी पूजाविध कैसी थी और पंपभूति के धरातल पर उन्होनें कितना निर्माण किया था जिसका अच्छा लेखा जोखा भारतीय कला में सुरक्षित था। वास्तु, शिल्प, मूर्ति, चित्र, कांस्य, प्रतिमा, मृण्मयी प्रतिमा, भृजभाजन, दन्तकर्म काष्ठ कर्म, मणिकर्म स्वर्णरजत कर्म वस्त्र आदि के रूप में भारतीय कला की सामग्री प्रभूत मात्रा में पायी

जाती है। देश के प्रत्येक भाग में कला के निर्माण की ध्वनि सुनाई पड़ती है। एक युग से दूसरे युग में कलात्मक निर्माण का केन्द्र दिशा दिशाओं में भटकता रहा। किन्तु यह विविध सामग्री समुचित रूप में समस्त देश की कलाधारा के ही अन्तर्गत है।

कला के द्वारा मनोभावों की छाप भौतिक पदार्थों पर अंकित की जाती है इसकी विशेषता के कारण कला मानवीय हृदय के इतनी निकट होती है।

भारतीय कला की एक विशेषता उसमें अंकित सांस्कृतिक जीवन की सामग्री है। राजा और प्रज्ञा दोनों के ही जीवन का खुलकर चित्रण किया गया है। कला मानों साहित्यक वर्णनों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। कोई चाहे तो कला की सामग्री से ही भारतीय जीवन और रहन सहन का इतिहास लिख सकता है। भारतीय वेश भूषा, केश विन्यास, आभूषण, शयनासन आदि की सामग्री चित्र शिल्प आदि में मिलती है। छोटी मिट्टी की मूर्तियां भी इस विषय में सहायक हैं। उनमें तो सामान्य जनता को भी स्थान मिला है। कला सदा जीवन को साथ लेकर चलती है। अतः उसमें सामयिक जीवन का प्रतिविम्ब पाया जाता है।

देश में समय-समय पर जो आन्दोलन होते हैं। उनका लोकजीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है और इससे भी कला को प्रेरणा मिलती है और उनकी कथा कला के रूप में सुरक्षित रहती है। इस विषय में कला की सामग्री कही तो साहित्य से भी अधिक सहायक है।

उपसंहार

कला की कृतियों में कलाकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। कला भी एक प्रकार की भाषा है, जिस प्रकार कवि काव्य के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करता है, उसी प्रकार प्रेक्ष्य कलाएं आकृतियों की भाषा द्वारा अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करती है। जिस प्रकार भाषा का ज्ञाता भाषा पढ़कर उसके भाव को समझ लेता है, उसी प्रकार कला को समझने के लिए भिन्न-भिन्न शैलियों की प्रकृति को समझना आवश्यक है।

कला के दो प्रमुख उद्‌देश्य है, पहला अतीत को जीवित बनाये रखना और दूसरा किसी भाव को आकार देना।

प्रकृति जो देती है वह कलाकार नहीं होता। न कलाकार संस्कृति का यथातथ्य रूपायन करता है। यह कार्य छाया शिल्पी का है। कला प्रकृति को अपनी दृष्टि से देखती है। कलाकार दृश्य में बैठकर प्रायः उससे एकीभाव होकर उसे देखता और सिरजता है। वह प्रकृति को अपनी तूलिका, छैनी अथवा लेखनी से संवार देता है। नग्न प्रकृत्य स्थिति में कलावन्त जो अपने माध्यम से अन्तर डाल देता है, वही कला है। कला के अनेक रूप है- स्थापत्य, मूर्तन, चित्रण, रंगमंच तथा संगीत।

मूर्तिकला :-

संसार में मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाली रहा है, उतना अन्य कोई प्रतीक नहीं। त्रास और कुतूहल से भगवान और धर्म का उदय हुआ परन्तु उनसे बहुत पूर्व मूर्ति की काया सज गयी थी। भगवान का उदय हो चुकने पर भी व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए एक माया चाहिए थी और मानव ने जैसे प्रेम और श्रद्धा मानव अथवा व्यक्ति के प्रति ही विकसित किये थे, उस दशा में भी उसे कुछ अपना साही चाहिए था और प्रतिमा अपने ही अनुरूप उसने रच डाली। आत्मीयता मूर्त हुई।

प्राथमिक चिंताकुल मानव की इस प्रकार मूर्ति पहली अभिसृष्टि थी। प्रशान्त सागर से अटलांटिक तक सारी भूमि मूर्ति पूजती और उससे डरती थी। भय जब स्थाई हो गया तब उससे मानव परचा और उसको धीरे-धीरे सुन्दरतर करने लगा, प्रिय आत्मीय जैसा। मूर्ति में कला बसी। भारत के इतिहास में भी मूर्ति उतरी ही पुरानी है, जितना पुराना उसका ज्ञात इतिहास है, जो हमारी प्राचीनतम् सभ्यता के भग्नावेश से स्पष्ट होते हैं।

भारतीय कला की परम्परा प्राचीनतम् काल में मानी गई है। सिन्धु की घाटी में प्राप्त हुई, पत्थर अथवा मिट्टी की मुहरों पर जिन आकृतियों को अंकित किया गया है, वे भारतीय मूर्ति कला के प्राचीनतम् नमूने हैं। उसके बाद मौर्य काल तक हमें मूर्तिकला के नमूने प्राप्त नहीं होते, परन्तु यह विश्वास किया जाता है कि भारतीय मूर्तिकला किसी न किसी रूप में जीवित थी, किन्तु उस काल में बनी आकृतियाँ पत्थर या धातु की न होने के कारण नष्ट हो गई।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का समय अखिल भारत में धार्मिक क्रान्ति का समय प्रमाणित हुआ। इस समय तक आते-आते ब्राह्मण धर्म अपनी सरलता और सहजता को छोड़ चुका था, उसमें कट्टरता, पुरोहित वाद, जटिलता और व्यय शीलता जैसे दुर्गुण उत्पन्न हो चुके थे। इस कारण जनता में धार्मिक असन्तोष उत्पन्न होने लगा। ब्राह्मण धर्म में अब इतनी क्षमता नहीं रही थी कि वह लोगों की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता। फलतः लोगों का ब्राह्मण धर्म पर से विश्वास उठने लगा। ब्राह्मणों ने अपनी सामाजिक सर्वोच्चता को सुरक्षित रखने के लिए समाज में वर्ण भेद की भावना उत्पन्न कर दी। धर्म पालन और धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन का अधिकार केवल उच्च वर्णो तक ही सीमित रखा गया। इस वर्ण भेद के कारण निम्न वर्गो में असन्तोष उत्पन्न हुआ। अब एक ऐसे सार्वभौमिक धर्म की आवश्यकता थी जो सहज और सरल होने के साथ-साथ सामाजिक समानता पर बल देने वाला भी हो। इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्मो के उदय की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

जैन कला सौन्दर्य अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। प्रारम्भ में जैनियों ने अपने समकालीन बौद्धों के समान अपने सन्तों की प्रतिष्ठा में स्तूपों का निर्माण किया। इन स्तूपों में पाषाण रेलिग, अलंकृत प्रवेश द्वारा, पाषाण छत्र, रूप शिल्प के उत्कीर्ण स्तम्भ एवं प्रचुर प्रतिमाएं थी। इसके कुछ नमूने मथुरा में उपलब्ध हुए हैं।

अन्य धर्मो के समान जैन धर्म में भी अपने सिद्धान्तों के विकास एवं प्रसार के लिये कला का आश्रय लिया। मूर्तिकला स्थापत्य कला तथा चित्रकला में माध्यम से जैन मुनियों ने अपने सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति तो की है, साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से इन कलाओं के विकास में भी सहयोग दिया।

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जैन धर्म के अन्तर्गत अनेक मूर्तियां एवं स्तूप बनवाये गये। सम्भवतः मौर्य और शुंग काल में जैन धर्म के अन्तर्गत मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ, अन्य धर्मो के समान इस धर्म में भी लोग जैन तीर्थकारों की मूर्तियां बनाकर इनकी पूजा करने लगे। अनेक अभिलेखीय साक्ष्य भी यह प्रमाणित करते हैं कि मौर्य युग से पूर्व भी जैन धर्म में मूर्ति पूजा का प्रचलन था। रानी नूर नामक उदयगिरि की गुफा के एक रिलीफ चित्र में जैन तीर्थन्कर पार्श्वनाथ के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त जैन धर्म में पूजी जाने वाली विद्या देवियों, दिगपालों, नावगृहों, योगिनियों, क्षेत्रपालों तथा लक्ष्मी की आकर्षक प्रतिमायें मध्य प्रदेश के खुजराहों नामक स्थान पर जैन मन्दिरों तथा राजस्थान के दिलवाड़ा जैन मन्दिरों में मिलती हैं। जैन धर्म में गुफा स्थापत्य को भी अधिक विकसित किया गया। मध्य प्रदेश में उदयगिरि की गुफायें, महाराष्ट्र में एलोरा की गुफायें इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, जिनकी दीवारों पर जैन तीर्थकरों के जीवन के दृश्य अंकित किए गए हैं। जैन मुनियों ने अनेक आकर्षक मन्दिर भी बनवाये। प्रायः मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटे–छोटे मन्दिरों या गढ़ों का होना जैन मन्दिरों की अन्यतम् विशेषतः रही है।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि जैन धर्म भारत के अनेक प्राचीन धर्मो में से एक है।

बौद्धों की सर्वोत्कृष्ट देन वास्तुकला एवं स्थापत्य कला के क्षेत्र में है। इसके पूर्व कला धर्म की चेरी थी। वैदिक युग में कला की अभिव्यक्ति हेतु किसी स्थाई आधार का अभाव होने से कला की विशिष्ट प्रगति न हुई। बौद्ध काल में, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का श्रेष्ठतम् विकास हुआ। विश्व के लगभग प्रत्येक संग्रहालय में बौद्ध कला के अवशेष है। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अविशिष्ट स्मृतियों पर पाषाण के स्तूप निर्मित किये गये। विहार, स्तूप और स्तम्भ स्थायी थे, अतः उनके आश्रय में कला की सभी शाखायें– चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला उन्नत हुई। इस समय से स्थापत्य कला की एक नवीन शैली का प्रार्दुभाव हुआ। सांची, भरहुत तथा अमरावती के स्तूपों, कार्ली की बौद्ध गुफाओं की गणना भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में होती है। सांची का स्तूप उनकी चारदीवारी और उनके कलापूर्ण चार प्रवेश द्वार विश्व में बेजोड़ है।

मानवीय भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति कला के ही माध्यम से ही हो सकती है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। इसका कारण यह भी था कि सर्वप्रथम धार्मिक मूर्तियों के निर्माण की परम्परा बौद्ध धर्म में ही प्रारम्भ की गई। इस प्रकार कला धार्मिक रूप धारण कर विकसित होने लगी।

जैन तथा बौद्ध साहित्य में लौकिक साहित्य के बारे में प्रचुर सामग्री है। साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि सामान्यतः महल व राजकीय भवन अलंकृत शैली में बनते थे। मकान लकड़ी और ईट के होते थे और कुछ पत्थर के होते थे। धार्मिक स्थापत्य के अन्तर्गत चैत्य या देवकुलिक का स्थान मुख्यतः बनते थे।

सिन्धु सभ्यता के बाद भारतीय कला का इतिहास मौर्य युग से पहले तक अन्धकारमय है। मूर्तिकला के लिये भी केवल एक साहित्य ही स्रोत के रूप में सामने आता है। जैन तीर्थ सर्वसंग्रह

के अनुसार पद्योत ने महावीर की जीवन्त स्वामी मूर्तियां उज्जैन, दशपुर और विदिशा में स्थापित करवायी थी। "जातकों" में इन्द्र तथा कंकणी मूर्तियों का उल्लेख आया है। "सूत्र साहित्य" में तथा अष्टध्यायी में मूर्ति के उल्लेख आये हैं। परन्तु इनके अस्तित्व की वास्तविकता संदिग्ध है। इस समय की मूर्तियाँ मथुरा, अहिच्छात्रा बक्सर आदि से प्राप्त हुई है। "आवश्यक चूर्णी" तथा "जातकों" में मिट्टी की मूर्तियों का उल्लेख भी मिलता है।

इस काल में चित्रकला के ठोस प्रमाण नहीं मिले हैं, क्योंकि इस समय के अवशेष न के बराबर ही मिले हैं। "सत्तु निपात" और "चुल्लवग" में ऐसे प्लाटर का वर्णन है जिन पर रंग होता था। "चुल्लवग" में कहा गया है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को चित्रकला के बारे में अनुदेश दिया था। "उत्तराध्ययन" और "नायधम्मकथा" में चित्रकारों का रंगों तथा कूचियों सहित वर्णन हुआ है। रूप चित्रों का वर्णन "विनयपिटक" से मिलता है। इसके अलावा भाड़, पशु आदि भी चित्रित किये जाते थे। "महाउम्मग जातक" से चित्रकला के मुख्य अभिप्रायों का पता चलता है। भूरे व काले, लाल व काले तथा काली स्लिप वाले मृदभाड़ों को इस समय की चित्रकला के प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जा सकता है।

इसके अलावा कई आकार प्रकार तथा विभिन्न वस्तुओं के शुणिये या मनके, ताँबे की सिर की पिने, अंजन लगाने की सलाइयां, हाथी दाँत के कंघे, आहत सिक्के मुहरें, ठप्पे, कुम्हार की कूंची, पत्थर के लोटे, मूसल, ओखली, पत्थर, हड्डी तथा मिट्टी की टिकली आदि इस समय की कला पदार्थों में से एक थी।

शान्ति, समृद्धि, सुनियोजित, राजनीतिक संगठन एवं राजनीतिक स्थिरता ने राष्ट्र की कला और संस्कृति के ढाँचे को ढालने में काफी योगदान दिया है। मौर्य युग की कला का महत्व यों भी है कि सिन्धु घाटी की कला के अवशेषों के बाद में इस युग के अवशेष ही मिले हैं। इस युग की कला में लकड़ी, मिट्टी और ईट के साथ-साथ पत्थर का प्रयोग भी हुआ। अशोक युगीन भारतीय पाषाण

कृतियाँ विशिष्टता कला के सुविकसित रूप की ओर संकेत करती है, सो ही भास्कर कला भी। इस युग की कला संसार को एक क्षणिक अधीरता की। अब कला स्थूलता को छोड़कर सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हुयी। एकाश्मक स्तम्भ और उन पर जो चमक है, वह इस युग की कला की अपनी विशिष्टता है। उस समय की मृणमूर्तियां भी गजब की है। कुछ मूर्तियाँ तो कालिदास के नारी सौन्दर्य के अनुरूप हैं। मोटे रूप से इस युग की कला को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, राजकीय और लोक। राजकीय कला में चित्रकला, स्तूप और स्तम्भ बौद्ध धर्म से प्रेरित कहे जा सकते हैं, परन्तु गुहायें आजीविक भिक्षुओं के लिये थी। राजा प्रसाद पर कोई धार्मिक प्रभाव नहीं था और लोक कला तो लोक कला थी ही। इसलिए यह कहना शायद उपयुक्त न होगा कि मौर्य कला ने अपनी सम्पूर्ण प्रेरणा बौद्ध धर्म से प्राप्त की।

मौर्य काल भारतीय कला के इतिहास में युग प्रवर्तक है। मौर्य सम्राट असाधारण निर्माता थे। उन्होंने भव्य भवनों एवं अन्य कलापूर्ण स्मारकों का निर्माण किया। प्राचीन कला के सर्वोत्कर्ष नमूनों में इनकी गणना होती है।

अशोक के पाषाण स्मारक भारतीय सभ्यता की सबसे पूर्व की कला के उन नमूनों में से है जिनकी अब तक खोज की गई है। अशोक कालीन भारतीय पाषाण कृतियों की विशिष्टता कला के सुविकसित रूप की ओर संकेत करती है जिसके लिए अनेक सदियों पूर्व से ही शिल्पियों का सतत् प्रयास होता रहा होगा। अशोक के समय की वास्तुकला को चार भागों में बाँट सकते हैं– 1. स्तूप 2. स्तम्भ 3. राजप्रसाद 4. गुहायें

इस काल में मूर्तिकला उन्नति के शिखर पर थी। मौर्य युग की मूर्तियों में मथुरा के पास परखम में प्राप्त हुई। यक्ष, मूर्ति, वेसनगर में मिली एक स्त्री मूर्ति और दीदारगंज में उपलब्ध हुई मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

कुछ विद्धानों का यह मत है कि मौर्य कला ने भारतीय कला के विकास में कोई

महत्वपूर्ण योगदान नहीं दिया। मौर्य स्तम्भों का किसी विशाल स्थापत्य के अंग के रूप में विकास नहीं हुआ। आकाश के तले खड़े मौर्य स्तम्भों के बाद के स्तम्भों पर कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। यदि हम बेसनगर के स्तम्भ को ही लें तो हमें पता चलेगा कि इसका रूप अशोक के स्तम्भ से भिन्न है। स्थापत्य के क्षेत्र में भी जो शैली मौर्य ने अपनाई वह बाद में नही चल पायी। मौर्य कला मौर्यो के साथ ही खत्म हो गयी। सुपरिष्कृत होते हुए भी मौर्य कला भारतीय कला के इतिहास में पृथक लघु अध्याय के रूप में ही। मौर्य स्तम्भों और उनकी आकृतियों की भाँति मौर्यकला भी निवृत्त एकांत में अकेली खड़ी है और व्यक्ति विशेष की अभिरूचि की अभिव्यक्ति का इजहार करती है।

जो भी हो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दरीगृह एवं यक्षणियों की मूर्तियों का प्रभाव बाद की कला पर अवश्य पड़ा। मापदण्ड निश्चित हुए तथा उपादान का प्रयोग हुआ। भरहुत और सांची में जो यक्ष, यक्षणियों की मूर्तियाँ है वे मौर्य लोककलाकी परम्परा में ही। शुंग युग में इन मूर्तियों का महत्व बढ़ा। कुषाण युग में मथुरा में कई यक्षों की मूर्तियाँ बनी। गुप्त काल में भी यक्षों का महत्वपूर्ण स्थान रहा। कालीदास ने भी यक्षों का वर्णन किया है।

जिस चमकदार पालिश का बड़े पैमाने पर तथा शान शौकत के चिन्ह के रूप में मौर्यो ने इस्तेमाल किया होगा। वह कुछ काल तक अवश्य जीती रही होगी और मौर्यो के बाद आकस्मिक रूप से उसका प्रयोग होता रहा होगा।

चुनारी पत्थर भी तब तक उपयोग में आता रहा होगा। जब तक कलाकारों ने दूसरी जगह के पत्थर पर प्रयोग कर उसे अनुकूल न बना लिया होगा और फिर जो स्तम्भ बने, उनकी प्रेरणा मौर्य स्तम्भ ही रहे होंगे। यद्यपि बाद के स्तम्भो में परिवर्तन अवश्य आया परन्तु परिवर्तन तो प्रकृति का नियम है और इसलिए नीलकण्ठ शास्त्री का यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता कि यह वस्तुतः ग्रीष्म भवन का एक वृक्ष था, जिसका पोषण राज दरबार की इच्छा, देखरेख और संरक्षण पर अभिलम्बित था और

वह दरबार स्वयं विदेशी संस्कृति और विचारधारा के प्रभाव से अभिभूत था। कालांतर में शीशे की दीवारें नष्ट हो गयी और वह पौधा मुरझाकर बिखर गया।

शुंग काल में कला के क्षेत्र में देश में अनेक केन्द्रों में पाषाण घटित शिल्प और स्थापत्य का व्यापक प्रचार हुआ। स्तूप, तोरण वेदिका और मूर्तियों की रचना के लिए पत्थर का प्रयोग सामान्य बात हो गयी। भरहुत, सांची और अमरावती जैसे महाचेतिय या बड़े स्तूप इस युग में बने। बौद्ध कला के बौद्धिमण्ड या व्यासन के चारों ओर पत्थर की वेष्टिनी या वेदिका और उसके बीच में चार तोरण इसी युग की कृतियां है। पत्थर में नाना भांति की उकेरी या नक्काशी एवं अलंकरण, अभिप्राय और मूर्तियां इसी युग के शिल्पियों की रचनायें हैं जिनमें देश के आगे आने वाले मार्गीय शिल्प का सूत्रपात होता है। जनता में यक्ष, नाग आदि लोक देवताओं के लिये जो धार्मिक मान्यता और बौद्ध धर्म के प्रति जो आस्था थी उसका अंकन एक साथ पत्थर पर किया जाने लगा और उसमें कलात्मक सौन्दर्य और विचित्र नई शोभा की सृष्टि की गई। म केवल आकार में अति विशालकाय कृतियों की रचना की गयी जैसे– भरहुत और सांची के प्रभविष्णु स्तूप और महान वेदिका युक्त तोरण द्वार किन्तु सुन्दर गढ़ी हुयी मूर्तियां भी उत्कीर्ण की गयी। एक ओर वास्तुशास्त्र के नये विधान स्थित किये गये, दूसरी ओर मूर्तिशिल्प में लालित्य और रूप विधान का भी विकास हुआ जिसके फलस्वरूप चन्द्रा यक्षी, चुलकोका, महाकोका देवता, सुर्दशना यक्षी जैसी सुन्दर स्त्री मूर्तियों की रचना की गई है जिनमें एक ओर गात्र यष्टि की पूरी शोभा है और दूसरी ओर केश विन्यास, विशेषक रचना, अनेक प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों द्वारा सौन्दर्य विधान का बहुत अच्छा विकास मिलता है। इसी के साथ शुंगकालीन कला में रसतत्व व आनन्द को भी विशेष स्थान दिया गया। स्त्री पुरूषों के मुख पर प्रफुल्लता से भरा हुआ दिव्य आनन्द छलकता हुआ दिखायी पड़ता है। कला में इस प्रकार का हंसातमुखी सौन्दर्य एवं अंकन तभी होता है जब कलाकार शिल्पी हँसते खेलते लोक जीवन के साथ तन्मय हो गया हो। शुंग कला की यह विशेषता है कि उसमें सैकड़ों मार्गो से

लोक के प्राणवन्त जीवन को अभिव्यक्त होने का स्थान मिला है। अनेक प्राचीन अलंकरणों की पुस्तक के अध्याय इस युग में मानों खलने लगते हैं। श्री लक्ष्मी पूर्णघट उत्तरकुरु के दृश्य, धर्मचक्र, त्रिरत्न, कल्पवृक्ष, मकर, कच्छप, यक्ष–यक्षी, नाग–नागी, वृक्ष, स्तूप, महाआजानेय पशु जैसे वृषभ, सिंह, अश्व, हस्ति, आदि पशुओं की पूजा, देव देवियां, देव प्रासाद, पुष्पसूत्र, पुष्पमालायें, कल्पलता, सरोवर, रत्नमाला और भी अनेक अभिप्राय मिलते हैं जो एक ओर प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के सूचक है और दूसरी ओर शोभा के लिए कला में अंकित किये जाते थे। शुंग काल में जितने अधिक अलंकरण है, उनका वर्गीकरण और संग्रह करने पर तो भारतीय कला को एक पूरी सौन्दर्य संहिता ही हमारे सामने आ जाती है। ये मांगलिक चिन्ह की भारतीय धार्मिक जीवन को प्रकट करने वाली बारहखड़ी है। अशोक ने जिस प्रकार के स्तूपों का निर्माण आरम्भ कराया था उनका और अधिक शुंग युग में हुआ।

स्तूप, चेत्यहार, विहार, स्तम्भ, चतुः शालवेदिका समेत तोरण और देवस्थान के शुंग युग की कला की देन है।

बौद्धों के नवीन सम्प्रदाय ने कला के क्षेत्र में एक नई शैली को जन्म दिया। यह कुषाण नरेशों की छत्रछाया में फली–फूली और कनिष्क के राज्यकाल में विशेष रूप से उन्नत हुई। बौद्ध धर्म के नवीन सम्प्रदाय महायान का केन्द्र गान्धार प्रान्त ऐसी स्थिते था कि वहाँ भारतीय, चीनी, ईरानी और रोमन संस्कृतियाँ मिलती थी। इस कारण इस प्रदेश की कला पूर्व एवं पश्चिम की कला का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। गान्धार देश में विकसित होने के कारण इस कला का नाम "गान्धार शैली" पड़ा। यद्यपि निर्माण शैली यूनान से ली गई पर कला का आत्मा वस्तुतः भारतीय रही। गान्धार शैली की सबसे महत्वशाली देन बुद्ध प्रतिमाओं का विकास है। इस शैली के पूर्व बुद्ध सम्बन्धी कथाओं को पाषाण पर उत्कीर्ण किया जाता था परन्तु इस कला में तथागत बुद्ध की मूर्ति शिल्पियों की प्रिय विषय बन गई थी।

गान्धार शैली के अतिरिक्त मथुरा और अमरावती दो अन्य शैलियाँ भी प्रचलित थी। मथुरा

शैली दो भागों में विभक्त की गई–पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की प्रतिमाएं भरहुत की मूर्तियों जैसी और काफी अनगढ़ है। उत्तरार्द्ध की प्रतिमाएं अधिक परिष्कृत है।

दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के निचले भाग जिला गुण्टूर में अमरावती शैली का विकास हुआ। अमरावती में स्तूप एवं समस्त गुम्बद संगमरमर के शिला फलकों से आच्छादित था। मूर्तियाँ अलंकृत थी। यहाँ की समस्त कला सजीव एवं भक्तिभाव से ओत–प्रोत है।

गुप्तकाल में भारत में कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। मूर्तिकला, भवन निर्माण कला, चित्रकला और टेराकोटा में इतनी प्रगति की जितनी उसके बाद कभी देखने में नहीं आयी। कुछ अत्यन्त सुन्दर स्मारक गुप्तकाल की देन है। इस युग में मथुरा, बनारस और पटना कला केन्द्र थे।

गुप्तकला में कई विशेष लक्षण हैं। इस कला में परिष्कृत और संयम का मेल दृष्टिगोचर होता है। गुप्त कलाकारों ने मात्रा की अपेक्षा लावण्य पर अधिक बल दिया। उनकी कला में अभिव्यक्ति की सरलता और आध्यात्मिक उद्देश्य स्पष्ट दिखाई देते हैं। रूढ़ियों से स्वतन्त्रता तथा सन्तुलन उसकी विशेषता है, वस्त्रों, आभूषणों तथा अन्य सजावटी वस्तुओं के प्रयोग में गम्भीरता दिखाई देती है, उसमें स्वाभाविकता है।

गुप्तकला "रूपम" या सौन्दर्य की कल्पना के लिए प्रसिद्ध है। गुप्त कलाकारों ने सुन्दर आकृति की भिन्न–भिन्न आकारों में उपासना की, आध्यात्मिक आनन्द और श्रेष्ठता के नये विचार उत्पन्न करने के लिये उन्होंने कला की उपासना की।

गुप्तकला में व्याप्त धार्मिक और आध्यात्मिक संवेदना है। अजन्ता की गुफाओं में देवताओं, ऋषियों, राजाओं, रानियों और उनके अनुचरों के चित्रों से अच्छाई और बुराई का पता चलता है।

गुप्त कला से शैली की सरलता और अभिव्यक्ति की सुगमता का पता चलता है। महान विचारों को प्राकृतिक और सहज ढंग से स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया। वाह्याकार और आन्तरिक अर्थ को उसी प्रकार मिला दिया गया, जैसे शरीर और आत्मा मिले हुए हैं।

विद्वानों के विचार में गुप्त कला प्राचीन भारतीय कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है, इसे केवल भारत में ही विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं हुआ, बृहतर भारत में भी इसे ले जाया गया। इसने भारत में तथा विदेशों में आश्चर्यपूर्ण सफलतायें प्राप्त की, विशेषकर गुफाओं की दीवारों पर चित्रण कला को मध्य एशिया और चीन में पहुँचाया गया।

गुप्त काल का गौरव और वैभव विविध दर्शनीय कलाकृतियों के द्वारा चिरस्मरणीय हो गया है। इस युग में समस्त भारत में कलाओं में अतुलनीय गतिविधियाँ रही। कला के विभिन्न अंग जैसे– वास्तुकला, चित्रकला, पकी हुई मिट्टी की मूर्तिकला ने वह परिपक्वता, सन्तुलन और स्वभाविकता प्राप्त की जिसकी श्रेष्ठता आज भी कोई प्राप्त नहीं कर सका है। गान्धार शैली पर जो यूनानी प्रभाव था, वह गुप्तकाल में लुप्त हो गया। अजन्ता की गुफाओं के चित्र गुप्तकाल की देन है।

हमारी कला, जिसमें हमारी युगों की संस्कृति और अनेकों उपयोगी आध्यात्मिक संदेश भरे पड़े हैं और विश्व में फैली पड़ी है। आज उपेक्षा की वस्तु हो रही है। भारत और वृहत्तर भारत में ऐसे स्थान है, जहाँ इस प्रकार की अमूल्य निधियाँ भरी पड़ी है। हमारा दायित्व है कि हम उनके उद्‌घाटन का प्रयास करें। पृथ्वी के भीतर और बाहर अनेकों अमूल्य वस्तुएं हैं जो नष्ट हो रही है और उसका कारण हमारी कला सम्बन्धी अनभिज्ञता है। हमारा पुनीत दायित्व है कि हम उनका संरक्षण करें और समझे कि हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए कितना कुछ महत्वपूर्ण छोड़ा है। ,

विशेष अध्ययन
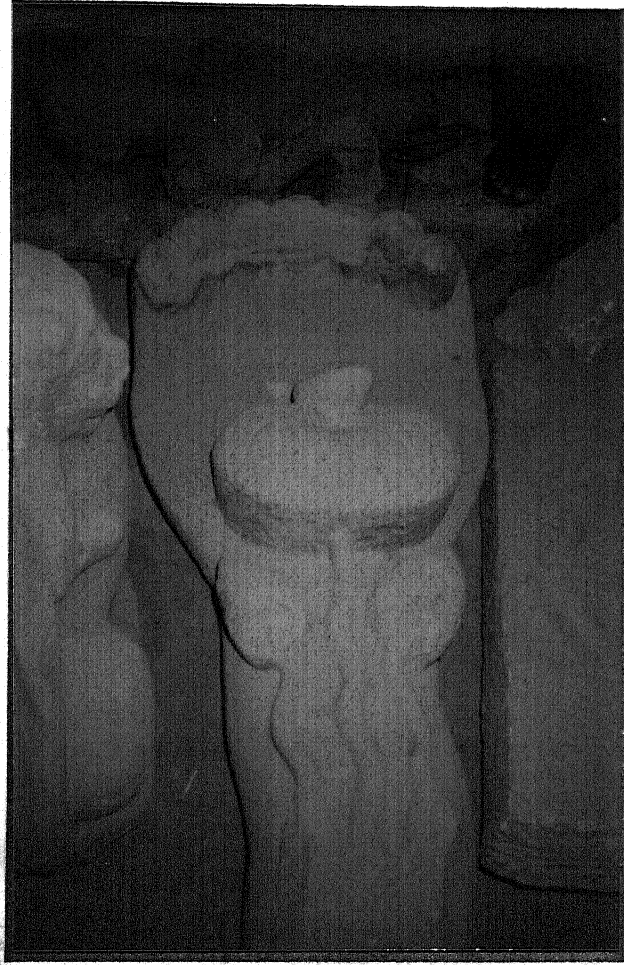
प्रतिमा : नाग

समय : मौर्य युग के अन्तिम वर्ष

मुद्रा : फन फैलाये हुए

अन्य : नाग अपने फन से कमल नाल व फली को ढ़के हुए प्रतीत होता है दो कलियाँ है तथा एक कमल पत्र है।

यह प्रतिमा लाल बलुए पत्थर की है। नाम का फन काफी कुछ खण्डित हो गया है।

सौजन्य से – मथुरा संग्रहालय के गोदाम सं0 1 से।
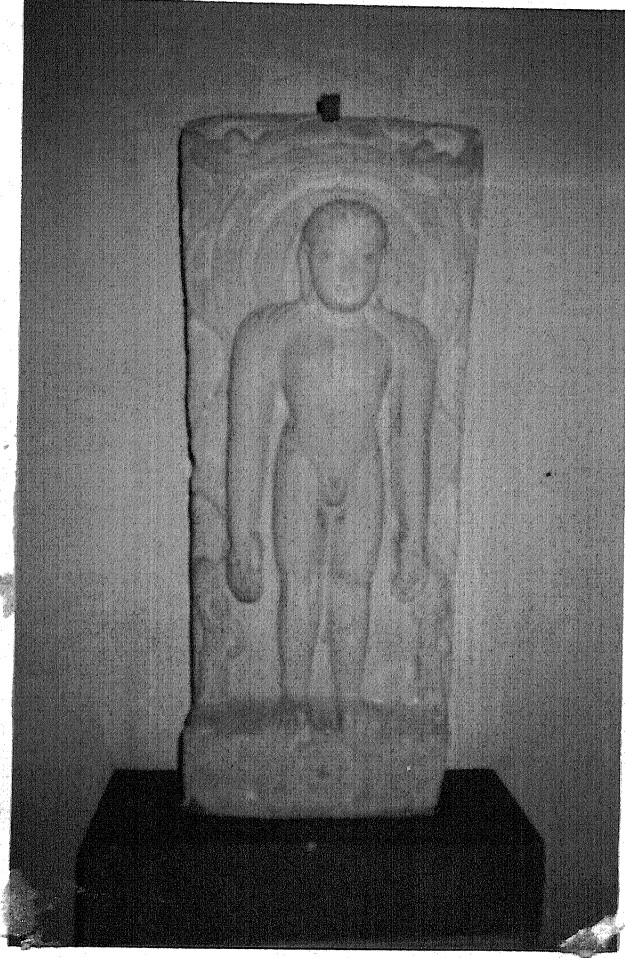
प्रतिमा : तीर्थांकर ऋषभ नाथ

समय : 5वीं शताब्दी

मुद्रा : सम्मुख दर्शन, खड़ी हुई।

अन्य : समुद्र व सागर द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्ति प्रभामण्डल युक्त, केश कन्धों पर फैले हुए हैं, कानों में कुण्डल हैं, दिगम्बर प्रतिमा। जिस चौकी पर खड़ी है उसने नीचे मांगलिक चिन्ह उत्कीर्ण है। दोनों पैरों के पास तथा ऊपर दोनों कोनों पर दो–दो मानवाकृतियाँ हैं।

यह प्रतिमा लाल चित्ती वाले पत्थर पर उकेरी गई है।

सौजन्य से – विशेष प्रदर्शिनी, राजकीय संग्रहालय मथुरा।

प्रतिमा : सोंख से प्राप्त मिट्टी के बर्तन

संख्या : 15

समय : मौर्यकाल से लेकर गुप्तकाल तक

अन्य : टैराकोटा के कुछ उत्कृष्ट नमूने हैं तथा कुछ वित्रित धूसित मृद भाड़े है। कुछ वर्तनों पर हल्की सी नक्काशी है।

सौजन्य से – टैराकोटा गैलरी, मथुरा संग्रहालय

प्रतिमा : यक्षी

समय : कुषाण

मुद्रा : खड़ी हुई, सम्मुख दर्शन

अन्य : यह सुसज्जित वेदिका स्तम्भ पर उत्कीर्ण है एक हाथ ऊपर की ओर उठाये हुए तथा एक कमर के पास है, केश विन्यास अच्छी है जुड़ा बनाये है। कानों में कुण्डल है गले में दो हार है। कमर में करधनी है। हाथों में कंगन धारण किये हुये है। पैरों में भी सम्भवत: कुछ आभूषण रहे होंगे, लेकिन अब पैर खण्डित है। कहीं-कहीं से ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह यक्षी नृत्य की मुद्रा में हो।

सौजन्य से – गोदाम सं0 2 मथुरा संग्रहालय– नवीन भवन

प्रतिमा : स्त्री विदूषक

मुद्रा : घुटनों पर बैठी हुई

समय : कुषाण काल के अन्तिम कुछ वर्ष

अन्य : हास्य रस प्रधान, कुछ भौंड़ी सी आकृति, केश विन्यास भी अपरिष्कृत है, कानों में कुण्डल गले में हार कन्धे से एक साफा जैसा धारण किये, कमर से नीचे धोती पहने है।

सौजन्य से – विशेष प्रदर्शिनी, राजकीय संग्रहालय मथुरा
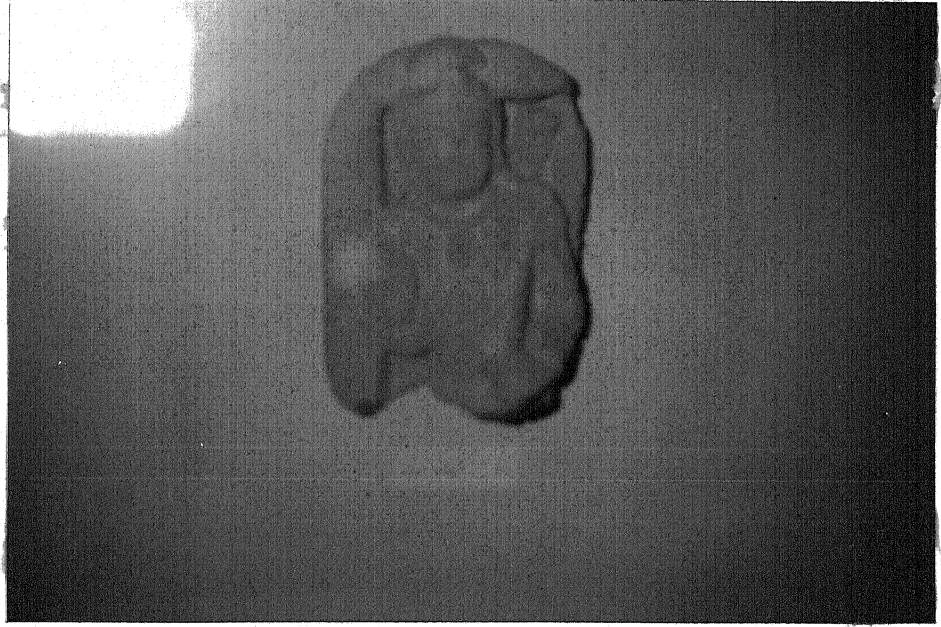
प्रतिमा : कार्तिकेय.

मुद्रा : सम्मुख दर्शन

समय : गुप्तकाल (आरम्भिक)

अन्य : केवल धड़ ही उपलब्ध है जिसे देखने से लगता है यह खड़ी अवस्था में रही होगी। केश विन्यास सुन्दर है। कानों में कुण्डल है गले में हार है। हाथों में कड़े हैं एक हाथ अभय मुद्रा में उठाया हुआ है एक हाथ कमर के पास है जिसमें अपना धनुष या कोई दण्ड धारण किये हुए है।

यह प्रतिमा लाल पत्थर के हैं।

सौजन्य से – लखनऊ संग्रहालय की गोदाम सं0 –3

प्रतिमा : वाराह

मुद्रा : सामने की ओर बैठी हुई

समय : शुंगकाल

अन्य : शैली अपरिष्कृत है। नाम चपटी है तथा भंग है। होंठ मोटे हैं कानों में बड़े-बड़े कुण्डल है। गले में कण्ठा है। हाथ भंग है गले से कमर में फेंटा कसे है, पेट कुछ बाहर की ओर है। धोती के चुन्नटे दिखाई गई है।

मिट्टी की प्रतिमा है। लोरूकला का उदाहरण है।

सौजन्य से – राजकीय संग्रहालय, ग्वालियर
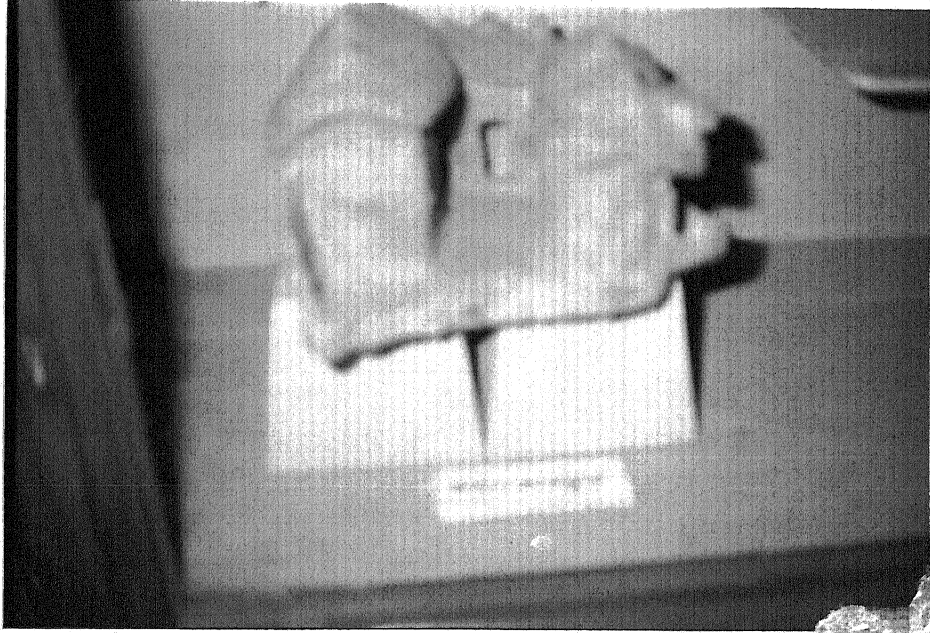
प्रतिमा : मकान का नमूना

मुद्रा : सामने की ओर

समय : गुप्त काल

अन्य : टैराकोटा का एक उत्कृष्ट नमूना दो एमंजिला भवन। एक-एक बात का अच्छी तरह ध्यान रखकर यह नमूना तैयार किया गया है।

सौजन्य से – टैराकोटा वीथिका, मथुरा संग्रहालय

प्रतिमा : सूर्य

मुद्रा : सप्ताश्व रथारूढ़

समय : गुप्त काल

अन्य : सात घोड़ों के रथ पर सवार सूर्य। सिर पर पगड़ी है, गले में हंसली है, कानों में कुण्डल है। पीठ आसन से टिकाये हुए है। हाथों में कड़े धारण किये हैं तथा दोनों हाथों में कुछ उठाये हुए है। उत्तरीय भी धारण किये है।

यह प्रतिमा लाल चित्ती वाले पत्थर की है

सौजन्य से– सूर्य प्रदर्शिनी, मथुरा संग्रहालय
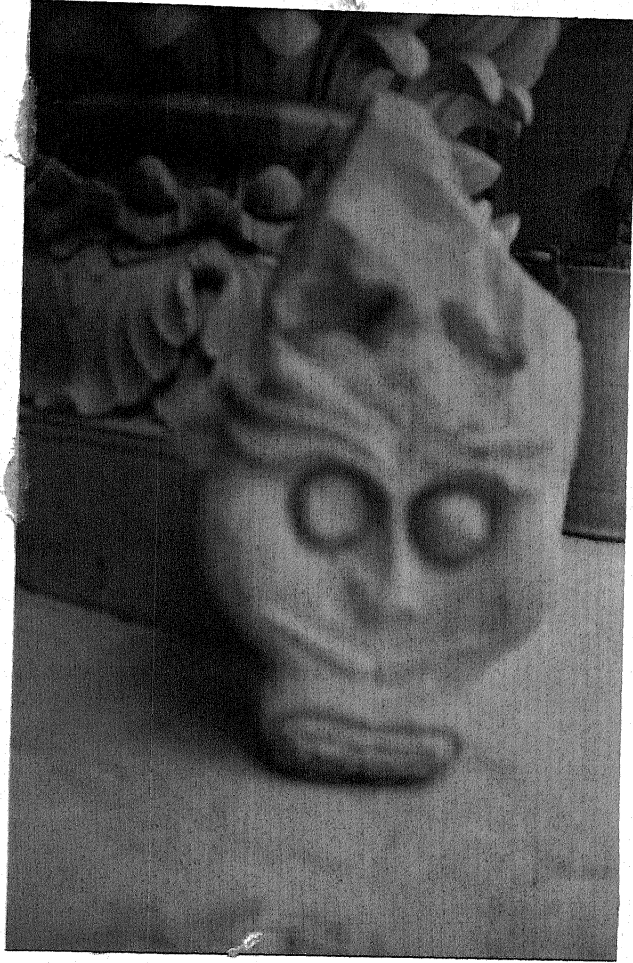
प्रतिमा : कीर्तिमुख

समय : कुषाण

अन्य : सिर की पगड़ी अलंकृत रही होगी किनतु अब खण्डित है। आंखें गोल और उभरी है एक आंख खण्डित है। नाम भी कुछ खण्डित है। मूछें है। यह देखने में डरावनी सी प्रतीत होती है।

यह सफेद चूना पत्थर की है।

सौजन्य से – मथुरा संग्रहालय के प्राचीन भवन के गोदाम से
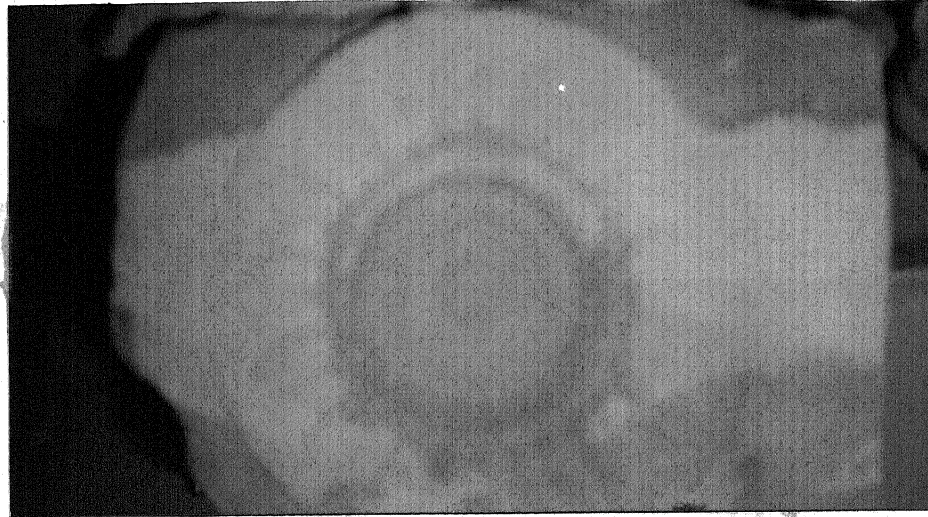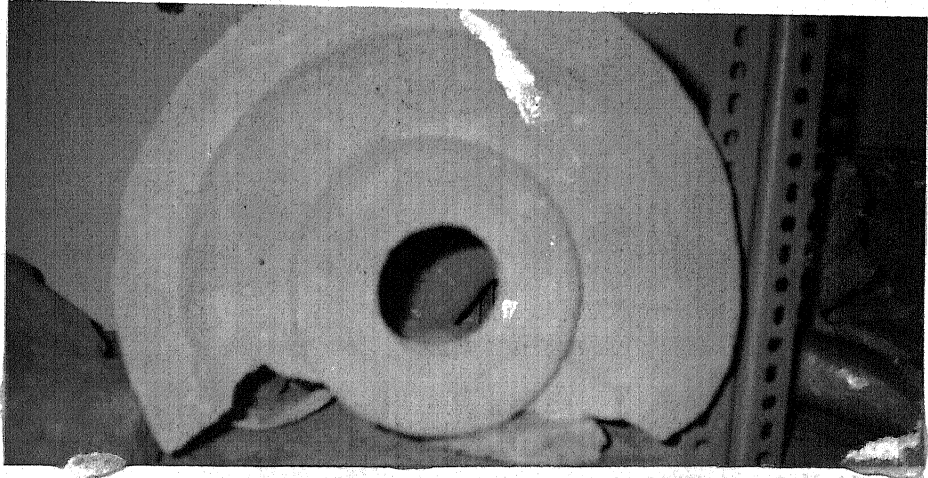
प्रतिमा : चकरी

मुद्रा : मुख भाग, पृष्ठ भाग

समय : कुषाण

अन्य : कभलार्कित चकरी का मुख भाग बीच में गोल चिन्ह अंकित है। दोहरी लड़ी है यह रेलिंग का टुकड़ा होना चाहिये। पृष्ठ भाग खण्डित है।

यह लाल सफेद पत्थर की सम्पूर्ण है।

सौजन्य से – मथुरा संग्रहालय, गोदाम सं0– 2

प्रतिमा : सूर्य

मुद्रा : गोदोहन मुद्रा में आसीन

समय : कुषाण

अन्य : सिर पर पगड़ी, माथे पर बिन्दी भंवे कुछ उभरी हुई, कानों में कुण्डल मूंछे, गले में कण्ठा धारण किये हुए, भुजबन्द व कड़े हाथों में पहने है एक हाथ में दण्ड तथा दूसरे हाथ में सम्भवतः कमल धार किये है। केश कन्धों पर फैले हुए हैं। कमर से धोती इस प्रकार बधी है कि देखने में लगता है कि कोई पट्टा डाल रखा है। जिस आसन पर विराजमान है उसमें दोनों ओर अश्व खड़ी हुई मुद्रा में अंकित है।

यह प्रतिमा लाल चित्तीदार पत्थर पर उत्तीर्ण है।

सौजन्य से – राजकीय संग्रहालय भोपाल।

भारत के प्राचीन नगर
तक्षशिला
मोहनजोद्रो
मथुरा
अहिच्छत्तर
कन्नौज
श्रावस्ती
लौरीया
नन्दन गढ
भीतर गाँव
वैसाली
पाटलीपुत्र
कौसंबी
सारनाथ
पहाड़पुर
खजुराहो
राजगीर
भरहुत
बोधगया
सांची
पीटलखोरा
भुवनेश्वर
उदयगिरि
खण्डगिरि
जौगदा
कोनार्क
सालीहुनदम
अरब
सागर
अमरावती
नागार्जुन कुंड
ब्रह्मगिरि
वंगाल
की
खाड़ी
महावली पुरम
तंजौर
लंका
हिन्द महासागर

परीशिष्ट - 'ख'

VEDIC INDIA
HIMAVANTA
BRAHMAVARTA
GANDHARA
VITASTA
ASIKNI
PARUSHNI
VIPAS
SUTUDRI
KURUKSHETRA
INDRAPRASTHA
HASTINAPUR
PANCHALA VATSA
AYODHYA
PRAYAGA
SINDHU R.

परिशिष्ट - 'ग'

गंगा द्वारा विभाजित क्षेत्र और गंगा के ऊपरी मैदान
200 किलोमीटर
100 मील
गंगा के ऊपरी मैदान
पीलीभीत
अयोध्या
कानपुर
यमुना
गोमती
गंगा
सतलुज
दिल्ली
शिवालिक
200 मीटर से ऊपर क्षेत्र
इलाहाबाद

चित्रित धूसर मृद्भांडों के
खुदाई में प्राप्त स्थल
68°
72°
76°
80°
84°
28°

परिशिष्ट - 'च'

भारतीय उप-महाद्वीप–ईस्वी सन् 100-500
बामियान
काबुल
गांधार
पुरुषा पुर
तक्षशिला
काश्मीर
कंधार
क्वेटा
बोलनपास
सिंधु नदी
सतलज नदी
जालंधर
आर्यावर्त
थानेश्वर
हरिद्वार
दिल्ली
मथुरा
कन्नौज
मकेटा
यमुना नदी
गंगा नदी
प्रयाग
बनारस
नालंदा
मालवा
बेसनगर
साँची
कच्छ
बल्लभी
काठियावाड़
नासिक
प्रतिष्ठान
कल्याण
चौल
गोदावरी नदी
महानदी
हाथी गुम्फा
(उदयगिरि)
घंटाशाला
अरब सागर
कृष्णा नदी
मद्रास
कांचीपुरम
चोल
अरिकमेदु
कावेरी नदी
तमिलनाडु
पांड्य
सीलोन
अंडमान-निकोबार
द्वीपसमूह
कि. मी. 0 200 400
मील 0 100 200 300 400

THE KUSHANS & SATRAPS

HINDU KUSH MTS.
BACTRIA
Parushapura
Pashkdavati
LATER KUSHANS
KASHMIR
Taxila
Vitasta R.
Sakala
HIMALAYA
Sutudri R.
SAKASTHANA
Kandahar
ARACHOSIA
YAUDHEYAS
Indus R.
MOUNTAINS
Sthaniavara
Ahichchatra
Indraprastha
GURJARAS
Mathura
Kanyakubja
Ayodhya
NEPAL
LICHCHHAVIS
KAMARUPA
GUPTA
EMPIRE
NAGAS
Prayaga
Pataliputra
MAGADHA
Nalanda
Abu
Narwar
Eran
Mandasor
SAKAS
(W. SATRAPS)
Bodh Gaya
Rupnath
Valabhi
Ujjain
VINDHYA MTS.
MAHAKOSALA
Girnar
Somnath
Nerbudda R.
SAMATATA
Tamralipti
Erandapalli
Ajanta
Devagiri
Nasik
DAKSHINAPATHA
Puri
Ganjam
Mahendragiri
Kattura
KALINGA
Godavari R.
Manyakheta
Krishna R.
Vengipura
PALLAVAS
DRAVIDA
CHOLAS
Kanchi
Uraiyur
Madura
PANDYAS
SINGHALA
INDIA
c. 500 A.D.

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्थ

1. एवरेथ ब्राह्मण : (सम्पा0) टॉनी, लन्दन 1895
2. कालीदास ग्रन्थावली : (सम्पा0) सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ़, 1950
3. जातक : (सम्पा0) वी0 फॉसबॉल, 6 भाग, लन्दन, 1877–97
4. : ई0बी0 कॉवेल (अंग्रेजी अनुवादक), कैम्ब्रिज, 1895–1913
5. जैनसूत्र : एच0 जैकोबी (सम्पा0) एच0कर्न, बोस्टन, 1891, अनुवादक स्पेयर, लन्दन, 1895
6. दिव्यावदान : (सम्पा0) इ0बी0 कॉबेल तथा आर0ए0 नील, कैम्ब्रिज,1886
7. दीपवंस : (सम्पा0) एच0 ओल्डनबर्ग, लन्दन, 1879
8. पंचतंत्र : वाराणसी, 1972
9. भागवत पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि0सं0 2010
10. मत्स्य पुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1907
11. मनुस्मृति : पं0 गंगानाथ झॉ, 5 भाग, कलकत्ता, 1922–29
12. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर
13. महावंस : (सम्पा0) डब्लू गीगर, पी0टी0एस0 लन्दन, 1908
14. महावंस टीका : पाली टैक्स्ट सोसाइटी संस्करण
15. राजतरंगिणी : ले0 कल्हण (सम्पा0) रामतेज शास्त्री, वाराणसी, 1950
16. रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर
17. विष्णु पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर
18. अर्थववेद : गीता प्रेस, गोरखपुर
19. याज्ञवल्क्य स्मृति : छद्र स्रिसा, 1891
20. शिव महापुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर
21. शतरुद्र संहिता : गीता प्रेस, गोरखपुर

जर्नल्स रिर्पोट्स, पत्रिकायें :

1. एनुअल ऐडमिनिस्ट्रेटिव रिर्पाट्स आर्केलाजिकल डिपार्टमेन्ट, ग्वालियर स्टेट
2. बुलेटिन ऑफ द प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम ऑफ वेस्टर्न इण्डियन
3. बुलेटिन ऑफ द डिकेन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट.
4. एपीग्राफिआ इण्डिका
5. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
6. इण्डियन ऐन्टीक्वेरी
7. इण्डियन कल्चर
8. जनरल ऑफ गुजरात रिसर्च सोसाइटी
9. जनरल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएनटल आर्ट
10. जनरल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना
11. जनरल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री
12. जनरल ऑफ यू0पी0 हिस्टारिकल सोसाइटी
13. मार्ग
14. जनरल ऑफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी
15. जनरल ऑफ बाम्बे ऑफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई व लन्दन
16. जनरल ऑफ द म्यूजियम एसोशिएसन ऑफ इण्डिया
17. प्रोसीडिग्स एण्ड ट्रांजेक्शन्स ऑफ आल इण्डिया ओरिएन्टल कांफ्रेंस
18. विक्रम स्मृति ग्रन्थ
19. इतिहास समीक्षा, जयपुर.
20. एनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
21. एनुअल रिपोर्ट ऑफ मैसूर आर्कियोलॉजीकल डिपार्टमेंट

22. जनरल ऑफ द न्युमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी

23. भारती, वाराणसी/बुलेटिन ऑफ द कालेज ऑफ इण्डोलाजी, पार्ट–1, 1964–65

24. मेमोआयर्स ऑफ दि आर्कियोलॉजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया

25. शोध पत्रिका, उदयपुर

26. राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ 45, पृ0 33–36

27. पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, 1936, फलक–22, चित्र 1–12

28. " " फलक 23, चित्र 13–16

29. उ0प्र0 इतिहास पत्रिका, भाग–10, खण्ड–2, जुलाई 1937, पृ0 59–84

30. पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, 1927–28, पृ0 18

31. उ0प्र0 इतिहास पत्रिका, भाग–14, जुलाई 1941

32. उ0प्र0 इतिहास परिषद पत्रिका, भाग–9, खण्ड–2, जुलाई 1936

33. प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई 1989

34. साप्ताहिक हिन्दुस्तान

35. हिन्दुसतान टाइम्स

36. गृहशोभा, नई दिल्ली, मार्च 1996

37. ए0एस0 आल्तेकर, मिश्रा व विजयकान्त, रिपोर्ट ऑन कुमरहार एक्स्कावे शन्स, 1951–55, पटना, 1959

38. हरयाना, रिप्रिस्टेड फ्रॉम जनरल ऑफ हरयाना स्टडीज कुरूक्षेत्र यूनीवर्सिटी, कुरूक्षेत्र, वो0–IIX, नं0 1–2, 1977

39. इण्डियन आर्कियोलॉजी– ए रिव्यू 1953–54 से 1978–79 आर्कियोलॉजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली

40. जनरल ऑफ द इण्डियन सोसाइटी ऑल ओरिएन्टल आर्ट, न्यू सीरीज, वो0– IIX, 1977–78

41. डा0 मोतीचन्द्र कोमेमोरेशन, वो0 पार्ट–III

42. गोबर्धन राय शर्मा, कौशाम्बी उत्खनन प्रसंग

43. वैदिक इण्डेक्स, जि0–I

44. आई0ए0आर0 1975–76

45. सं0 ई0डि0 – स्पेट व लियरमन्थ

46. जगत्पति जोशी, निदेशक की पुरातत्व उत्खनन रिपोर्ट्स

47. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, दिल्ली संस्करण, जून 26, 1981

48. राज्य संग्रहालय भोपाल द्वारा प्रकाशित शैव प्रतिमायें पत्रिका

४९. सोवियत भूमि

<u>सहायक ग्रन्थ</u>

1.	एलन, जे0	: ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलॉग ऑफ द क्वायन्स् ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया, कैम्ब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
2.	एवारमोन्त, पी0एच0एल0	: द क्रोनोलॉजी ऑफ द रेन ऑफ अशोक मोरिय लीडन, 1956
3.	अग्रवाल, वी0एस0	: भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1966 गुप्तकालीन कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी इतिहास दर्शन, वाराणसी, 1978
4.	आलाहाकून हेक्टर	: द लेटर मौर्याज, 232 बी0सी0 टू 18 बी0सी0, दिल्ली, 1980
5.	अल्तेकर ए0एल0	: स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एन्शिएन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1955 गुप्ताकलीन मुद्रायें
6.	आयंगर, कृष्णस्वामी	: एन्शिएन्ट इण्डिया, लन्दन, 1911
7.	अर्थम्यूथन	: पोट्रेट स्कल्पचर ऑफ साऊथ इण्डिया
8.	एलन, जॉन	: कैटलॉग ऑफ द क्वाइन्स ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया (इन दी ब्रिटिश म्यूजियम) लन्दन, 1936
9.	अग्रवाल, डी0पी0	: आर्कियलॉजी ऑफ इण्डिया, 1982
10.	आलचिन, एफ0आर0	: ए सोर्स बुक ऑफ इण्डियन आर्कियलॉली 1979
11.	आल्तेकर, ए0एस0	: द वाकटक गुप्ता एज, 1946
12.	बागची, पी0सी0	: इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, कलकत्ता
13.	बुद्ध प्रकाश	: स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, नई दिल्ली 1965
14.	बॉशम ए0एल0	: द वण्डर दैट वॉज इन इण्डिया, लन्दन, 1967 स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलक्तता, 1964 पेपर्स ऑन द डेट ऑफ कनिष्क (सम्पा0)

15. बोगार्ड लेविन, जी0एम0 : एन्शिएन्ट इण्डिया एण्ड सैन्ट्रल एशिशा, कलकत्ता, 1971
मौर्यन इण्डिया, नई दिल्ली, 1985

16. भण्डारकर डी0आर0 : सम आसपेक्ट्स ऑफ एन्शिएन्ट इण्डियन पोलिटी, वाराणसी, 1929

17. भारत कौमुदी : 2 भाग, इलाहाबाद, 1945–47

18. बार्नेट : एन्टिक्विटीज ऑफ इण्डिया

19. बैनर्जी, आर0डी0 : द एज ऑफ द एम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, 1940

20. बच्चोफर, एच0 : अर्ली इण्डियन स्कल्पचर

21. बाजपेई, के0डी0 : के0डी0 बाजपेई फेलीसिटेशन इन टू पार्ट्स

22. भारत कला भवन : छवि भाग 1 और 2

23. भट्टाचार्या, बी0सी0 : इण्डियन इमेजेज, कलकत्ता, 1954

24. भट्टाचार्या, एन0एस0 : जैन फिलॉसफी – हिस्टोरिकल आउटलाइन, 1976

25. बुल्हर : लॉज ऑफ मनु, 1886

26. चटोपाध्याय एस0 : बिम्बसार टु अशोक, कलकत्ता, 1977

27. चक्रवर्ती : एन्शिएन्ट इण्डियन कल्चर

28. दत्त एन0 : अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिस्म, वो0–I कलकत्ता 194, वो0–II, कलकत्ता, 1945

29. दत्त व बाजपेई : उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का इतिहास

30. दिवाकर, आर0आर0 : बिहार थ्रू दि एजिज, ओरिएन्ट बैगमैन, 1959

31. दास, रा0कृ0 : भारतीय चित्रकला, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

32. दास0 रा0कृ0 : भारतीय मूर्तिकला, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

33. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : प्राचीन भारत का कला विकास

34. दीक्षित, स0का0 : ग्वालियर संग्रहालय की मार्गदर्शिका (अंग्रेजी)

35. दानी, ए0एच0 : एण्ड गान्धार ग्रेव कल्चर, एन्शिएन्ट पाकिस्तान, III, 1967

36. दहेलिया, विद्या : अर्ली बुद्धिस्ट रॉक टेम्पिल, 1972

37. इलियट चार्ल्स : हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिस्म इन थ्री वोल्यूम्स

38. फिक : द सोशल ऑर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया

39. फरगुसन, जे0 : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इस्टर्न आर्कीटेक्चर, जॉन मुरै, लन्दन

40. गोयल, श्रीराम : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, जयपुर, 1982

41. गुप्त, प0ला0 : क्वायन्स, नई दिल्ली, 1969

42. ग्रियर्सन, जी0ए0 : द इस्क्रिप्शन ऑफ प्रियदर्शी

43. गुप्त, एस0पी0 : द रूट्स ऑफ इण्डियन आर्ट, नई दिल्ली, 1980

44. गोयल, एस0आर0 : ए. ए हिस्ट्री ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज, इलाहाबाद, 1967

बी. ए रिलीजियस हिस्ट्री ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया, वो0-I व II, मेरठ

सी. सोशल स्टक्चर एण्ड वेल्यूज इन लेट स्मृतीज

45. ज्ञानी, शिवदत्त : भारतीय संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

46. घोष, एन0एम0 : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद

47. गोपाल, एम0एच0 : मौर्यन पब्लिक फाइनेंस

48. गोखले : हिस्ट्री, कल्चर एण्ड एन्शिएन्ट इण्डिया

49. गजानन, माधव मुक्तिबोध : भारत इतिहास और संस्कृति

50. ग्रीसमेन, रोमन : द आर्ट्स ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया, न्यूयार्क, 1972

51. गोड, पी0के0 : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, I, होशियारपुर, 1961

52. गुप्त, पी0एन0 : गुप्त साम्राज्य, 1970

53. गौड़, आई0सी0 : द पेंटेड ग्रे वेयर एट अतरंजीखेड़ा–एन एसेसमेंट, पौटरीज इन एन्शिएन्ट इण्डिया, पटना

54. हॉपकिन्स, ई0डब्लू0 : द रिलीजन, ऑफ इण्डिया

55. हॉपकिन्स, ई0डब्लू0 : द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया, 1902
इण्डिया : ओल्ड एण्ड न्यू

56. हीरालाल मेहता : हिस्ट्री ऑफ जैन लिट्रेचर, वो0 II/

57. हार्डी, आर0एस0 : मैनुअल ऑफ बुद्धिस्म, 1860

58. हुमफ्रेसिस, सी0 : बुद्धिस्म

59. हैवेल, ई0बी0 : द हिस्ट्री ऑफ आर्यन् रूल इन इण्डिया

60. हैवेल, ई0बी0 : इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंग्स

61. हैरिंगम, लेडी : अजन्ता फ्रेसकोज

62. हिमॉयु कबीर : अवर हेरीटेज, द नेशनल इन्फोर्मेशन एण्ड पब्लीकेशन लिमिटेड, बम्बई

63. ईश्वर टोपा : अवर कल्चरल हैरीटेज

64. जैन, जे0सी0 : लाइफ इन एन्शिएन्ट इण्डिया, बम्बई, 1947

65. जैन, ही0रा0 : भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान

66. जैनी, जे0आर0 : आउट लाइन्स ऑफ जैनिस्म, कैम्ब्रिज, 1940

67. जायसवाल, के0पी0 : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (150 एडी टू 350 एडी)
इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया। हिन्दू पॉलिटी

68. जावेइउ डबरेउल : एन्शिएन्ट हिस्ट्री ऑफ दकन

69. जेकोबी, एच0 : जैन सूत्रास, ऑक्सफोर्ड, 1884–85
द मैटाफिजिक्स एण्ड एथिक्स ऑफ द जैनीज, 1908

70. जैनी, मानिक चन्द्र : लाइफ ऑफ महावीर, 1908

71. झावेरी, जे0एल0 : फर्स्ट प्रिन्सपल्स ऑफ जैन फिलॉसफी, 1912

72. जॉली, जे0 : द लॉज ऑफ मनु

73. जोशी, एम0सी0 : क्रोनोलॉजी ऑफ मथुरा–एन एसिसमेंट, पुरातत्व, नं010, 1978–79, 39–44

74. : एन्शिएन्ट इण्डिया, एन इन्ट्रोडक्टरी आउटलाइन, 1977

75. कनिंघम, ए0 : द एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, 1924

76. कर्न : मेनुअल ऑफ इण्डियन बुस्मि, 1898

77. काणे, पी0वी0 : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र इन थ्री वोल्यूम्स, पूना, 1930–46

78. कुमार स्वामी, ए0के0 : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट

79. कोशाम्बी, डी0डी0 : एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956

80. कलगी, ए0 : द रिगवेदा

81. कीथ, ए0बी0 : द रिलीजज एण्ड फिलॉसफी ऑफ द वेदास एण्ड उपनिषद्स बुद्धिस्ट फिलॉसफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन

82. कर्न : मेनुअल ऑफ इण्डियन बुस्सिज्म

83. क्रैमरिश, स्टैला : इण्डियन स्कल्पचर, लन्दन, 1933

84. कार, सी0 : क्लासीकल इण्डियन स्कल्पचर

85. कॉरिग्टन, के0डी0बी0 : एन्शिएन्ट इण्डियन

86. कोरोल्विन, फयोदोर : प्राचीन विश्व इतिहास का परिचय

87. कनिंघम, ए0 : क्वाइन्स ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया

88. खरे, गणेश हरी : मूर्ति विज्ञान (मराठी) पूना, 1936

89. कौशाम्बी, डी0डी0 : द कल्चरल एण्ड सिवलाइजेशन ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया, 1965

90. लॉ, बी0सी0 : बुद्धिष्टिक स्टडीज

91. लॉ, बी0सी0 : इण्डिया एन डिस्कराईबृड इन द अर्ली टेक्स्ट ऑफ बुद्धिस्म एण्ड जैनियन

92. लाथा, ए0बी0 : एन इन्ट्रोडक्शन टू जैनिज्म, 1905

93. लॉ, बी0सी0 : कानसेप्ट ऑफ बुद्धिज्म, 1960

94. लूनिया, बी0एन0 : इवोल्यूशन ऑफ इण्डियन कल्चर, लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, आगरा

95. लॉ, एन0आर0 : हिस्ट्री एण्ड कल्चर, ल्यूजैक एण्ड कार्पोरेशन, लन्दन

96. लियरमन्थ, ए0टी0ए0 : इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, तृ0भा0 लन्दन, 1967

97. लाल0 वी0वी0 : एक्सकेवेशन एट हस्तिनापुर एण्ड अदर एक्सपोलेशन इन द अपर गंगा एण्ड सतजल बोसिन्स 150–52, एन्शिएन्ट इण्डिया

98. लर्गे, पी0वी0 : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र –पाँच भागों में

99. मैकडोनेल, ए0ए0 : वैदिक मैथोलॉजी

100. मजूमदार, आर0सी0 : द वैदिक ऐज, 1955

101. मैक्स, मूलर : हैरीटेज ऑफ इण्डिया

102. मैक्स, मूलर : हिस्ट्री ऑफ एन्शिएन्ट संस्कृत लिटरेचर

103. मैक्स, मूलर : इण्डिय, व्हाट कैन इट टीच अस?

104. मुकर्जी, आर0के0 : हिन्दू सिवलाइजेशन

105. मोनियर, विलियमस् : रिलीजियन्स थोट एण्ड लाइफ इन इण्डिया

106. मोतीचन्द्र : जोगरेफिकल एण्ड इकोनोमिकल स्टडीज इन द महाभारतस्

107. मजूमदार, आर0सी0 : द ऐज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी

108. मनदालिक, वी0एन0 : मानव धर्म शास्त्र, 1886

109. मेहता, मोहनलाल : हिस्ट्री ऑफ जैन लिटरेचर, वोल्यूम- II/

110. मलालसेकर, जी0पी0 : इनसाइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म

111. मिकरिन्डिल, जे0डब्लू0 : एन्शिएन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लैसीकल लिटरेचर

112. मुकर्जी, आर0के0 : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल

113. मैकफेल, जे0एम0 : अशोक

114. मार्शल, सर जॉन : गाइड टू सांची

115. मुकर्जी, आर0के0 : प्राचीन भारत, इलाहाबाद, 1956

116. मार्शल, सर जॉन : ए गाइड टू तक्षशिला

117. मुकर्जी, बी0एन0 : स्टडीज इन कुषाण जेनलॉजी एण्ड क्रोनालॉजी, वो0-I, 1967

118. मुकर्जी, आर0के0 : गुप्त साम्राज्य

119. मजूदार, आर0सी0 : द क्लासिकल ऐज

120. मलिक, एस0सी0 : इण्डियन सिब्लाइजेशन, शिमला, 1908

121. मजूमदार, आर0सी0 : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, वो0-I

122. मार्गन, लुईस एच0 : एन्शिएन्ट सोसाइटी, न्यूयार्क, 1907

123. मिश्रा, शिवनन्दन : गुप्ताकालीन अभिलेखें से ज्ञात तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक दशा (1973)

124. मिराशी, वासुदेव विष्णु : सातवाहनों और पश्चिमी अजयों का इतिहास एवं अभिलेख, 1982

125. नीलकान्त शास्त्री, के0ए0 : द एज आयु द नन्दाज एण्ड मौर्याज

126. नारद थैरो : बुद्धिज्म इन ए नटशैल

127. ओलडन बर्ग : द इन्ट्रोडक्शन टू विनय टेक्स्टस

128. ओझा, रामप्रकाश : उत्तरी भारतीय अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, 1973

129. परगीटर, एफ0इ0 : एन्शिएन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन

130. पुरी, बी0एन0 : इण्डिया इन द टाइम ऑफ पतन्जलि

131. पाण्डे, चन्द्रभान : आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, 1963

132. पुरी, बी0एन0 : इण्डिया– अण्डर द कुषाण, 1965

133. पानीकर, के0एम0 : ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, नेशनल इन्फोरमेशन एण्ड पब्लीकेशनस् लिमिटेड, बम्बई

134. पर्सी, ब्राउन : इण्डियन पेंटिग, वाई0एम0सी0ए0 कलकत्ता

135. " " : इण्डियन आर्कीटेक्चर, 2 वो0, तारापुरवाला एण्ड सन्स, बम्बई

136. प्रभू, पी0एच0 : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, बम्बई, 1963

137. पाण्डे, राजबाली : इण्डियन पालाकोग्राफी

138. रेपसन : एन्शिएन्ट भारत

139. रिज डेविड्स,टी0डब्लू0 : बुद्धिस्ट इण्डिया, 1903

140. " " : बुद्धिज्म– इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर

141. रॉक हिल, डब्लू0डब्लू0 : लाइफ ऑफ बुद्ध

142. राविलिन्सन, जी0 : द फाइव ग्रेट मोनार्कीज ऑफ द एन्शिएन्ट इस्टर्न वर्ल्ड, वोल्यूम– ।।/

143. रामास्वामी, टी0एन0 : एसेन्शियलस् ऑफ इण्डियन स्टेटक्राफ्ट, 1962

144. राविलिन्सन, एच0जी0 : इण्डिया– ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री

145. " " : इण्डियन आर्ट

146. रेपसन, ई0जे0 : कैले टॉग ऑफ क्वान्स ऑफ आन्ध्राज

147. रिनौउ, लोउस : वैदिक इण्डिया, कलकत्ता, 1957

148. रॉलैण्ड, बैन्जामिन : द आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर ऑफ इण्डिया, 1953

149. रंधावा : द हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया, नई दिल्ली, 1981

150. रेनू : वैदिक इण्डिया

151. शाह, सी0जे0 : जैनिज्म एण्ड नार्दन इण्डिया, 1982

152. स्मिथ, वी0ए0 : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया

153. शास्त्री, के0ए0एन0 : द काम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वो0–III

154. सेन, अतुल चन्द्रा : अशोकाज् इडिक्ट, कलकत्ता, 1956

155. स्मिथ, वी0ए0 : अशोक, द बुद्धिस्ट एम्परर ऑफ इण्डिया

156. सरस्वती, एस0के0 : ए सर्वे ऑफ इण्डियन स्कल्पचर, 1957

157. स्मिथ, वी0ए0 : हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, 1930

158. स्पूनर, डी0बी0 : हैण्डबुक टू द स्कल्पचरस् इन द पेशावर म्यूजियम

159. सरकार, डी0सी0 : कापर क्वाइन्स ऑफ रामगुप्ताज्

160. स्मिथ, वी0ए0 : केटालॉग ऑफ क्वाइन्स इन इण्डियन म्यूजियम

161. सेलमन, चार्लीज़ : ग्रीक क्वाइन्स, लन्दन, 1933

162. सरकार, एस0पी0 : सम एस्पेक्टस ऑफ अर्लीएस्ट सोशल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया

163. शास्त्री, के0ए0एन0 : एज ऑफ द नन्दाज् एण्ड मौर्याज्, बनारस

164. शर्मा, आर0एस0 : मैटेरियल कल्चर एण्ड सोसल फार्मेशनस् इन एन्शिएन्ट इण्डिया, न्यू देहली, 1983

165. श्रीमाली, के0एम0 : वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित भारत, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1981

166. शाह, टी0एन0 : एन्शिएन्ट इण्डिया

167. शर्मा, रीता : प्राचीन भारत का इतिहास

168. सरकार, आर0सी0 : इण्डियन एपीग्रेफी

169. शर्मा, आर0के0 : मध्य प्रदेश के पुरातत्व का संदर्भ ग्रन्थ, म0प्र0 हिन्दी संदर्भ ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974

170. सिंह, एस0डी0 : एन्शिएन्ट इण्डियन वैलफेयर विद स्पेशल रिफरेन्स टू द वैदिक पीरियड, लियडिन, 1965

171. सांकलिया, एच0डी0 : प्राचीन भारत, 1978

न्यू आर्किलॉजी, 1974

172. शर्मा, गोबर्धनराय : कौशाम्बी

173. शर्मा, जी0आर0 : द एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, 1957

द डिफेसेज एंड द श्येनचति ऑफ द पुरूषमेधि, 1960

174. थापर, आर0 : अशोका एण्ड डिक्लाइन ऑफ द मौर्याज्

175. थॉमस, इ0जे0 : अर्ली बुद्धिस्ट स्कल्पचर, 1935

176. थापर, रोमिला : एन्शिएन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, दिल्ली, 1978

177. टर्नर, आर0डी0 : ए कम्परेटिव डिक्शनरी ऑफ द इण्डो आर्यन लैग्वेजिज

178. उपाध्याय, वी0 : गुप्त साम्राज्य का इतिहास (2 खंड), 1952–57

179. उपाध्याय, रामजी : भारत की प्राचीन संस्कृति

180. उपाध्याय, वी0एस0 : भारतीय कला का इतिहास

–भारतीय कला की भूमिका

181. उपाध्याय, वासुदेव : भारतीय सिक्के 1948

– प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, 1970

182. उपाध्याय, भगवतशरण : गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, 1969

183. वोगल, जे0पी0एच0 : बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया, सीलोन एण्ड जावा

184. व्हाइट हैड : इण्डो ग्रीक क्वाइन्स

185. " : कैटालॉग ऑफ क्वाइन्स इन पंजाब म्यूजियम

186. व्हीलर : अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, लन्दन, 1959

187. यजदानी, जी0 : द अर्ली हिस्ट्री ऑफ डिकन (1982) अजन्ता